॥ ब्रज का रास रंगमंच ॥

रामनारायण अग्रवाल

॥ पुरोवाक् ॥

पिछले दो दशक मे हमारे रगमच मे पारम्परिक नाट्य से रिश्ता जोडना और सर्जनात्मक काम के लिए उससे प्रेरणा लेने और सीखने का जो रुझान वढा है उसका असर हिंदी क्षेत्र के रगकर्मियो के अलावा अनेक अध्येताओ पर भी पडा है। वहुत कुछ इसी कारण हिंदी-भाषी क्षेत्र के ही नही देश के अन्य पारम्परिक नाट्यरूपो के वारे मे भी सामग्री हिंदी पत्र-पत्रिकाओ मे और पुस्तकाकार प्रकाशित होने लगी है। इसमे जगदीशचन्द्र माथुर, श्याम परमार, सुरेश अवस्थी, देवीलाल सामर, महेन्द्र भानावत के ग्रथो-लेखो तथा भारतीय लोक कला मडल से प्रकाशित राजस्थानी नाट्य-रूपो पर पुस्तिकाओ के अलावा रामनारायण अग्रवाल का **सांगीत: एक लोक-नाट्य परम्परा** और इदुजा अवस्थी का **रामलीला, परम्परा और शैलियां** जैसे विशेष अध्ययनमूलक ग्रथ भी शामिल है।

इसी तरह व्रज-क्षेत्र के एक अन्य महत्त्वपूर्ण नाट्य-रूप रास की ओर भी अध्येताओ का ध्यान गया। अभी तक रास के वारे मे शर्मनलाल अग्रवाल की १९५९ मे प्रकाशित पुस्तिका **ब्रज की रासलीला** और प्रभुदयाल मीतल के ग्रथो मे रासलीला-सवधी कुछ अध्यायो के अलावा कुछ छिटपुट लेख ही उपलव्ध थे। इसलिए यह खुशी की वात है कि हाल ही मे सगीत नाटक अकादेमी द्वारा वसत यामदग्नि का **रासलीला तथा रासानुकरण विकास** ग्रथ प्रकाशित हुआ है और अव यह रामनारायण अग्रवाल का **ब्रज का रास रंगमंच** आपके सामने है। रासलीला के अध्ययन मे यह वढती हुई रुचि वडी महत्त्वपूर्ण है और हिंदी रंगमच के विकास की एक नयी दिशा या उसकी सभावना का सकेत देती है।

सस्कृत रगमच के विघटन के वाद मध्य युग मे भक्ति आन्दोलन के फल-स्वरूप, देश मे नाट्य परम्परा का जो दूसरा चरण शुरू हुआ उसमे उभरने वाले नाट्य-रूपो मे, विशेषकर हिंदी-भाषी क्षेत्र मे, रासलीला कई दृष्टियो से महत्त्व-पूर्ण है। एक तो इसीलिए कि कई प्रकार के परिवर्तनो और उतार-चढाव के बावजूद, वह आज तक प्रभावी रूप मे जीवत रहा आया है और भक्ति-भावना से आज भी सीधे जुडे रहने के कारण उसके रूप मे होने वाले परिवर्तन वहुत वुनियादी या भ्रष्ट नही हुए हैं। दूसरे, उसमे हमारी पारस्परिक नाट्य-दृष्टि

की कुछ ऐसी विशेषताए मौजूद है जो अपने आपमे अत्यंत कल्पनाशील, सौदर्य-पूर्ण सप्रेषण-सक्षम तो है ही, हमारे आज के रगकार्य के लिए भी, विशेषकर पश्चिमी रगदृष्टि और व्यवहार के अनुकरण से छूटकर अपनी मौलिक आत्मीय नाट्यशैली के विकास के लिए, वहुत प्रासंगिक और सार्थक है।

नाट्य-रूप की दृष्टि से रासलीला मे एक विशेष प्रकार के दैनन्दिन अनुभव और कल्पनाशीलता, प्रगीतात्मकता तथा फँटेसी का वडा मनोहारी मिश्रण है जो वडी सहजता और खुलेपन से, नृत्य, संगीत, गायन, काव्य, गद्य सवाद, मुखाभिनय और अभिनटन के साथ-साथ देश-काल के नाट्यधर्मी कल्पनामूलक निर्वहण तथा आकर्षक वेशभूषा तथा झाकियो द्वारा कलापूर्ण दृश्यात्मकता को सजोये रहता है। साथ ही यह सतही मनोरंजनमूलक नाट्य नही है, वल्कि एक विशेष युग की सार्थक जीवन-दृष्टि को गहरे आवेगपूर्ण अनुभव के माध्यम से सप्रेषित करता है।

रासलीला की ये सभी विशेषताए हमारे आज के रगकार्य के लिए, रग-कर्मियो और दर्शको दोनो की दृष्टि से, नया रास्ता खोल सकती है—रासलीला जैसी रचनाओ की पुनरावृत्ति या उनके अनुकरण द्वारा नही, वल्कि उसकी दृष्टि और पद्धतियो के सर्जनात्मक अन्वेषण और प्रयोग द्वारा। इस दृष्टि से रास-लीला के प्रदर्शनो के साथ-साथ, उसके प्रयोग और सिद्धात, वर्तमान स्थिति और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य—सभी से हिंदीभाषी रगजगत को अधिक से अधिक साक्षात्कार, परिचय या गहरी जानकारी होना जरूरी है। दुर्भाग्यवश, रासलीला के पूरी तरह धार्मिक नाट्य-रूप होने के कारण आधुनिक रगकर्मियो के वीच वह उपेक्षित ही रह जाता है और वे सामान्यतया उसकी ओर आकर्षित नही हो पाते।

इस दृष्टि से रग-संस्थाओ द्वारा रासलीला प्रदर्शनो के अधिक व्यापक आयोजनो के अलावा उसके बारे मे प्रामाणिक परिचयात्मक और विश्लेपणा-त्मक लिखित सामग्री की भी वडी जरूरत है जो रासलीला के ऐतिहासिक विकास के परिचय से भी अधिक नाट्य-रूप की दृष्टि से उसकी प्रयोग-सबधी विशेपताओ का, उनकी सुदरता, मनोहारिता और नाटकीयता का, विश्वसनीय विवरण-विश्लेपण प्रस्तुत कर सके।

श्री रामनारायण अग्रवाल का प्रस्तुत ग्रंथ इस जरूरत को पूरा करने की दिशा मे एक सराहनीय और महत्त्वपूर्ण प्रयास है। रामनारायण जी को अपनी जन्मभूमि मथुरा मे शुरू से ही व्रज के नाट्यो का सस्कार मिला है। वे स्वयं उनमे कई रूपो मे सक्रिय हिस्सा लेते रहे है, और उन्होने अनेक कलाकारो के साथ निजी सम्पर्क तथा परिश्रमपूर्वक अध्ययन-मनन के द्वारा अपनी जानकारी को पुष्ट और संवर्द्धित किया है। यह उनके पहले ग्रंथ **सांगीत : एक लोक-नाट्य**

परम्परा से भी जाहिर है जो ब्रज क्षेत्र के ही एक अन्य अनोखे, सर्वथा गेय नाट्यरूप स्वाग, सागीत, नौटकी, भगत का अकेला प्रामाणिक और विस्तृत अध्ययन है। इस प्रकार रासलीला के विकास और वर्तमान स्वरूप को ब्रज के नाट्यो की व्यापक परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे देख सकना उनके लिए सहज ही सभव हो सका है।

रासलीला-जैसे धार्मिक नाट्य के अनुशीलन या अध्ययन मे किसी धार्मिक प्रेरणा की प्रमुखता और स्वय अध्येता के किसी सकुचित धर्म-भावना से अनुशासित रहने की सदा ही आशका रहती है। ऐसी स्थिति मे अनेकानेक धार्मिक मान्यताओ, अलौकिक घटनाओ, किंवदतियो के अरण्य मे से कोई विश्वसनीय तथ्यात्मक विवरण, उनका तटस्थ विश्लेषण प्रस्तुत कर पाना और उनमे बदलाव के वस्तुनिष्ठ आधारभूत सूत्र देख पाना अक्सर मुश्किल हो जाता है। एक ब्रज-वासी, मथुरावासी कृष्णभक्त होने के बावजूद, रामनारायण जी ने यथासभव पूर्वग्रहमुक्त होकर और तर्कसगत दृष्टि से अपने तथ्यो और निष्कर्षो को प्रस्तुत किया है और रासलीला से जुडे हुए अनेक कृष्ण-भक्तिमूलक सम्प्रदायो की परिधि के भीतर अपने आप को बद नही होने दिया है, जैसा इस कथन से भी जाहिर होता है

> 'वास्तव मे रास रगमच ब्रज के किसी एक व्यक्ति विशेष या एक सम्प्रदाय विशेष की देन नही कहा जा सकता, यह साम्प्रदायिकता की परिधि से ऊपर ब्रज-भक्ति-आन्दोलन की समवेत रागात्मक और कलात्मक उपलब्धि थी, जिसे सभी सम्प्रदायो, आचार्यो और भक्त कवियो ने कुछ-न-कुछ दिया और उसके विकास से वे स्वय भी विकसित हुए।' (पृ० ९६)

यह दृष्टि अन्य अनेक स्थलो पर भी दिखाई पडती है जो उनके निष्कर्षो को अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय बनाती है।

मगर इस ग्रथ की मुख्य उपलब्धि है इसमे एक आकर्षक नाट्य के रूप मे रासलीला की विशेषताओ का उद्घाटन और उसके मचीय पक्ष पर प्रमुख तथा विशेष बल। ग्रथ दो खडो मे विभाजित है। पहला खड छोटा है जिसमे रास की प्रागैतिहासिक पौराणिक, ऐतिहासिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ, उसकी नृत्य परम्परा का तथा रासक परम्पराओ और उनके बीच परस्पर सबध का विवेचन है। आकार मे बडा, मुख्य और रगकर्म की दृष्टि से अधिक महत्त्व-पूर्ण दूसरा खड ही है, जिसमे रास के विभिन्न नाट्य-विषयक पक्षो को प्रस्तुत किया गया है। इस खड के विवेचन मे विभिन्न प्रसगो मे उठने वाले प्रश्नो के उत्तर भी लेखक ने रगमचीय दृष्टि से खोजने की कोशिश की है। एक जगह वे कहते है—"इस प्रकार रास के लीला नाटको की यह विशेषता है कि यहा

रास के सचालक लेखक के अनुगामी वनकर उनकी रचना के प्रदर्शनकर्ता वन-कर नही, वरन् आरंभ से ही मच के प्रति आस्थावान रहकर चले और मच की आवश्यकतानुसार उन्होने कवियो की लीलाओ तथा लीला के स्फुट पदो मे लीला-नाटक की सामग्री का अपने विवेक से स्वय चयन किया ।"

(पृ० १६६-६७)

एक अन्य स्थान पर श्री प्रभुदयाल मीतल के एक कथन के सवंध मे उनकी टिप्पणी है · "मीतल जी ने वास्तव मे साहित्य की कसौटी पर कसकर यह मत व्यक्त किया है, परंतु उक्त लीलाओ के लिए यह कसौटी ठीक नही है। ये लीलाएं श्रव्य-काव्य नही दृश्य-काव्य है। यही कारण है कि इनके सवादो का प्रवाह तथा इनका वाक्छल और छद्म, नाटकीय स्थिति के विकास का महत्त्व-पूर्ण माध्यम वनकर मच पर प्रभावी चरम सीमा का निर्माण करते है। मीतल जी ने इन लीलाओ का पद्याश पढकर ही उन्हे इतिवृत्तात्मक कहा है, परतु जव रास के (गद्य) सवादो के साथ जुडकर ये लीलाए रास मे मचित होती हैं तो कोई भी उन्हे इतिवृत्तात्मक नही कह सकता। उस समय वीच-वीच मे गाये जाने वाले ये छोटे-छोटे पद्याश नाटक की शिथिलता से रक्षा करने की अपूर्व क्षमता प्रदर्शित करते है।" (पृ० २२३-२४)।

यह प्रसन्नता की वात है कि ग्रथ मे प्राय. सभी जगह रामनारायण जी अपने विषय मे यह नाट्य-दृष्टि वनाये रख सके है जिसके कारण यह रगकर्मियो के लिए विशेष रूप से उपयोगी वन सका है और हिंदी मे पारम्परिक नाट्यो के अध्ययन मे एक मूल्यवान कडी जोड़ता है। दूसरे खड की सारी सामग्री, विशेष-कर रास का मचीय स्वरूप, रास का नृत्य-सगीत, रासमच और अभिनय, रास का रगमच, मचीय उपकरण और दृश्य-विधान आदि अध्याय इस अनोखे नाट्य-रूप के प्रयोग पक्ष की कुछ वुनियादी वातो की विस्तृत जानकारी देते है। इसके अतिरिक्त रास के विपुल लीला साहित्य का रगमचीय सार्थकता की दृष्टि से विवेचन, प्रमुख रासधारियो और रासमंडलियो का परिचय, रास का साहित्य तथा अन्य ललित कलाओ पर प्रभाव तथा रास रगमच की वर्तमान समस्याओ की चर्चा के द्वारा लेखक ने ग्रथ को आज के रंगकर्मी के लिए अधिकाधिक उपयोगी वनाने की पूरी कोशिश की है।

यह सच है कि रामनारायण जी के वुनियादी सस्कार साहित्यिक ही अधिक हैं और समकालीन रगकर्म से उनका सवध वहुत सक्रिय नही है। इस कारण तमाम सजगता के वावजूद कई वार उनका मन साहित्यिक पक्षो मे सहज ही रमता है। जैसे, दूसरे खड के 'रास का लीला साहित्य' अध्याय मे रास मे काम मे आनेवाले लीलानाटको तथा काव्यादि का विवेचन करने के वाद 'रासमच और अभिनय' अध्याय मे वे फिर अनेक लीलाओ के विस्तृत विवरण मे उलझ

जाते है। या कि लीला नाटको का विश्लेषण भी वे कार्य-व्यापार के आधार पर करने की बजाय प्राय साहित्यिक रचना के रूप मे ही अधिक करते है।

इसी तरह रास रगमच मे सगीत, नृत्य की नाट्यमूलक उपयुक्तता या सार्थकता की, अथवा अभिनय के रूप, शैली और उसके विभिन्न पक्षो की, या कि प्रदर्शन मे विभिन्न रूढियो, व्यवहारो, युक्तियो की नाटकीय सार्थकता या उनके प्रभाव की, और भी सूक्ष्मता से चर्चा हो सकती थी। यह भी सभव है और शायद आवश्यक भी कि रास के नाट्य-रूप की और उसके विशेष व्यवहारो की देश के अन्य मिलते-जुलते अथवा भिन्न प्रकार से विकसित, पारपरिक नाट्यो के साथ मिलाकर एक समग्र सदर्भ मे जाच-पडताल की जाय।

इसी तरह रामनारायण जी की स्थापना कि रास के सगीत मे शास्त्रीय सगीत की राग पद्धति के साथ-साथ लोक संगीत का समावेश उसकी कलात्मकता मे गिरावट की दिशा-सूचक है एक प्रकार अति-शुद्धतावादी दृष्टिकोण को प्रकट करती है, रास के नृत्य और कत्थक नृत्य के सबध मे उनकी धारणा किसी हद तक विवादास्पद है। ये तथा ऐसी कई अन्य मान्यताए सरलीकरण से बचकर अधिक सूक्ष्म विवेचन तथा सगीत-नृत्य आदि कलाओ के अपने अलग इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे देखे जाने की अपेक्षा रखती हैं।

मगर इन बातो के बावजूद, इसमे कोई सदेह नही कि रामनारायण जी का विवेचन अपने आप मे बहुत सुलझा हुआ और उपयोगी है जो रास रगमच तथा हमारे सारे पारपरिक नाट्यो के बारे मे हमारी जानकारी को समृद्ध करता और आगे ले जाता है। साथ ही वह और भी सूक्ष्म तथा व्यापक अध्ययन के लिए आगे रास्ता खोलता है। मेरी राय मे रासलीला मे हिंदीभाषी रगसृष्टि के लिए, मौलिक हिंदी नाट्यरूप के अन्वेषण के लिए, बहुत उत्तेजक सभावनाए मौजूद हैं जिनकी ओर अभी तक हमारा बहुत कम ध्यान गया है। इस ग्रथ की प्रेरणा से अगर हिंदीभाषी रगकर्मियो की रुचि रासलीला नाट्य की ओर थोडी बहुत भी बढ सकी तो यह हिंदी-रगमच के लिए बडी सार्थक दिशा साबित हो सकती है।

मुझे आशा है कि इस ग्रथ का रगमचीय अध्ययन के क्षेत्र मे ही नही, सामान्य पर जिज्ञासावान रगकर्मियो के बीच भी हार्दिक स्वागत होगा तथा इसका साफ-सुथरा विवेचन और भी अध्येताओ और स्वय रचनाकारो को रास रगमंच मे अधिक सक्रिय और गहरी दिलचस्पी के लिए उकसायेगा।

नयी दिल्ली २१ मार्च, १९८१

— नेमिचंद्र जैन

॥ आत्म-निवेदन ॥

नाटको की भूमि भारत मे प्रागैतिहासिक काल मे जो नृत्य व नाट्य परंपराए प्रसिद्ध और लोकप्रिय थी उनमे रास का विशिष्ट स्थान है । आभीरो के लोक-नृत्य हल्लीश या हल्लीसक नृत्य से नटनागर कृष्ण द्वारा रास का उदय हुआ और तब से आज तक विभिन्न कालो मे विभिन्न रूपो मे यह परपरा निरतर जीवित व जाग्रत रही है यह इसकी सबसे बडी विशेषता है । इसका एक प्रमुख कारण कदाचित् इसका सदा ही लोक-मानस से जुडा रहना रहा है । लक्षण ग्रथो से पता चलता है कि विभिन्न कालो मे रास विभिन्न रूप धारण करता रहा है । प्रस्तुत ग्रथ मे हमने इस परपरा मे इन्ही विभिन्न बिखरे हुए सूत्रो को जोडकर रास के उदय और विकास का एक विहगावलोकन करने और वर्तमान रास के नाटकीय रूप का अध्ययन करने का प्रयत्न इस ग्रथ मे करने की चेष्टा की है ।

रास का वर्तमान ढाचा मध्यकालीन है । भक्ति आदोलन को प्राणवान बनाने के लिए भक्ताचार्यो तथा तत्कालीन कलाकारो के सयुक्त प्रयास से इसका वर्तमान स्वरूप खडा हुआ था । इस प्रकार १६वी शताब्दी से भारतीय स्वतत्रता के आगमन तक रास भारत मे भक्तिरस से परिपूर्ण ब्रजभाषा का खुला मच रहा है जो भक्त-समाज, वैष्णव मदिरो, राजदरबारो जैसे विशेष वर्ग को अलौकिक आनद प्रदान करने का माध्यम था । वृन्दावन के अनेक देशी रजवाडो के मदिरो के खुले मच या प्रागणो मे तब प्रतिदिन रास होते थे तथा भावुक ब्रजयात्री यहा आकर राधा-कृष्ण के नूपुरो की मधुर ध्वनि को सुनकर अपना जीवन सार्थक मानते थे । उस समय रियासतो के इन मदिरो से कई रास मडलियो का सरक्षण होता था । भक्तो के निमत्रण पर ब्रज से बाहर जाकर भी रासधारी अपनी कला का प्रदर्शन करते थे ।

स्वतंत्रता के बाद देशी राज्यो के उठ जाने से वृन्दावन के मदिरो की आय के साधन सीमित रह गये और रासधारियो को मदिरो से मिलने वाली वृत्ति समाप्त हो गई । महंगाई भी इस बीच निरंतर बढी । फल यह हुआ कि रास-धारियो ने भक्त समाज के बाहर भी जनसाधारण मे आय के स्रोत खोजना

प्रारभ किया । स्वामी हरिगोविन्द जी ने सर्वप्रथम जनरुचि को रास की ओर आकर्षित करने के लिए विशाल मच बनाकर रास को आगे-पीछे पर्दो से सजाया, बीच मे सिंहासन के आगे रग-बिरगी कुजे लटकायी तथा रास के मार्मिक प्रसगो को उभारने के लिए बीच-बीच मे झाकी बनाना प्रारंभ किया । इस परपरा को धीरे-धीरे बड़ी-बडी मडलियो ने भी अपना लिया क्योकि इससे रास का बाह्याकर्षण बढ़ा है । जहा पहले रसिक भक्त ही रास के दर्शक होते थे वहा अब रास मे हजारो की भीड जमा हो जाती है । स्त्री समाज तथा उन व्यौपारी भक्तो का अब रास दर्शको मे प्राधान्य हो गया है जिनकी सवृद्धि वर्तमान काल मे अधिकाधिक बढी है । इस प्रकार रास का यह मच आज अपना सात्विक अनौपचारिक खुला मचीय स्वरूप छोडकर अधिक औपचारिक और राजसी होता जा रहा है तथा पर्दो के भार से दबकर पारसी मच की नकल बनता जा रहा है । दर्शको की न्यौछावर (चढावा) ही आज रासधारियो की आय का प्रमुख साधन बन गई है । स्वतत्रता के बाद रास मे जहा कलात्मकता का ह्रास हुआ है वहा ऊपरी चमक-दमक बहुत बढी है ।

हाल ही मे हमारे मित्र डा० नार्विन हाइन, राजकीय सग्रहालय की एक विचार गोष्ठी मे अमरीका से पधारे थे । सन् १९५१-५२ मे वे पहले भी ब्रज रगमच के पारपरिक रूपो के अध्ययन हेतु भारत पधारे थे और तब रास पर भी इन्होने शोध कार्य किया था । इनका प्रसिद्ध ग्रथ 'दि मिरेकिल प्लेज आफ मथुरा' अग्रेज़ी मे इस विषय का अनुपम ग्रथ है । इस बार जब श्री हाइन ने जन्म-भूमि पर रास देखा तो वे आश्चर्यचकित रह गये । वे हमसे पूछने लगे, "क्या यह रास का नवीन विकास है । रास तो अब पारसी स्टेज का ड्रामा-सा लग रहा है । ब्रजभाषा का मीठापन भी अब इन माइको मे दब-सा गया है । हमने पहले जो रास देखे थे अब यह वह नही रहा ।"

यहा यह सब लिखने का तात्पर्य केवल यही है कि रास अपनी कृष्ण काल से आज तक की लंबी दीर्घजीवी परपरा मे अब तक अनेक प्रयोगो के मध्य से विकास और ह्रास की न जाने कितनी मजिल पार कर चुका है, जिसका सही लेखा-जोखा कठिन काम है । यह ग्रथ इसी दिशा मे एक प्रयत्न मात्र है ।

हमने इसी दृष्टि से अत्यंत संक्षेप मे पुराण-ग्रथो तथा लक्षण-ग्रथो के आधार पर रास के उदय और विकास का विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । अनावश्यक विस्तार को बचाने के लिए हमने उन अनेक ग्रथो और विवरणो के साथ-साथ आधुनिक विद्वानो के ऐसे उल्लेखो को भी इस ग्रंथ मे उद्धृत नही किया है जिनसे हमारे उक्त उद्देश्य की पूर्ति मे सहायता नही मिल रही थी । आशा है इसे हमारी धृष्टता नही समझा जायेगा । हमने साहित्य मे उपलब्ध रास के नृत्यपरक सहस्रो पदो या उन कृष्ण लीलाओ का उल्लेख और

गमलीलाओ के काव्यगत सौन्दर्य आदि पर भी साहित्यिक दृष्टिकोण से विचार नही किया। ब्रज साहित्य मे कृष्ण लीलाओ की भरमार है। उदाहरण के लिए, लीलाओ के नाम से ध्रुवदास जी ने ४२, वशी अलि जी ने २४ तथा नागरीदाम जी ने (श्याम सगाई, राजवैद्य, दान लीला आदि), वृन्दावन देव जी ने (दान लीला आदि), नारायण स्वामी जी, रगीलाल जी जैसे अनेक कवियो ने विस्तार मे अनेक कृष्णलीलाए रची है। ललित किशोरी जी की 'रस-कलिका' तो कृष्ण-लीलाओ का ही वृहत ग्रथ है, परतु इस विपुल कृष्ण लीला साहित्य की विवेचना भी हमने इस ग्रथ मे नही की हे। ग्रथ मे केवल हमने उन्ही लीलाओ को महत्त्व दिया है जो वास्तव मे रासमच द्वारा सर्वमान्य है। आजकल के रासधारियो द्वारा रचित वे लीलाए भी इस ग्रंथ मे चर्चित नही हुई हैं जो केवल उन्ही की मंडली मे प्रयोगावस्था मे हैं।

रासमच पर समय-समय पर कुछ मडलिया सदा नवीन प्रयोग करती रही हैं। उदाहरण के लिए अपने समय मे राधा कुड के गिरिवर नदन रासधारी ने पुराणकालीन भक्तों ध्रुव, प्रहलाद, आदि की पच्चीसो लीलाए स्वय रची थी, जिन्हे मथुरा के घासीराम बुकसेलर ने छापा था। ये मब लीलाए गिरवर-नदन की मडली वडे रस से करती थी, परतु उन लीलाओ की समाप्ति उन्ही की मडली के साथ हो गई, रासधारियो ने उन्हे नही अपनाया। आज भी कुछ ऐमी मडलिया विद्यमान हैं जो 'भक्तमाल' मे वर्णित भक्तो की लीलाएं करती हैं जैसे नरसी भगत, दयावाई सहजोवाई आदि। गौडीय प्रभाव से स्वामी रामस्वरूप जी ने भी 'भक्तमाल' की लीलाओ के साथ 'काकमाल' जैसी लीलाए करना प्रारभ किया है, परतु रासमच पर ऐसे अस्थायी प्रयोग सदा होते रहे हैं जो किसी एक या दो मडली या मडलियो तक ही सीमित रहते है अत हमने इन प्रयोगो की चर्चा करके ग्रथ के अनावश्यक विस्तार को वचाया है।

ब्रज कला केन्द्र के अतर्गत जव हमने स्वय 'ब्रज लीला मच' के नाम से रास मडली स्थापित की थी तव सूर और वल्लभ पचशती के उपलक्ष्य मे हमने स्वय महाप्रभु वल्लभाचार्य और सूरदास जी की जीवनी पर कुछ लीलाए लिखी थी, जो वडी सफलता से मचित हुई। उसी समय सूर के पदो को आधार मान कर सूर के काव्य मे अपनी तुकवदी जोडकर हमने 'कुरुक्षेत्र मे श्याम-श्यामा मिलन लीला' भी लिखी थी जिसकी वडी धूम रही। हमारे ब्रजभाषा खडकाव्य 'कवरी' के आधार पर स्वामी फतेहराम रासधारी ने 'कुब्जा लीला' करना भी प्रारभ किया है जिसे वे तीन दिन मे पूरी करते है। इसके वाद स्वामी मोहनलाल वल्लभलाल जी ने ४० दिन की 'महाप्रभु वल्लभाचार्य लीला' तैयार की तथा स्वामी रामस्वरूप जी तथा स्वामी हरिगोविन्द जी ने हमारी लिखी 'कुरुक्षेत्र मे श्याम-श्यामा मिलन लीला' तथा वल्लभ लीला व सूरदास लीलाएं स्थायी रूप

ने करना प्रारभ कर दिया है। परतु हमने इन लीलाओ पर भी इस ग्रथ मे विस्तार से विचार नही किया क्योकि वे लीलाए भी अभी कुछ विशेप मडलियो तक ही सीमित है। इसी प्रकार हित हरिवशाचार्य की पचशती के अवसर पर उनकी जीवनी पर लीलाए तथा प्रियाशरण जी अग्रवाल का 'हित हरिवश चरित नाटक' भी वृन्दावन मे धूम से हुआ था। यह सव सीमित प्रयास है। इन्हे अभी रासमंच का सर्वागीण समर्थन प्राप्त नही है। इसका कारण यही है कि १६वी शताव्दी के महात्माओ ने रासमच को केवल कृष्ण की व्रजलीलाओ के मच के रूप मे पुनर्गठित किया था और जनमानस मे रास का वही रूप सर्वग्राह्य है।

इसी प्रकार रास के प्रारभ मे जो 'नित्यरास' होता है उसमे नाचे जाने वाले नृत्य 'नृत्त' है या 'नृत्य' यह भी एक विवादास्पद प्रसग है। कुछ विद्वान उन्हे नृत्य मानते है और कुछ नृत्त, परतु रासधारी समाज 'नृत्य' शब्द से ही परिचित है अत हमने भी इस ग्रथ मे 'नृत्त' शब्द का प्रयोग रास-नृत्यो के लिए नही किया है। हमारा निवेदन है कि विना शास्त्रीय ज्ञान के केवल परपरा पर ही जीवित रहने वाला नृत्य भी कालान्तर मे नृत्त वन सकता है, और यदि किसी कुशल नृत्यकार के हाथ मे कोई नृत्त पड जाये तो वह उसे ही अपनी प्रतिभा से नृत्य वना सकता है। १६वी शताव्दी मे रास के वर्तमान नृत्यो का स्वरूप वल्लभ नामक जिस कलाकार ने खडा किया था वह अपने युग का वहुत प्रसिद्ध नृत्यकार था और उसने रास मे जिस परपरा का समायोजन किया था उसे तब नृत्य ही कहा गया था, अत हमने भी रास के नृत्यो को नृत्य ही कहा है, परतु उन्हे यदि कोई नृत्त कहना चाहे तो हमे उसमे भी कोई आपत्ति नही है।

इसी प्रकार कुछ महानुभाव रास की नृत्य मुद्राओ मे नाट्यशास्त्र की मुद्राओ को खोज कर उसके आधार पर उन मुद्राओ का नामकरण और विवेचन करने की चेष्टा करते है। नाट्यशास्त्र मे नृत्य की मुद्राओ का जो विस्तृत कथन है उन मुद्राओ को तो रास ही क्या भारत के किसी भी परपरागत नृत्य मे खोजा जा सकता है। अत, हमने रास के नृत्यो की मुद्राओ को नाट्यशास्त्र मे खोजने का प्रयत्न न करके केवल रासधारियो की उन्ही मुद्राओ के नाम ग्रथ मे उद्धृत किये है जिनके नाम वे जानते है या जो उन्होने वतलाये है। इसी प्रकार प्राचीन हल्लीसक परपरा और रास के प्राचीन विवरणो के आधार पर हमने हल्लीसक और रास का अतर भी अपनी वुद्धि के अनुसार निरूपित करने की चेष्टा की है। हम इस कार्य मे कहा तक सफल हुए है यह विचारना विद्वानो का ही कार्य है।

प्राचीन परपरा के सामान्य ऐतिहासिक परिचय के साथ हमने रास के वर्तमान स्वरूप का विस्तृत विवरण तथा नाटकीय अध्ययन इस ग्रथ मे प्रस्तुत

किया है जो पद्रहवी-सोलहवी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण कलात्मक थाती है। वर्तमान रासमच लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की माधुर्यमयी व्रज लीलाओ का और व्रजभाषा का एकमात्र मच है, जो पूरे देश की आस्था और आकर्षण का केन्द्र रहा है। साथ ही यह विदेशी दर्शको के भी आकर्षण का भाजन रहा है। विगत शताब्दी के ऐसे कुछ साक्ष्य उपलब्ध है जब विदेशी दर्शको को राजदरबारो के माध्यम से रास के दर्शक बनने का अवसर मिला था।

जेम्स टाट ने इन्दौर नरेश के यहा रास का प्रदर्शन देखा था जिनका वर्णन उन्होने अपने ग्रथ 'द एनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान' मे, जो सन् १८२९ मे प्रकाशित हुआ था, किया है। वे लिखते है—

"उन पात्रो के जो कृष्ण तथा उनके सखा और सखियो का अभिनय करते है भावगीत अत्यत प्रभावपूर्ण होते है, उनके कथोपकथन अत्यत हृदयस्पर्शी है। मथुरा वृ दावन के चौबे (ब्राह्मणो से अभिप्राय है) सगीत विद्या मे पारंगत है। इन गायक अभिनेताओ की करुणार्द्र स्वरलहरियो मे जब भक्त हृदयो का आनद-रस सम्मिलित हो जाता है, तो मुरली के स्वर मे यह राग अत्यत आह्लादकारी प्रतीत होते हैं।"

अपने स्वय देखे रास प्रदर्शन का विवरण देते हुए टाट आगे लिखते हैं—

"रासधारियो का सगीत और नृत्य दोनो साधारण कलाकारो मे उत्कृष्ट थे। उनके हाव-भाव आकर्षक थे और उनका स्वर स्वाभाविकता का अतिक्रमण नही करता था। उनका परिधान रुचिपूर्ण और समुचित था। विशेष रूप से कन्हैया जिनके सिर पर सूर्यकात मणि थी, गले मे रत्नो की माला थी, अत्यत भव्य लग रहे थे। समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने थे, महाराजा के भडार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरात कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओ का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और सयत हुआ कि इतने छोटे बालको मे वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पडी। रासधारियो के साथ जितने वादक और बालक थे—सभी ब्राह्मण थे और यह अत्यत आनद का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरात उनमे से प्रत्येक राजा के सम्मुख विनत होने के स्थान पर एक-एक करके महाराज के सामने आया और अपने छोटे-छोटे हाथ उठाकर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए उनके सम्मुख विनत हुए।"

माधौ जी सिंधिया भी रास के बडे भक्त थे। उनके यहा ब्रिटिश रेजीडेंट के प्रधान अगरक्षक टामस ड्रू एर ब्रोटन ने सन् १८०९ मे जन्माष्टमी पर रास का प्रदर्शन देखा था, जिसका वर्णन उनके बनाये एक सुदर रास प्रदर्शन के चित्र के साथ 'लैटर्स रिटिन इन ए मरहठा कम्प ड्यूटिग दि इयर १८०९' मे मिलता है। रासोत्सव का वर्णन करते हुए वे लिखते है—

"जिस शामयाने मे हमे बैठाया गया था, वह १५० फुट लबा था, सामने दो फुट ऊचा मच था, इसकी शिविकाये और स्तभ भली प्रकार चित्र वेष्टित थे, इसे सिहासन कहते है। इसके मध्य मे फूलडोल था। फूलडोल मे पुष्पहीरक रत्न ओर बहुमूल्य मणिया सुसज्जित थी। पुष्पगुच्छ, फूलमालाये, फूलडोल मे विहसते हुए बालगोविन्द को झुला रही थी।"

रासधारियो के कला प्रदर्शन के सबध मे उनका कथन है कि—

"एक या दो नृत्य के उपरांत रासधारी जो सामने की ओर एक ऊचे मच पर बैठे थे और जिनके चारो ओर चोबदारो, चौरीवर्दारो तथा अन्य सेवको का समूह था, आगे-आगे उनमे जो तरुण किशोर था वह कन्हैया के रूप मे था। कन्हैया, कृष्ण का ब्रज का और बाललीला का नाम है। सबसे छोटा किशोर कन्हैया की प्रेयसी राधिका बना था। रास वले (समूह नृत्य) के सामने हुआ, उसमे प्रेम-भावना और चाचल्य का प्रादुर्भाव था, किन्तु सब कुछ रोचक और दिव्य था। गोपियो के साथ गोकुल की बालाओ के साथ, ब्रजभाषा मे (जो ब्रज प्रात मे बोली जाती है) गायन हुआ।"

प्रसिद्ध अग्रेज विद्वान ग्राउस ने जो मथुरा के जिलाधिकारी भी रहे थे अपने ग्रथ 'मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर' मे (जो सन् १८७४ मे छपा था) रास का वर्णन किया है। वे लिखते है कि—

"रास एक अलिखित धार्मिक रूपक है, जिसमे कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटना अभिनीत होती है। यह मध्यकालीन योरुप के 'मिरेकिल प्लेज' के समान है। प्रत्येक रास एक घटा या उससे अधिक समय मे समाप्त होता है। प्रत्येक दृश्य अपने मौलिक रूप मे, मौलिक स्थल पर प्रदर्शित होता है। जिस दृश्य को बडे सौभाग्य से मै देख सका वह विवाह का दृश्य था जो सकेत (बरसाने के निकट का एक स्थल)मे प्रदर्शित हुआ था। रगमच के स्थान पर एक बाटिका थी, पृष्ठभूमि मे एक लाल पत्थर का मदिर था, ऊपर पूर्णिमा का चद्रमा था, सामने से अनेक दीप-रश्मियो का प्रकाश पात्रो के मुख पर बिखर कर एक अपूर्व दीप्ति फैला रहा था। दृश्य अत्यत मनोहारी था और प्रेम की लीला से भी किसी प्रकार के अविचार का आभास नही था।"

उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि ग्राउस ने ब्रज की वनयात्रा के अवसर पर संकेत वन मे राधा-कृष्ण के विवाह की लीला देखी थी जो आज भी यात्रा के समय इसी स्थल पर होती है।

इस प्रकार रास हमारा एक ऐसा पारिवारिक मच है जिसे देश के बाहर भी पहचाना जाता रहा है और विदेशी दर्शक तक इसकी पावनता तथा कला से प्रभावित होते रहे है। रास के नृत्यो ने विदेशियो को यहा तक प्रभावित किया और वे स्वय कन्हैया को नचाने मे रुचि लेते रहे है। प्रसिद्ध भारतीय

नृत्यकार उदयशकर विदेश मे चित्रकला सीखने गये थे यह एक सर्वविदित तथ्य है, परतु उनका उभरता हुआ व्यक्तित्व एक विदेशी नृत्यागना पावलोना को इतना भा गया कि वह उन्हे कृष्ण बनाकर नचाने के लिए अपने साथ ले गई, जिसके कारण उनका जीवनक्रम ही बदल गया और उदयशकर स्वय चित्रकार के स्थान पर एक विश्वविख्यात नृत्यकार बन गये, यह रास का ही प्रभाव था।

रास सदा मे विदेशी विद्वानो को आकर्षित करता रहा है। जैसा हम कह चुके है सन् १९५१-५२ मे अमरीकी विद्वान डॉ० नार्विन हाइन भारत पधारे थे। उनका ग्रथ 'दि मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा' स्वय अपने विषय का अग्रेजी साहित्य मे एकमात्र शोध ग्रथ है जिसमे रास की ऐतिहासिक परपरा और मचीय स्वरूप पर उन्होने विस्तार मे प्रकाश डाला है।

भारत मे कदाचित रास जितना प्राचीन, दीर्घजीवी, दार्शनिक पृष्ठभूमि के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित तथा भक्तिरसामृत के अमर गायक की वाणी (जैसे सूरदास, नददास, मीरा, तुलसी हितहरिवश, हरिदास, व्यास, देव, रत्नाकर से लेकर भारतेन्दु और उनके परवर्ती साहित्यकारो से आज तक के प्रतिनिधि व्रज काव्य से अलकृत और अभिमडित है वैसा दूसरा कही कोई मच शायद नही है। रास के मधुर गायन और कोमल-कात पदावली की सराहना उन विदेशी दर्शको ने भी मुक्त कठ से की है, जिनके लिए कदाचित् रास के व्रजभाषा मे निबद्ध सगीत को समझना कठिन था। रास मे नृत्य, सगीत के साथ अभिनय का जैसा सामजस्य है वह भी अपने-आप मे अपूर्व है। यह विशेषता जहा इसे एक ओर प्राचीन सस्कृत कालीन नाटक से जोडती है वहा दूसरी ओर इसमे आज के लोक-जीवन की मोहक गध भी विद्यमान है।

खेद है कि रास के ऐसे महत्त्वशाली मच के इतिहास के अध्ययन या उसके नाट्यरूप की विवेचना का कोई ठोस प्रयत्न अब तक नही हो पाया था। हमने कई वर्षो पूर्व सेठ गोविंददास जी के सहयोग से 'रासलीला एक परिचय' ग्रथ अवश्य तैयार किया था जिसे एस० चाद एड कपनी, दिल्ली ने छापा था, कुछ विद्वानो के स्फुट लेख भी समय-समय पर रास पर छपे, परतु यह सब परिचयात्मक प्रारभिक प्रयत्न मात्र थे। रास पर शोधपरक दृष्टि से एक ग्रथ की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही थी। व्रज कला केन्द्र ने अपने हाथरस अधिवेशन के समय सन् १९६४ मे जो रास सगोष्ठी की थी, उसमे भी रास पर विधिवत शोध कार्य की आवश्यकता का अनुभव किया था। मुझे हर्ष है कि इस दिशा मे कुछ प्रयास करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

रासमच से मेरा बचपन मे ही निकट सपर्क रहा है। अभिनय मे रुचि होने के कारण बचपन मे ही मेरा सपर्क प्रसिद्ध रासधारी स्वर्गीय लछमन स्वामी से हो गया था। वे भक्तो के निमत्रण पर प्रतिवर्ष रासमडली के साथ मथुरा

पधारते थे और यहा २-३ मास निवास करते थे । उन दिनो स्वामी हरिगोविंद जी भी उन्ही के साथ साझीदार थे । रास के खाली समय मे प्राय लछमन जी से इस मंच की परपरा और स्वरूप पर जब चर्चा होती थी तब रास के प्राचीन संस्मरण वे बडे गद्‌गद भाव से सुनाया करते थे । वे भावुक इतने थे कि पुरानी चर्चा चलते ही उनकी आखो से टपटप आसू टपकने लगते थे और गला रुध जाता था । वे दुपट्टे से आसू पोछते जाते थे और बडे रस से रास सबधी वर्णना किया करते थे । बाद मे सन् १९५३ से सन् १९७० तक आकाशवाणी, दिल्ली के ब्रजभाषा कार्यक्रमो से सबद्ध रहने के कारण रास के अनेक कलाकरो से सपर्क बहुत गहरे हो गये । फल यह हुआ कि जब सेठ गोविंददास जी ने एक ब्रजयात्रा के आयोजन की योजना बनाई तो मैने उन्हे ब्रजयात्रा के साथ एक रासमडली भी गठित करने का सुझाव दिया जो ब्रजयात्रा के साथ-साथ रास-लीला करने वाली थी । सेठ जी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मेरे परामर्श से स्वर्गीय लाडिलीशरण रासधारी को इस लीला का प्रशिक्षक नियुक्त कर दिया और चमेलीदेवी खडेलवाल कालिज मे श्रीमती रत्नप्रभा खडेलवाल की देखरेख मे रास का प्रशिक्षण प्रारभ हो गया । दुर्भाग्य से सेठ जी की वह प्रस्तावित ब्रजयात्रा तो नही हो सकी, परतु उसके कारण रास का जो प्रशिक्षण केन्द्र चमेलीदेवी विद्यालय मे स्थापित किया गया था उसने बहुत सी ब्रज की बालिकाओ को रास की ओर आर्कषित कर लिया । आज भी इस कालिज के उत्सवो मे रास का कार्यक्रम दर्शको का विशेष आकर्षण रहता है ।

इसके बाद ब्रज कला केन्द्र मे भी हमने श्री वेदराम जी रासधारी को नियुक्त करके हाथरस मे सन् १९६५ मे रास प्रशिक्षण की व्यवस्था की । बाद मे सूर पचशती प्रारभ होने पर सूर स्मारक मडल और ब्रजकला केन्द्र के सयुक्त तत्त्वावधान मे 'ब्रजलीला मच' के नाम से एक रासमडली भी कुछ समय हमने बडी धूम से चलाई, परतु इस कार्य मे जो घोर परिश्रम करना होता था तथा प्रदर्शनो के लिए जो निरतर यात्राए करनी पडती थी, उनसे घबडाकर मडली के स्वामी दान विहारी मैदान छोड गये तब हमने यह काम स्वामी रामस्वरूप जी की देखरेख मे सौप दिया, परतु उनकी व्यवस्था के कारण अत मे यह मडली भग ही कर देनी पड़ी । तब स्वामी रामस्वरूप व स्वामी हरिगोविंद जी के सहयोग से सूर पचशती का कार्य पूर्ण हुआ । सूर समारोहो के साथ देश मे स्थान-स्थान पर रास समारोह भी हुए । स्वामी हरिगोविंद जी की मडली के साथ हमने भारत के शिक्षा विभाग की ओर से अडमान निकोबार द्वीप मे पहली बार रास का प्रदर्शन किया, जिसे देखकर वहा के निवासी गद्‌गद हो गये । इससे स्पष्ट हो गया कि इस मच मे आज भी जनता को आर्कषित करने की अपार शक्ति विद्यमान है । प्राचीन भक्तो की पदावली पर हमने स्वय इस बीच

कई नवीन लीलाओ की रचना की, जिन्हे सर्वत्र विशेप रूप से सराहा गया। इस प्रकार इस मच के कलाकारो, अभिनय के स्वरूप तथा समस्याओ से मेरा सहज ही निकट सपर्क जुडा रहा है, जिसके वल पर मैं यह ग्रंथ लिख पाया हू ।

मुझसे रास पर एक विवेचनापूर्ण ग्रथ लिखने का आग्रह सन् १९६८ मे भारतीय सगीत नाटक अकादेमी के सचिव डॉ० सुरेश अवस्थी ने किया था। उन्होने रास पर शोध कार्य के लिए मुझे अकादेमी से कुछ अनुदान भी प्रदान किया गया था। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप यह ग्रथ सन् १९७० ई० मे मैंने लिख कर पूर्ण कर लिया था, परतु लगातार कुछ ऐसे व्यवधान आते रहे कि उस समय यह ग्रथ छप नही सका। मेरे कुछ झझटो मे उलझ जाने के कारण यह ग्रथ वर्षों अकादेमी मे ही पडा रहा। इसी वीच मैंने 'सांगीत : एक लोक-नाट्य परपरा' ग्रथ लिखा और वह छप भी गया। उस ग्रथ का जो स्वागत हुआ उसने मुझे पुन रास सवधी इस ग्रथ की ओर आकर्पित किया। तव अकादेमी से ग्रथ के लिए पुन अनुदान की प्रार्थना की गयी। मैंने यह ग्रथ पुन दोहराकर इसे आधुनिक परिवेश मे सशोधित किया क्योकि इसी वीच डॉ० नार्विन हाइन की 'दि मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा' भी निकल चुकी थी।

सशोधित रूप मे यह ग्रथ अव नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित होकर प्रस्तुत हो रहा है। इस ग्रंथ के प्रकाशन मे उन सव महानुभावो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिनका उल्लेख मै ऊपर कर चुका हू। मै इन सभी विद्वानो के साथ-साथ सगीत नाटक अकादेमी का विशेप आभारी हू और उनकी आर्थिक सहायता के लिए धन्यवाद देता हू। मै प्रकाशक श्री कन्हैयालाल मलिक का भी आभारी हू, जिन्होने अत्यत रुचि से ग्रथ की सज्जा की है और इसे प्रकाशित किया है।

इस अवसर पर मैं डॉ० सत्येन्द्र और स्वर्गीय श्री जगदीशचद्र माथुर को विशेप रूप से स्मरण करता हू, जिन्होने प्रकाशन से पूर्व ही ग्रथ की पाण्डुलिपि पढी थी और अपने सुझावो के साथ-साथ मुझे इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने को उत्साहित किया था। खेद है कि इस ग्रथ के प्रकाशन मे पूर्व ही माथुर साहव हमारे वीच से चले गये है।

इस ग्रथ की रचना के प्रारभ से अत तक डॉ० कपिला वात्स्यायन का सहयोग तथा श्री नेमिचद्र जैन का मार्गदर्शन सर्वथा अविस्मरणीय है। नेमिचद्र जी ने ग्रथ की भूमिका लिखकर भी मुझे अनुग्रहीत किया है जिसके लिए मैं उन का हृदय मे आभार व्यक्त करता हूं।

जैसा आप जानते है, लक्षण-ग्रंथो तथा प्राचीन नाटको मे रास परपरा के उल्लेख यद्यपि भरे पडे हैं, परंतु वे सभी सूत्र रूप मे है। उनके आधार पर इस मच का इतिहास खडा करने का मेरा यह पहला प्रयास है। ऐसी दशा मे ऐसे

बहुत से स्थल हो सकते है जहा मेरे निष्कर्षो से सभी विद्वदजन सहमत न हो। ऐसे भी बहुत से तथ्य हो सकते है, जिनकी जानकारी के अभाव मे उपेक्षा हो गयी होगी। मुझ जैसे एक अल्पज्ञ व्यक्ति से प्रथम प्रयास मे ऐसी भूले होना स्वाभाविक है, अत इन भूलो के लिए मैं पाठको से क्षमाप्रार्थी हू। ग्रथ मे जो त्रुटिया है वे मेरी अल्पज्ञता का प्रमाण है और इसमे जो अच्छाई है, वह सब रासमच के नायक नटनागर भगवान कृष्ण की कृपा का प्रसाद है तथा गुरुजनो और विद्वानो के आशीर्वाद का फल है या उनके सहयोग का परिणाम है।

यदि इस ग्रथ के प्रकाशन के फलस्वरूप हमारे विद्वानो और रगकर्मियो का ध्यान रास रगमच की ओर आर्कषित हो सका तथा रास सबधी शोध के साथ-साथ इस मच के सरक्षण व विकास का मार्ग प्रशस्त हो सका तो लेखक अपने परिश्रम को सार्थक मानेगा।

— **रामनारायण अग्रवाल**

रक्षावधन, सवत् २०३७ वि०
मथुरा

विषय-क्रम

प्रथम खड

द्वितीय खड

प्रथम खंड

१

रास की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि

व्रज का वर्तमान रास भक्तियुग (१६वी शताब्दी) की देन माना जाता है परतु इस रास ने जिस प्राचीन परपरा से अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण किया वह बहुत ही प्राचीन व महत्त्वपूर्ण है। खेद है कि अब तक इस परंपरा का व्यवस्थित रूप से विधिवत अध्ययन करने का प्रयत्न नही किया जा सका है। हम यहा इस गौरवपूर्ण परपरा का इतिहास प्रस्तुत करने का दावा नही कर सकते परतु भारतीय साहित्य, पुराणो तथा लक्षण-ग्रथो मे रासक या रास सबधी जिन उल्लेखो की यथास्थान चर्चा है उनके आधार पर इस मच के गौरवपूर्ण इतिहास तथा विभिन्न कालो और युगो मे इसने विकास के जो-जो विविध सोपान चढे हैं उसकी एक झाकी अवश्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहते है क्योकि यह हमारे सास्कृतिक इतिहास और कला-विधा की महत्त्वपूर्ण गाथा है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से नाट्य-विधा पर चिंतन करने वाले विचारक जब किसी भारतीय नाट्य-विधा पर विचार करते हैं तो उसे शास्त्रीय व लोक-नाट्य के चश्मे से देखने का यत्न करते हैं और रास का अध्ययन भी कुछ महानुभावो ने इसी दृष्टि से करने की चेष्टा की है जिसके कारण वह इस मंच के स्वाभाविक विकास की सही झाकी उपस्थित नही कर सके हैं, क्योकि भारतीय नाट्य-विधा मे कभी इस प्रकार का विभेद नही रहा जिसके आधार पर नाटक और लोक-नाटक को अलग-अलग किया जा सके। लोक की उपेक्षा करके भारत का कोई भी कला रूप कभी खडा नही हो सका यह हमारी दृढ मान्यता है। लक्षण ग्रंथो के आदि विवेचक नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने भारतीय नाटक के इसीलिए केवल रूपक और उपरूपक नाम से दो भेद किए हैं। उपरूपक के लक्षण बतलाते हुए वह लिखते हैं कि .

१. इसका आधार लोकवार्ता अर्थात लोक मे प्रसिद्ध क्रिया या वृत्तात होता है।

२. इसमे स्थायी-व्यभिचारी आदि भाव ठेठ मानवी स्वभाव से अर्थात वास्तविक जीवन से आते हैं, कवि-कल्पना या अतिरजना से नही।
३. इसमे पात्र (स्त्री-पुरुष सभी) बिल्कुल स्वाभाविक रीति से अभिनय करते हैं। इसमे उठना-गिरना, चलना-फिरना, मारना-मरना सब कुछ जीवन की अनुकृति के अनुसार होता है, नाट्य के परपरागत तत्सबधी नियमो, मर्यादाओ या अभिनय की बारीकियो का इसमे ध्यान नही रखा जाता।[1]

भरत के इस विवरण से यह स्पष्ट है कि नाटक व लोकधर्मी नाटक के मध्य यहा कोई खाई नही थी। उपरूपक जन-जीवन के अधिक निकट थे—यही उनकी विशेषता थी।

इस काल मे रास की नाट्य विधा लोक के अधिक निकट थी इसीलिए इसका उल्लेख लोकधर्मी उपरूपको मे हुआ है।

परतु हमारे देश मे रास का अस्तित्व तो भरत से भी बहुत पहले विद्यमान था और भरत तक आते-आते यह विधा विकास और ह्रास के कई चरणो को पूर्ण कर चुकी थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार रास नृत्य की भावना तो सस्कृति के विकास के प्रारभिक युग की है। ऋग्वेद मे भी इसका

१ धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमा ।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ७० ॥
स्वभावभावोपगत शुद्ध तु विकृत तथा ।
लोकवार्ता क्रियोपेतमगलीला विवर्जितम् ॥ ७१ ॥
स्वभावाभिनयोपेत नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृश भवेन्नाट्य, लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७२ ॥

डा० वासुदेवशरण ने रास और रासान्वयी काव्य की भूमिका मे उक्त 'धर्मी' शब्द की अभिनवगुप्त द्वारा की गई व्याख्या 'अभिनयाण्य लौकिकधर्मं तन्मूलमेव तदुपजीवन सामयिक वानुवर्तन्ते' का अर्थ करते हुए कहा है कि "अभिनय का मूल लोक से गृहीत होता है, लोक मे वह परपरा प्राप्त होता है या उसी समय प्रचलित होता है, उन दोनो से ही अभिनय की सामग्री लेकर जनरजन के रूपो का निर्माण किया जाता है। डा० अग्रवाल के अनुसार धर्मी का तात्पर्य उस अभिनय से है जो धर्म अर्थात लोकगत समयाचार का अनुकरण करके किया जाय।"

इस मत के अनुसार जिन नाट्यरूपो का मचीय स्वरूप सुस्पष्ट निर्धारित हो चुका था और जिनमे वाचिक, आगिक, आहार्य वृत्तिया और अभिनय की बारीकिया विकसित हो गई थी और न्यायत जिन्हें उच्च सास्कृतिक या नागरिक धरातल पर काव्य और अभिनय के लिए स्वीकार किया जा सकता था उन्हें नाट्यधर्मी रूपक की सज्ञा दी गई थी। ऐसे रूपको मे प्राचीन आचार्यों ने नाटक, प्रकरण, डिम, ईहा-मृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी और अक का उल्लेख किया है।

प्रमाण उपलब्ध है ।[२]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मडलाकार नृत्य की जिस भावना का उदय सभ्यता के आदि युग मे हुआ—भरत तक आते-आते वह विधा नृत्य के साथ-साथ नाट्य रूप मे भी विकसित हो चुकी थी और नाट्य रासक लक्षण-ग्रथो मे स्वतत्र रूप से उल्लेख किया जाने लगा ।

इधर जब हम वैष्णव पुराणो पर दृष्टिपात करते है तब हमे भगवान कृष्ण की रासलीला के विविध वर्णन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है । पुराणो के साथ-साथ सस्कृत नाटको मे भी हमे कृष्ण के (हल्लीसक क्रीडन) का उल्लेख मिलता है । सस्कृत के साथ-साथ भारत की सभी भाषाओ के उस वाड्मय मे जहा कृष्ण-चरित्र का उल्लेख है वहा उनके रास का वर्णन भी विशेष रूप से उपलब्ध है । रास के जनक के रूप मे श्रीकृष्ण का उल्लेख सर्वत्र ही विद्यमान है । विद्वानो का मत है कि कृष्ण द्वारा प्रारंभ किया गया यह नृत्य कालातर मे पूरे भारतीय जन-साहित्य के निर्माण का आधार बन गया

२ 'रास और रासान्वयी काव्य' की भूमिका मे डा० अग्रवाल ने ऋग्वेद की एक ऋचा उद्धृत की है

"यद्देवा अद सलिले सुसरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत" ॥ १०-७२-६ ॥

इसकी व्याख्या करते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं .

"सृष्टि के आरभ में एक महान सलिल समुद्र था । उसमे देवता एक दूसरे से हाथ मिलाकर ठहरे हुए थे । उनके नृत्य या तालबद्ध चरण क्षोभ से जो तीव्र धूल छा गई, वही यह विश्व है । अदिति माता के सात पुत्र ही वे देव थे जो इस प्रकार का सम्मिलित नृत्य कर रहे थे । श्री कुमारस्वामी ने 'सुसरब्धा' का यही अर्थ किया है, और सूक्त मे वर्णित विषय से वही सुसगत है, अर्थात ऐसा नृत्य जिसमे कई नर्तक परस्पर छदोमय भाव से नृत्य करते हुए चरणो से रेणु का उत्थापन करें । यह वर्णन रास सज्ञक मडली नृत्य सवर्तचरणसचालन की ओर ही सकेत करता जान पडता है । ऐसी स्थिति मे मडलाकार नृत्य की लोक परपरा का दर्शन सस्कृति के आरभिक युग मे ही मिल जाता है ।

डा० अग्रवाल का कथन है कि रास नृत्य इतना स्वाभाविक है और इसका लोकधर्मी तत्त्व इतना प्रधान है कि लोक या जन-जीवन मे इस प्रकार के नृत्य का अस्तित्व उन धुधले युगो तक जा सकता है, जिनका ऐतिहासिक प्रमाण अब दुष्प्राप्य है ।"

था[1] आज भी ब्रज और मणिपुर मे श्रीकृष्ण को माध्यम मानकर रास की जो परंपरा प्रचलित है वह कृष्ण रास की इसी पौराणिक परपरा का परवर्ती रूप है। इस रूप के निर्माण मे पूरी रासक परपरा का कहा तक और किस रूप मे समन्वय है इसे समझने के लिए हमे रासक, नाट्य-रासक और रास-परपरा का विभिन्न युगो मे क्या-क्या स्वरूप रहा है इसको समझना आवश्यक है।

जहा इन तीनो ही परंपराओ ने विभिन्न कालो मे हमारे समाज को प्रभावित किया है वहा वे समाज से प्रभावित होकर अपना स्वरूप भी तदनुकूल बनाती रही हैं। इन विधाओ का पारस्परिक नैकट्य और दूरी भी समय-समय पर विभिन्न रूप लेती रही है। ऐसी दशा मे रास के वर्तमान नाटकीय स्वरूप की चर्चा से पूर्व उसकी मूल स्रोत इन तीनो परपराओ का सक्षिप्त परिचय परमावश्यक है।

भारत के वर्तमान लोक नाट्य की विधाओ मे ब्रज का रास रगमच सभवत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह भारत का सर्वाधिक प्राचीन जीवित रगमच तो है ही, इसके साथ ही यह नृत्य, गायन और सवाद से सयुक्त ऐसी नाट्य विधा है जिसमे प्राचीन रगमच का पूर्ण रूप समन्वित होकर साकार हो उठा है। इस मच का यह वर्तमान विकसित रूप किस प्रकार भक्ति-युग मे अस्तित्व मे आया इसकी चर्चा हम आगे करेंगे परतु इस मच का मूलाधार रास-नृत्य ही है। रास-नृत्य और भारतीय नाट्य परपरा की इस मूल विधा की जड़ें कितनी गहरी हैं यहा सक्षेप मे इस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

यह कहने की आवश्यकता नही है कि ललित कला की कोई भी परंपरा सीधी ऊपर से नही उतरती, उसका विकास समाज की समसामयिक स्थितिजन्य सास्कृतिक पृष्ठभूमि से ही अपना रूप ग्रहण करता है। रास का उदय भी इसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा अनायास ही नही हो गया था वरन रास का यह रूप भारतीय नृत्य-परपरा का ही एक स्वाभाविक विकास था।

३ श्री कन्हैयालाल मुशी का मत है कि "रास-नृत्य को आधार मानकर भारोपीय काल का जन-साहित्य निर्मित हुआ था, नर-नारी शृगार-प्रधान इन काव्यागो का गायन करते हुए उपयुक्त ताल, लय एव गति के साथ मडलाकार नृत्य करते थे। कभी केवल पुरुष, कभी स्त्रिया इस नृत्य मे भाग लेती थी। इस नृत्य के मूल प्रवर्तक श्रीकृष्ण मथुरा राज्य के निवासी थे जिन्होने ईसा से शताब्दियो पूर्व इस नृत्य को गोप-समाज मे प्रचलित किया।

मध्य-प्रदेश के गेय पद (गीत) रास-नृत्य की प्रेरणा से आविर्भूत हुए। इन गीतो की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। इन गीतो को कुशल कलाकारो ने ऐसे लय व रागो मे बाधा जो रास नृत्य के साथ-साथ सरलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकें।

हमारी नृत्य-परपरा के आदि आचार्य भगवान शिव माने जाते है। इसीलिए उन्हे नटराज कहा जाता है। नटराज शिव ने ही सृष्टि के प्रारभिक चरण मे नृत्य को उत्पन्न किया। भगवान शिव द्वारा प्रवर्तित इस नृत्य मे परुष भावना का प्राधान्य था इसीलिए उसको ताडव नृत्य के नाम से जाना जाता है। इस नृत्य को शिव की अर्द्धागिनी पार्वती ने अपने पति से सीखा और उसमे कोमलता का विकास करके उसे लास्य रूप प्रदान किया। इस प्रकार आर्य संस्कृति के उदय से बहुत पूर्व ही भारत मे नृत्य के ताडव और लास्य रूप विकसित हो चुके थे और यहा की अनार्य जातियो मे यह नृत्य विविध रूपो मे लोकप्रिय थे। यह उक्त कथन से स्वत. ही प्रतिपादित हो जाता है।

भारत प्रारभ से ही विभिन्न सस्कृतियो और जातियो का समन्वय स्थल रहा है। यहा की रज की यह विशेषता रही है कि यहा जो भी आया वह इस भूमि मे अपनी सस्कृति को समन्वित करके स्वय यहा की विराट सस्कृति का एक अग बन गया। भारत भूमि इन सभी प्रभावो को सफलतापूर्वक अपने अक मे समेट कर अपना सास्कृतिक रूप विकसित करती रही है। विभिन्न सस्कृतियो को एकता की कडी मे पिरोने मे यह देश अद्वितीय रहा है।

प्राचीन उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रज मे श्रीकृष्ण के जन्म से पूर्व मथुरा के चारो ओर आभीर जाति भारी सख्या मे बसी थी। हरिवश पुराण मे मधु (जो भगवान राम का समकालीन मथुरा नरेश था) यह स्पष्ट घोषणा करता है कि "मथुरा का समस्त चतुर्दिक प्रदेश आभीरो का है"। इन आभीरो की विशिष्ट संस्कृति आर्यो से सर्वथा भिन्न थी। इस जाति मे नृत्य और गायन-वादन की विशिष्ट परपरा थी और इनका हल्लीश या हल्लीसक नृत्य बहुत ही लोकप्रिय सामाजिक नृत्य था। इसी नृत्य रूप को एक विशिष्ट स्तर देकर श्रीकृष्ण ने रास-नृत्यो का विकास किया। जहा भगवान शिव नृत्यों के जन्मदाता होने के कारण नटराज की उपाधि से विभूषित है वहा आभीरो के हल्लीसक नृत्य को एक विशिष्ट स्तर प्रदान करके उसे पूरे देश मे लोकप्रिय बनाकर रास के रूप मे प्रतिष्ठित करने के कारण श्रीकृष्ण को भी अभी तक नटनागर के नाम से स्मरण किया जाता है।

ऐसी दशा मे रास के नृत्य रूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम आभीर सस्कृति और उनके लोकप्रिय हल्लीसक नृत्य के स्वरूप को समझने की चेष्टा करे क्योकि रास-नृत्य का मूलाधार हल्लीसक ही रहा है।

२
आभीर संस्कृति और उनकी नृत्य-परंपरा

आभीरो सवधी प्राचीन उल्लेख

आभीर जाति भारत की प्राचीनतम जातियो मे से एक है। यद्यपि वेदो में आभीर जाति का उल्लेख नही मिलना, परतु ऋग्वेद मे 'हृप्स' का जो उल्लेख है उसे श्रीकृष्ण (गोपाल कृष्ण) का ही उल्लेख माना गया है। यहा इद्र वरुण से कहता है—"मैंने कृष्ण को अशुमती (यमुना) के ऊचे कगारो पर तीव्रता से घूमते देखा है। हे वीरो, तुम जाओ और उस सेना से युद्ध करो।"[1] ऋग्वेद का यह वर्णन आभीर सस्कृति तथा वैदिक सस्कृति के उस द्वद्व का आभास देता है जो पौराणिक युग मे गोवर्धन धारण के रूप मे अधिक मुखरित होकर उभरा। भारत मे आभीर जाति वैदिक काल से ही अपनी एक विकसित सस्कृति लिए विद्यमान थी जिसका आर्यो की सस्कृति के साथ तव तक तालमेल नही वैठा था। यह इन वर्णनो से भली प्रकार आभासित हो जाता है।

आभीर जाति भारत की मूल जाति थी या वाहर से यहा आकर वसी इस सवध मे विद्वान एकमत नही हैं।[2] महाभारत मे आभीर जाति संवधी अनेक

१. डा० भाडारकर 'दि इडो आर्यन रेसिस', पृ० ४८५

२ डा० भाडारकर के अनुसार आभीर जाति सीरिया से भारत आकर वसी परतु अनेक विद्वान डा० भाडारकर के इस मत से असहमत हैं। वे आभीरो को भारत का ही मूल निवासी मानते है। डा० मुशीराम शर्मा के 'भारतीय साधना और साहित्य' ग्रथ के पृष्ठ १६४ पर यह कथन है कि इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रथ मे आभीरो को वाहर से आया हुआ नही कहा गया, अत उन्हे वाहर से आया मानना एक दुरूह कल्पना है। श्री कुमारस्वामी के अनुसार 'आभीर' शव्द द्रविड भाषा का है, जिसका अर्थ 'गोपाल' होता है। इस आधार पर कुमारस्वामी आभीरो को दक्षिण का मूल निवासी मानते हैं। जिन लोगो ने आभीरो को ईसा की प्रथम शताव्दी मे वाहर से

(शेष पृष्ठ ७ पर)

उल्लेख उपलब्ध है। भगवान कृष्ण ने दुर्योधन को महाभारत मे लडने के लिए जो नारायणी सेना दी थी वह आभीरो की ही थी। ससप्तको मे भी वीर आभीर योद्धा विद्यमान थे।[३] द्रोण की सुवर्ण-व्यूह रचना मे आभीरो का मुख्य स्थान था।[४] वृष्णि वश की स्त्रियो को कृष्ण के तिरोधान के उपरात द्वारका से हस्तिनापुर ले जाते हुए महावीर अर्जुन को भी लूट लेने वाले लोग आभीर ही थे।[५] हरिवश पुराण से पता चलता है कि इन्होने मथुरा से लेकर द्वारका के समीपवर्ती प्रदेश अनूप और आनर्त तक के प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। आरभ मे यह जाति 'गोपाल' अर्थात् पशुपालक थी परतु धीरे-धीरे इसका राजनीतिक प्रभुत्व बढा और इसने शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिए। फरिश्ता के अनुसार असीरगढ आभीरो द्वारा ही निर्मित है। इलियट ने सिद्ध किया है कि ताप्ती से देवगढ तक आभीर ही बसे थे और इसी से यह स्थान 'आभीरा' कहलाया।[६] क्षत्रप रुद्रसिंह (१८१ ई०) अपने एक सेनापति रुद्रमूर्ति को आभीर कहता है।[७] समुद्रगुप्त के प्रयाग के लेख मे आभीर तथा मालवो को अत्यत शक्तिशाली जाति कहा गया है, जो राजस्थान, मालवा, दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिणी प्रदेशो पर अधिकार किए हुए थी।[८] एक समय ऐसा आया था जब आभीर समस्त भारत मे सार्वभौमिक शक्ति बनकर उदित हुए थे।[९] यह जाति सारे देश मे फैल गई थी। अस्तु, वर्तमान अहीरो को डा० भाडारकर इन्ही आभीरो का वंशज मानते है।[१०] महाभारत मे यह जाति सिंध के तट पर बसी बताई गई है।[११] इन्ही की धूल से सरस्वती लुप्त हो गई थी।[१२]

(पृष्ठ ६ का शेषाश)

आया माना है वे भी यह स्वीकार करते है कि आभीर लोग सिंध होते हुए कालातर मे दक्षिण जाकर बसे थे। कैनेडी ने इन आभीरो को सीथियन माना है और उनका कहना है कि इन आभीरो की वर्तमान सतान अहीर, जाट, गूजर आदि की मुखाकृति, शरीर-गठन आदि द्राविड नही बल्कि सीथियन है।

—जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०७

३ महाभारत २-३५-१०
४ महाभारत . सभापर्व ३२-१०
५. महाभारत ९-३७-२१९
६ इलियट 'रेसिस आफ दि एन० डब्लू० पी०', वाल्यूम १, पृष्ठ ३
७. 'इसक्रिप्शस आफ रुद्रसिह एज कोटेड बाई भाडारकर' (१९११), पृ० १६
८. वी० ए० स्मिथ 'अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया', पृ० २८६
९ एशियाटिक रिसर्चिज, वाल्यूम ९, पृ० ४३८
१०. कलेक्टेड वर्क्स आफ भाडारकर, वाल्यूम ४, पृ० ५२
११. महाभारत, भीष्मपर्व ३०५
१२. वी० ए० स्मिथ 'अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया', पृ० २८६

श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने श्रीकृष्ण का संवंध उस यादव वश से माना है जो आर्यो के भारत आक्रमण के समय दूसरी वार मे आये थे। इस आक्रमण के कारण अन्य जातियो के साथ ये यादववंशी यमुना की घाटी मे आकर वस गए क्योकि गगा की घाटी और पंजाव का प्रदेश पहले आकर वसे आर्यो के अधिकार मे था। यादव जाति के ये लोग वडे परिश्रमी और विनोदप्रिय थे। इनकी वृत्ति अभी तक पशुपालन थी। यह एक गोपालो का समुदाय था, अत यमुना तट पर इन्हे अपने मनोनुकूल विस्तृत व लाभप्रद घास के मैदान मिल गये। इसी कारण ये लोग मथुरा प्रदेश मे विशेष रूप से वसे। यादव जाति एक शक्ति-संपन्न, युद्धप्रिय और विनोदप्रिय जाति थी। उनका शारीरिक गठन उनके सौंदर्य के आकर्पण को वढाता था।[१३] इन सभी विवरणो से यह स्पष्ट होता है कि महाभारत काल मे आभीर जाति एक गोपालक और युद्धप्रिय जाति के रूप मे विख्यात थी। व्रज क्षेत्र में यह जाति चारो ओर वसी हुई थी, जो यादवो की ही एक जाति थी।

यद्यपि आभीर इस देश की प्राचीन जाति थी परतु महाभारत काल तक आर्यो के साथ उनके निकटतम मधुर सवंध नही वने थे। दोनो के वीच एक गहरी खाई थी, इसके संकेत भी महाभारत मे यथास्थान उपलव्ध है। द्वारका के नष्ट हो जाने पर यदुवश की जो नारिया अर्जुन द्वारा हस्तिनापुर ले जाई जा रही थी उन्हे मार्ग मे ही वीर आभीरो ने अर्जुन से छीन लिया था। इसका यही कारण समझ मे आता है कि आभीर अपने सजातीय यादवो की गृहणियों को आर्यो के अधीन नही छोडना चाहते थे। आभीरो और आर्यो मे पारस्परिक घृणा वहुत पुरानी थी। इसी अतर्विरोध के कारण आर्यों द्वारा प्रणीत कुछ ग्रथो मे आभीरो को हीन जाति कहा गया है। वायु पुराण मे तो इन्हे म्लेच्छ कहा गया है।[१४]

आभीरो की जाति

मनुस्मृति तथा पुराण ग्रथो मे आभीरो को मिश्रित जाति कहा गया है। मनु ने आभीरो की उत्पत्ति व्राह्मण पिता और अंवष्ठा स्त्री से मानी है।[१५] मनु इन्हे क्षत्रिय ही मानते हैं।[१६] व्रह्म पुराण मे इनकी उत्पत्ति क्षत्रिय पिता

१३ सी० वी० वैद्य 'एपिक इडिया', पृष्ठ ३६७
१४ वायु-पुराण, ३७-१५-२६३
१५ मनुस्मृति, १०-१५
१६ वही, १०-४३-४५

और वैश्य माता से मानी गई है।[१७] पतजलि ने इन्हे एक स्वतंत्र जाति कहा है और उनका वर्गीकरण वैश्यो के साथ किया है।[१८] भरत ने इन्हे शबर चडाल आदि अन्य जातियो के साथ रखा है।[१९] महाभारत मे इन्हे शूद्र कहा गया है।[२०] वर्तमान अहीरो के तीन वर्ग है (१) नदवशी, (२) यदुवशी, (३) ग्वालवशी। मध्य दोआब के अहीर अधिकाशत अपने को नदवशी, यमुना के पश्चिम भाग तथा दोआब के अहीर अपने को यदुवशी तथा वाराणसी के आसपास बसे अहीर अपने को ग्वालवंशी मानते है।

यदुवंश और आभीर

वाल्मीकि ने अपनी रामायण मे मधु का उल्लेख किया है जिसके पुत्र लवण का शत्रुघ्न ने वध किया था। यह मधु एक ऐतिहासिक पात्र है जिसका उल्लेख हरिवश पुराण मे भी मिलता है। हरिवंशकार ने मधु की माता का नाम मधुमती लिखा है। मधु की राजधानी के चारो ओर आभीरो की बस्ती थी। यह स्वय मधु ने हरिवशपुराण मे कहा है।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि यदुवश और आभीर एक ही वश की शाखा-प्रशाखाओ से सबधित जातिया थी और इनमे घनिष्ठ स्नेह सबध था तभी तो यदुवशी वसुदेव ने अपने पुत्र कृष्ण को नदवश के सस्थापक नद के यहा इतने अटूट विश्वास से छिपा दिया था कि वर्षों तक उसकी किसी को कानो कान खबर तक नही लगी।

यही नही, कुछ अन्य ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं जिनसे आभीरो और यदुवशियो के एक ही जाति से सबधित होने की पुष्टि होती है। हरिवंश पुराण मे गिरिराज धारण के अनतर इद्राभिषेक के उपरात की एक घटना से भी इसकी पुष्टि होती है।

इद्र के द्वारा अभिषिक्त हो जाने के उपरात कृष्ण के पास जाकर वयोवृद्ध आभीर उनके देवतुल्य पराक्रम से अभिभूत होकर कृष्ण की स्तुति करते हुए एक स्थल पर कहते हैं, "हे कृष्ण, तुम्हारे कृत्य अमानुषीय और देवतुल्य है, आप महाबली है, तब आपके वसुदेव पिता कैसे हुए ?"

१७. क्वोटिड बाई इलियट 'रेसिस आफ दि एन० डब्लू० पी० आफ इडिया', वाल्यूम १, पृ० २

१८. वैश्यभेद एव आभीरो गवाद्युपजीवी, हेमचद्र अभिधानचिन्तामणि ५१२

१९ नाट्यशास्त्र १७-४९, ५५, ६१

२०. महाभारत १४-३०-१६

कस्त्व भवसि रुद्राणा मरुत च महावल'।
वसूना वा किमर्थे च वसुदेव पिता तव ॥
—हरिवश, ह० क्री० अध्याय, श्लोक ५।

वे गोप आगे कहते है—

देवो वा दानवो वा त्व, यक्षो गधर्व एव वा।
अस्माक वन्धवो जातो, योऽसि सोऽसि नमोस्तु ते।
—वही, श्लोक ८।

यह सुनकर कृष्ण मुस्कराकर गोपो को उत्तर देते हैं—

मन्येत मा यथा मर्पे भवन्तो भीम विक्रमम्।
तथाह नावमन्तव्य, स्वजातीयोऽस्मि वान्धव.
—वही, श्लोक ११

इस सवाद मे 'वसुदेव' शव्द महत्त्वपूर्ण है। यहा वृद्ध आभीर गोप इस तथ्य से भली प्रकार परिचित है कि कृष्ण नद के नही वास्तव मे वसुदेव के पुत्र है, परतु तव भी वे वसुदेव पुत्र कृष्ण को (श्लोक ८ मे) अपना जातिवधु ही कहते है। इस प्रकार यहा हरिवशकार ने आभीरो और यदुवशियो को एक ही वश का स्वीकार किया है। यही नही, आगे (श्लोक ११ मे) उसने पुन कृष्ण से प्रत्युत्तर मे भी यही कहलाया है कि "तथाह नावमन्तव्य., स्वजातीयोऽस्मि वान्धव" कृष्ण की यह स्वीकारोक्ति भी यदुवश और आभीर-वश का एक ही होना घोपित करती है।

पौराणिक वशावली

यदि पौराणिक वशावली के अनुसार नदजी तथा वसुदेवजी का वंशवृक्ष मिलाया जाए तो उसमे भी कुछ समानता मिलती है। हरिवश मे यदुवश का जो वशवृक्ष है उसके अनुसार कृष्ण के पूर्व पुरुपो मे एक नाम देव मीढुप आया है जो कृष्ण के प्रपितामह थे। यह देव मीढुप हरिवश मे क्रोष्टुकी (पिता) तथा माद्री (माता) से जन्मे वतलाये गये है, इस प्रकार कृष्ण की चार पीढियो के नाम यदि लिए जाए तो वह क्रमशः है · देव मीढुप, शूर, वसुदेव तथा कृष्ण।

इधर भक्तियुग के आरभ मे जव ब्रज की वैष्णव आचार्यों द्वारा पुनर्स्थापना हुई उस समय ब्रज मे सास्कृतिक शोध का कार्य भी वडे व्यापक रूप मे हुआ था। आचार्य वल्लभ, गौराग महाप्रभु के शिष्य गोस्वामी पण्ठ, और उनके अनुयायी तथा नारायण भट्ट आदि महात्मा इस शोध कार्य के कर्णधार

थे। उस समय व्रज के व्यक्तित्वो की ऐतिहासिकता की भी खोज इन महात्माओ ने की थी। नदवश की परपरा का उल्लेख अपनी ऐसी ही शोध के आधार पर श्रीमद् रूप गोस्वामी ने अपने किसी ग्रथ मे किया है। यह ग्रथ कौन सा है यह तो अभी हमे ज्ञात नही हो सका है किंतु रूप गोस्वामी ने चद्र वश का जो वशवृक्ष दिया है उसका ज्यो का त्यो व्रजभाषा मे रूपातर कवि किशोरीदासजी ने किया है। किशोरीदासजी द्वारा लिखित नद का यह वशवृक्ष व्रज के उन मदिरो मे जहा जन्माष्टमी के दूसरे दिन नदोत्सव के दिन ढाढा ढाढी नृत्य होता है, ढाढी द्वारा गाया जाता है। रासलीला के 'नदोत्सव' मे भी यही वशवृक्ष ढाढी द्वारा सुनाया जाता है।[२१] इस वशवृक्ष के अनुसार राजा देवमीढ के ही एक पुत्र परजन्य थे। इन परजन्य ने वरेयसी नामक स्त्री से विवाह किया जिससे उपनद, अभिनद, नंद, सुनद, तथा नदन—इन पाच पुत्रो तथा नदिनी कन्या का जन्म हुआ। यह नदिनी कन्या नील नामक किसी व्यक्ति को ब्याही गयी थी। उपनद की पत्नी का नाम तुगी, अभिनद की पत्नी का नाम पीगुरी, नद की पत्नी का नाम जसोदा, सुनद की पत्नी का नाम कवुला और नदन की पत्नी अतुला कही गई है। पुराणो मे वर्णित यदुवश तथा किशोरीदास द्वारा रचित इस वशवृक्ष मे विरोधाभास यह है कि यद्यपि देवमीढ का नाम दोनो वशवृक्षो मे समान रूप से मिल जाता है परतु यदुवश के पौराणिक वर्णन तथा नदवश के उक्त वर्णन मे देवमीढ के पिता तथा पूर्व पुरुषो के नाम भिन्न-भिन्न है।

२१ इस वशावली के कुछ अश इस प्रकार हैं

दोहा—परमहस श्री रूपजू, पात्र कृपा मन धार।
वरन्यौ परिकर घोष पति, जो व्रजराज कुमार॥
सोई भाषा करि कहो, लहो कृपा इन पास।
श्री हरिवश प्रताप ते, कहत किसोरी दास॥

आगे किशोरीदास जी कहते हैं .

कुल आभीर नृपति महावाहु। तिनके कजनाभि ले चाहु।
भुव वल चित्रसेन जो जानो। ये राजा अति ही परधानो।
परमधर्म-वुज भक्त सिरोमनि। देवमीढ लियौ हरि सेवा पन।
लक्ष्मी अरु नारायन इष्ट। तिनते वर पायौ जु अभिष्ट।
तिनके पुत्र नाम परजन्य। परम वैष्णव महाअनन्द।
मेघ समान दया सनमान। वरसत सकल प्रजा पर दान।
गुन लक्षण परजन्य ममानो। पतनी तिन वरेयसी जानो।
जया नाम गुन, श्रेष्ठ जु महा। दादज कृष्णचन्द गुन लहा।

(शेष पृष्ठ १२ पर)

यदि आभीरो के इस वशवृक्ष को सही माना जाय तो यदुवश नरेश शूर (जो शोरीपुर के शासक थे) तथा नद आपस मे सौतेले भाई ठहरते हैं क्योकि इन दोनो के ही पिता देवमीढुष या देवमीढ थे, परंतु माताए पृथक-पृथक थी। हमने व्रज के कुछ अहीरो से उनके वश के सबध मे पूछताछ की तो उन्होने हमे यही बतलाया कि हम भी यदुवशी क्षत्री थे पर नदजी के बाप ने किसी वैश्य कन्या से विवाह कर लिया था, इससे हमारा वश अलग नंदवश नाम से चला है और हमने राज्य छोडकर गोपालन का कार्य अपना लिया। हम पहले 'क्षत्री' थे बाद मे 'घोपी' बन गए हैं। डा० मुशीराम शर्मा ने अपने ग्रथ 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' मे 'यदुकुल प्रकाश' की निम्न पक्ति उद्धृत की है—
"आहुक वशात् समुद्भूता आभीरा इति प्रकीर्तिता।" (पृष्ठ १६४)

इन पक्तियो के अनुसार यादव और आभीर दोनो ही आहुक के वश के क्षत्रिय सिद्ध होते हैं। इन तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि व्रज के आभीर व यादव मूलत एक ही वश से सबद्ध थे। यदुवशी नरेश शूर के सौतेले भाई होने के कारण ही कृष्ण के द्वारा नद के लिए भी समस्त व्रज साहित्य तथा लोक-साहित्य मे 'बाबा' कह कर ही सबोधित कराया जाता रहा है। रास मच पर भी नद बाबा के रूप मे ही जगत मान्य है अन्यथा व्रज की किसी भी जाति मे कही भी पिता को बाबा कहकर सबोधित करने की कही कोई परपरा प्राप्त नहीं होती। अहीरो मे तो पिता के लिए बाबा सबोधन बिलकुल ही प्रचलित नहीं है।

आभीरो की गोपाल-सस्कृति

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मथुरा मंडल के आभीर और यादव एक ही वश के थे और इसीलिए उनकी सस्कृति भी समान थी। अतर यही था कि यादव वश के हाथ मे उस समय शूरसेन जनपद का राजतत्र था जबकि आभीर जनता उनकी प्रजा थी, अत यादवो ने अपनी सस्कृति को एक स्तर देकर उसे

(पृष्ठ ११ का शेषाश)

पाँच पुत्र तिनके कुल दीप। मध्य पुत्र हैं नद महीप।
बडे उपनद और अभिनदन। भैया बडे बली श्री नदन।
छोटे हैं सुनदन अरु नदन। भैया चार नद जगवदन।
तुगी और पीगुरी जानो। कुवला अरु अतुला पहिचानो।
वे इनकी पत्नी क्रम चारि। परम सुसीला अरु वर नारि।
बहिन सुनद नदिनी नाम। भर्ता तासु नील शुभ काम।
नदराय कुल दीपक धीर। मध्य पुत्र परजन्य गभीर।
श्री जसुदा जग मे विख्यात। जसुकी दाता जग की मात।

—शृगार रस सागर, तृतीय खड, पृष्ठ १७-१८।

नागरता प्रदान कर दी थी जबकि आभीरो मे वह शुद्ध लोकधर्मी गोपाल-सस्कृति के रूप मे थी जो दूध और गाय की धुरी पर दृढ थी। श्रीकृष्ण हरिवंश पुराण मे इस गोपाल-सस्कृति की व्याख्या करते हुए स्वय कहते है—

'वयं वनचरा गोपाः सदा गोधन जीवित
गावोऽस्माद्दैवतं विद्धि गिरयश्च वनानि च ।२।
कर्षकाणा कृषिर्वृत्ति, पण्यं विपणि जीविनाम् ।
गावोऽस्माकं परावृत्ति रेतत्त्रैविद्यमुच्यते ।३।
विद्यया यो यथायुक्तस्तस्य सा देवत परम्
सैव पूज्याऽर्चनीया च सैव तस्योपकारिणी ।४।

—विष्णुपर्व, अध्याय ७

श्रीकृष्ण ने इंद्र की पूजा से विमुख करके पूरे आभीर समाज को गठित किया और उन्हे पर्वत पूजक बनाया । कृष्ण ने आभीरों को हीनता और आर्य देवता की अधीनता-भावना से मुक्त करके उन्हे एक प्रगतिशील नेतृत्व प्रदान किया था जिससे यह सस्कृति स्वतत्र रूप से विकसित हुई । हरिवश पुराण मे ऐसे कई सकेत यथास्थान विद्यमान है जहा कृष्ण आभीरो को उपदेश देते हैं । एक स्थल पर श्रीकृष्ण कहते है .

मत्रयज्ञपराविप्रा सीतायज्ञा कर्षकाः
गिरियज्ञास्तथागोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिवने

—हरिवश पुराण, ६

गोपो को गिरियज्ञ (अर्थात् पहाड़ के पूजन) का कारण कृष्ण यह बतलाते है कि "कृषि कार्य की सीमा खेत, खेत की सीमा वन, वन की सीमा पर्वत होता है। वह पर्वत ही हमारी एकमात्र गति है।" इसलिए कृष्ण गोपाल-संस्कृति के प्रतीक रूप मे गायो और पर्वत पूजन का आदेश समस्त आभीरो को देते है :

शिवाय गाय पूज्यन्ता गिरियज्ञः प्रवर्त्यताम् ।
प्रज्यता त्रिदशै शक्रो, गिरिरस्माभिरिज्यताम् ॥४३॥
कारयिष्यामि गोयज्ञं, बलादपि न सशय. ।
यद्यस्थि मयि व प्रीतिर्वंदि वा सुहृदो वयम ॥४८॥

—हरिवंश, विष्णुपर्व, अ० १७

आर्यों से सघर्ष

हरिवंश और महाभारत के इन सूत्रो को जोडने से प्रतीत होता है कि

कृष्ण ने बाल्यकाल में इंद्र के स्थान पर पर्वत को पूज्य बनाकर आर्य संस्कृति को जो चुनौती दी थी उसके घात-प्रतिघात उनके जीवन के उत्तरार्ध तक चलते रहे। कृष्ण का उदय आरंभ में आभीर नेता के रूप में हुआ था जिसके कारण अनेक क्षत्रिय उनके प्रतिद्वंद्वी व विरोधी के रूप में आगे आये, परन्तु युधिष्ठिर की सभा में शिशुपाल को मारकर उन्होंने आभीर शक्ति की अजेयता घोषित करके आर्यों का नेतृत्व स्वयं ग्रहण कर लिया। महाभारत के युद्ध में सब विघटनकारियों का उच्छेद करके वे समग्र भारतीय राजनीति और संस्कृति के समर्थ स्रष्टा के रूप में उभर कर सामने आये। भीष्म जी की अंतिम कृष्ण स्तुति में हमें कृष्ण का यही रूप प्राप्त होता है। यहां वह भारत के एकच्छत्र और सर्वमान्य नेता के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार महाभारत कौरव और पांडवों के संघर्ष का ऐतिहासिक महाकाव्य तो है ही, प्रासंगिक रूप में वह आभीरों के क्षत्रित्व और नेतृत्व प्राप्ति के संघर्ष की गाथा भी है।

महाभारत में पांडवों के साथ-साथ दुर्योधन के हृदय में कृष्ण के प्रति कम कटुता नहीं है। शिशुपाल, रुक्मी आदि अनेक क्षत्रिय यहां कृष्ण का विरोध करते दीखते हैं। वस्तुतः यह विरोध आभीरों के उदय के विरुद्ध ही आर्यों में एक वर्ग विशेष की सामूहिक प्रतिक्रिया है जो कूटनीति से कुरुक्षेत्र में इन सबके आपस में लड़ मरने के उपरांत ही समाप्त होती है जबकि आभीरों के क्षत्रित्व को चुनौती देने वाला कोई भी विरोधी शेष नहीं बचा और श्रीकृष्ण देश की सर्वप्रमुख विभूति के रूप में प्रतिष्ठित हुए जो आज भी भगवान के रूप में जन-जन के हृदयासन पर आसीन हैं। हमारा विचार यह है कि श्रीकृष्ण के इस अभ्युदय के साथ ही आभीर और आर्य-संस्कृति की एकरूपता स्थापित हुई और तभी रास-नृत्य पूरे भारतीय समाज का सामाजिक नृत्य बन गया।

आभीरों की नृत्य-परंपरा

आभीर वीर होने के साथ-साथ नृत्य-गायन के प्रेमी, बांसुरी वादक, रसिक और उन्मुक्त वन-विहारी थे। उनके समाज में नारी को भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और पुरुषों के साथ-साथ यह नारी समाज भी स्वच्छंद विहार करने वाला था। यहां नारी अधिक स्वतंत्र थी। आभीरों के सामाजिक बंधन काफी शिथिल थे। नारी अपने पति के आदेश या बंधन को माने यह उनके लिए आवश्यक न था। हरिवंश पुराण में उल्लेख है कि वृंदावन में कृष्ण के साथ हल्लीसक नृत्य में सम्मिलित होने से कुछ आभीर बालाओं को जब उनके पति या परिवार वालों ने रोकना चाहा तो उन्होंने उनकी बात नहीं मानी और वे रात्रि के समय कृष्ण के साथ विहार करने के लिए उन्हें खोजने लगीं।

ता वार्यमाणा पतिभि भ्रातृभिर्मातृभिस्तथा ।
कृष्णं गोपागना रात्रो मृगयन्ते रतिप्रिया ॥
—हरिवश, हल्लीसकक्रीडन, श्लोक २४

इस विवरण से स्पष्ट है कि इस समाज मे उत्सव, गायन और नृत्य का सहज वातावरण उपलब्ध था ।

नाट्यशास्त्र से ज्ञात होता है कि आभीर रमणिया द्विवेणीधरा होती थी और वे नृत्य-नाट्य मे विशेष रूप से भाग लेती थी, प० कृष्णदत्त वाजपेयी का कहना है कि "उनके वस्त्रालकारो का जो वर्णन नाट्यशास्त्र मे मिलता है वह मथुरा, सूरतगढ, देवगढ आदि स्थलो से प्राप्त कलाकृतियो मे देखा जा सकता है । इन कलाकृतियो मे कुछ नर्तकियो की मूर्ति भी है ।"[२२]

उत्सवो तथा विजयोत्सवो पर इस समाज मे नृत्य की जो परपरा प्रचलित थी उनमे 'हल्लीसक नृत्य' सर्वाधिक विख्यात था । इस हल्लीसक नृत्य के उनके उल्लेख प्राचीन वाड्मय में भरे पडे है । इसी से 'रासक' या 'रास' नृत्य का उदय हुआ । हरिवश मे इद्र विजय के बाद कृष्ण द्वारा गोपागनाओ को बुलाकर जो नृत्य-गायन का आयोजन हुआ उसे हरिवशकार ने 'हल्लीसक क्रीडन अध्याय' के अतर्गत वर्णित किया है। ऐसी दशा मे वह नृत्य जिसका आयोजन कृष्ण ने शरद-ज्योत्स्ना मे यमुना-पुलिन पर किया मूलत. आभीरो मे प्रचलित हल्लीसक नृत्य ही था । कालातर मे यही नृत्य अधिक कलात्मक बनकर रास के रूप मे प्रसिद्ध हो गया। इसलिए रास के नृत्य रूप के अध्ययन के लिए पहले हल्लीसक नृत्य को समझना बहुत आवश्यक है ।

हल्लीसक नृत्य

प्राचीन ग्रथो मे हल्लीसक नृत्य का हल्लीशक, हल्लीषक् व हल्लीश नाम से भी उल्लेख हुआ है । इस नृत्य के सबध मे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का विचार है कि इसका उद्गम यूनान के नृत्य इलीशियन से हुआ । डा० अग्रवाल की यह भी स्थापना है कि रास-नृत्य और हल्लीसक नृत्य की दो अलग-अलग परपराए थी परतु ईसवी सन् के आसपास दोनो का सबध हो गया । जहा तक डा० अग्रवाल की दूसरी मान्यता है इस तथ्य के काफी साक्ष्य उपस्थित है कि हल्लीसक और रास की दोनो नृत्य-परंपराए बहुत समय तक पृथक् रूप से साथ-साथ चली और अत मे हल्लीसक नृत्य रास मे ही विलीन हो गया परतु यह नृत्य यूनान से भारत आया, इस सबध मे डा० अग्रवाल ने कोई प्रमाण नही

२२ देखें, 'ब्रजलोक सस्कृति' ग्रथ मे प० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी का निबध ।

दिया है। इस संबंध मे हमने उनके जीवन काल मे ही अपनी यह शका एक पत्र मे उन्हें लिख कर भी भेजी थी, परतु वह उन दिनो रोग-शैया पर थे इस कारण हमे उनका कोई उत्तर प्राप्त नही हो पाया और उसके एक मास बाद ही वह स्वर्गवासी हो गये।

हल्लीसक नृत्य में व्याप्त जो खुलापन और उन्मुक्तता थी शायद उसी कारण डा० अग्रवाल ने उसका उद्गम यूनान से माना है क्योकि भारतीय आर्यों की सामाजिक मर्यादा से वह मेल नही खाता। लगता है कि शायद डा० अग्रवाल ने आभीरो के सामाजिक नृत्य की दृष्टि से इसके स्वरूप पर विचार नही किया होगा अन्यथा शायद वह अपना मत बदल लेते। परतु डा० अग्रवाल के अतिरिक्त किसी अन्य विद्वान ने इसका उद्गम किसी विदेशी नृत्य से नही माना है। आभीरो को जो महानुभाव बाहर से आया बतलाते हैं उनमे से किसी ने भी उन्हे यूनान का मूल निवासी नही कहा। ऐसी दशा मे हल्लीसक नृत्य का उद्गम इलीशियन नृत्य से हुआ ऐसा नही कहा जा सकता।

'हल्लीसक' की व्युत्पत्ति

अब प्रश्न यह उठता है कि 'हल्लीसक' शब्द की व्युत्पत्ति क्या है। अमरकोश आदि ग्रंथो मे हमे इस शब्द का कोई उल्लेख नही मिला। शायद आभीरो का नृत्य मानकर कोशकारो ने इसकी उपेक्षा की हो यह भी सभव हो सकता है। मथुरा मे हमे श्री गोविंद चतुर्वेदी के निजी संग्रह मे मेवाड से लीथो मे छपे एक प्राचीन 'शब्दार्थ चन्द्रामणि कोश' के चतुर्थ भाग मे हल्लीसक का उल्लेख निम्न प्रकार मिला है·

> (हल्लीषम्) योपिता मण्डली नृत्ये।
> हल्लनं प्रचलयित यस्मिन तत् हल्लीपम्। स्त्रीणा हल्लीप सह नर्तनम्त स्वार्थेकन् हल्लीपकम्—मण्डलेनतुयन्नत्य स्त्रीणा
> हल्लीषकन्सुतत्।
> स्त्रीणा मण्डलिका नृत्ये अथवा एकस्यपुमोयह्वीभि स्त्रीभिश्च सहक्रीडने स तु रास क्रीडा यथा गोपाना मण्डलीनृत्यवन्वे
> हल्लीषक विदु.।

उक्त व्याख्या के आरभ मे प्रयुक्त 'हल्लन' शब्द से हम हल्लीसक शब्द की व्युत्पत्ति का अनुमान कर सकते हैं। 'हलन' शब्द ब्रज मे गतिशीलता के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। आज भी रासधारी जब अपने बालको को रास नृत्य की शिक्षा देते हैं तो सबसे पहले वे उन्हे 'हलन' (अग-सचालन) और 'चलन' (नृत्य मे पाव लेना) सिखलाते है। ब्रज क्षेत्र मे एक और शब्द प्रचलित है

'हडल्ला' गावो मे निस्संकोच उन्मुक्त भाव से गतिपूर्ण नृत्य की सराहना के लिए भी इस शब्द का प्रायः प्रयोग होता है। तीव्रगति से नृत्य करने वाले को कहा जाता है . 'भैया वडे हडल्ला ते नाच्यौ।' ऐसी दशा मे हल्लीसक की व्युत्पत्ति भी वही है जो हलन या हडल्ला शब्द की है। हमारे विचार से हल्लीसक का शब्दार्थ तीव्रगति से किया जाने वाला नृत्य है।

हल्लीसक का मूल रूप

हल्लीसक नृत्य के लक्षण ग्रथों मे यत्र-तत्र जो उल्लेख हैं उन सभी मे प्राय. यह स्वीकार किया गया है कि इस नृत्य मे एक ही नायक अनेक नायिकाओ के साथ विहार करता था। इस विहार मे 'गोपस्त्रीणा यथा हरि.' कह कर यह भी स्वीकार किया गया है कि कृष्ण आभीर रमणियो के साथ इस नृत्य को नाचे थे। कृष्ण ने गोपियो के साथ यह नृत्य-क्रीडा कब की इसका उल्लेख हरिवश पुराण के विष्णुपर्व के अध्याय २१ मे उपलब्ध है।

इद्र को पराजित करने के उपरात श्रीकृष्ण ने यह समझकर कि "अब मेरी किशोर अवस्था समाप्त हो गई है" पहले तो उपवनो से भरे व्रज मे मस्त वैलो तथा वलवान गोपो की परस्पर युद्ध योजना की और स्वय नाक-घडियाल की तरह गौओ को पकडने व उन्हे वलवान गोपो से लडाने लगे और रात्रि होने पर युवती गोपियो और गोप कन्याओ को बुलाकर उनसे विहार करने लगे।[२३]

यह विहार और नृत्य किस प्रकार का था उसका वर्णन करते हुए हरिवशकार कहता है कि "वे झुड की झुड गोपिया खडी हो गई और श्रीकृष्ण को कभी वीच मे और कभी पार्श्व मे लेकर कृष्ण-चरित के गीत गाने लगी। वे सुदरियां सव तरह से श्रीकृष्ण का ही अनुकरण, उन्ही का अवलोकन तथा अनुसरण कर रही थी। कुछ गोपिया हाथ से तालिया वजाती, विविध भावभगी प्रदर्शित करती तथा कृष्ण-चरित गाती हुई भ्रमण करने लगी। अंत मे सभी गोपिया कृष्ण के समान नाचने, उन्ही के समान गाने तथा श्रीकृष्ण की तरह ही

२३. सकरी षागरागासु व्रजरथ्यासु वीर्यवान ।
वृपाणा जातदर्पणा युद्धानि समयोजयत् ॥ १६ ॥
गोपालाश्च वलोदग्रान्योधयामास वीर्यवान ।
वने स वीरो गाश्चैव जग्राह ग्राहवद्विभुः ॥ १७ ॥
युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ सकाल्य कालावत् ।
कैशोरक मानयन्वै सह ताभिर्मुमोद ह ॥ १८ ॥

आखें मटकाती हुई विचरने लगी।"[२४]

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि वीर आभीर जाति मे जब कोई युवक असाधारण वीरता का प्रदर्शन करता था तब उसके सम्मान मे हल्लीसक नृत्य होता था। यह वीरत्व के सम्मान मे आयोजित एक सामाजिक महोत्सव था जिसमे कन्या और युवती दोनो ही उस वीर पुरुष के साथ नृत्य-गायन और रमण करती थी जो असाधारण पौरुष का प्रदर्शन करता था। यह नृत्य मडलाकार था, क्योकि इस नृत्य का स्वरूप वीरपूजा का था अत अवश्य ही इसमे ताडव नृत्य की गतियो की प्रधानता होगी। कृष्ण वचपन से ही ताडव नृत्य मे पारगत थे और इसी नृत्य के माध्यम से वह कालिया नाग पर विजय प्राप्त कर चुके थे। उन्ही का अनुकरण गोपागनाओ ने इस नृत्य मे ज्यो का त्यो किया था, ऐसी दशा मे यह नृत्य मूलत ताडव नृत्य ही रहा होगा। आगे के श्लोक मे नारियो के कृष्ण के प्रति जिस आकर्षण का कथन है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि हाथो से ताल देने के साथ नायक का मस्तक वक्ष पर रख लेना, नदी व सरोवर मे विहार तथा आलिगन-चुवन भी इस नृत्य मे वर्जित नही थे। यह नृत्य विना किसी आडवर या तैयारी के प्रकृति के खुले वातावरण मे विना किसी औपचारिकता के तुरत आयोजित किया जा सकता था। वाद मे इस नृत्य को रास का रूप दे दिए जाने के कारण हल्लीसक का स्थान रास-नृत्य ने ले लिया था। जैन धर्म मे भी रास का जो प्रचार प्रसार हुआ उसका भी यही आधार था कि रास से भगवान नेमिनाथ प्रसन्न होते हैं।[२५] जैनो के २३वें तीर्थंकर नेमिनाथ भी आभीर थे और वह श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे यह सर्वविदित तथ्य है। अस्तु।

हल्लीसक का विकास

जैसा कि डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है रास की स्थापना होने

२४. तास्तु पक्तीकृता सर्वा रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्त्य कृष्णचरित द्वन्द्वशो गोपकन्यका ॥२५॥
कृष्णलीलाऽनुकरिण्य कृष्णप्रणिहितेक्षणा।
कृष्णस्य गतिगमिन्यस्तरुण्यस्ता वरागना. ॥२६॥
वनेषु तालहस्ताग्रै, कूजयन्त्यस्तथाऽपरा ॥
चैरुवै चरित तस्य कृष्णस्य व्रजयोषित ॥२७॥
तास्तस्यनृत्य गीत च विलासस्मितवीक्षितम्।
मुदिताश्चानु कुर्वन्त्य क्रीडन्ति व्रजयोषित ॥२८॥

२५ रगहि ए रमइ जा रासु, (सिरि) विजयसेणसूरि निमविउ।
नेमि जिणु तूसइ तासु, अविक पूरइ मणि रली ए।
(रेवतगिरि-रासु, २०)

के काफी समय बाद तक भी यह हल्लीसक नृत्य यथावत प्रचलित रहा और इसकी परंपरा भी पृथक से विकासमान रही, यह लक्षण-ग्रथो से प्रकट होता है। हरिवश के टीकाकार चक्रवाल ने हल्लीसक को आवर्त-नृत्य कहा है जिसकी पुष्टि बाणभट्ट ने भी की है तथा इसे उपरूपक विशेष कहा है। बाद मे हल्लीसक नृत्य केवल आभीरो का नृत्य न रहकर पूरे भारतीय समाज का नृत्य हो गया था और उसके नृत्य मे कुछ नाटकीयता का भी समावेश होने लग गया था। इसीलिए बाणभट्ट ने इसे नाट्य कहा है।[२६] अभिनव गुप्त ने भी इसे उपरूपक और मडलाकार नृत्य कहा है।

अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की अपनी टीका मे लिखा है कि मडल द्वारा सपन्न होने वाला नृत्य ही हल्लीसक है। इसमे एक नेता होना चाहिए जिस प्रकार कि गोपियो मे भगवान श्रीकृष्ण वात्स्यायन के टीकाकार यशोधर ने भी अभिनव गुप्त के इसी कथन की अक्षरश. पुष्टि की है—

मण्डलेन च यतस्त्रीणां नृत्य हल्लीसक तु तत्।
नेता तत्र भवदेको गोपस्त्रीणा यथा हरिः ॥[२७]

इस नृत्य मे अनेक राग, तान तथा विभिन्न प्रकार की लयो के समावेश का उल्लेख करते हुए उसने इस नृत्य मे ६४ युगलो (एक एक स्त्री के साथ एक एक पुरुष) तक के सम्मिलित होने का विधान किया है। 'शृगारप्रकाश' मे भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने हल्लीसक नृत्य मे नायिकाओ की सख्या १६ या १२ निर्धारित करके कहा है कि वे अपने हाथो को बाध कर ठीक प्रकार रखे। इन उल्लेखो से प्रकट होता है कि बाद मे हल्लीसक मे भी एक नायक के स्थान पर अनेक युग्म सम्मिलित होने लगे थे।

हल्लीसक का लोप

परतु जैसे-जैसे रास नृत्य की लोकप्रियता बढी, हल्लीसक का आकर्षण कम होने लग गया और अत मे उसे अपने आपको रास के साथ ही एकाकार कर देना पडा। आज भी अहीरो मे डडे बजाकर मडलाकार नृत्य की परंपरा

२६ "मण्डलेनु यन्नाट्य हल्लीसकिमित स्मृतम्"—बाणभट्ट

२७ इसी मत की पुष्टि अन्य लक्षण-ग्रथो से भी होती है—
हल्लीसक क्रीडनक एकस्यैव पुस, वहुभि. स्त्रीभि क्रीडन सेव रास क्रीडा।
(हरिवश, २, २०, ३५, नीलकठ)

नर्त्तकीभिरनेकाभिर्मण्लीभूद नर्त्तनम्।
यत्रैको नृत्यति नटस्त द्वै हल्लीशक विदु ॥

है। हमारे वचपन मे मथुरा की रामलीला की वारात मे जव अहीरो की यह मंडली नृत्य करती निकलती थी तो दर्शक मत्रमुग्ध रह जाते थे। अहीरो की यह नृत्य-परंपरा हल्लीसक नृत्य की ही एक स्मृति कही जा सकती है, परतु हल्लीसक स्वय नृत्य विधा के रूप मे ईसवी सन् के प्रारभ के उपरात ही रास का अग वन गया था। अव इसका स्वतत्र अस्तित्व विद्यमान नही है।

३
रास का उदय और विकास

हल्लीसक से श्रीकृष्ण ने जिस रास परंपरा को जन्म दिया वह नृत्य और गायन-प्रधान थी। इसके नाट्यरूप का विकास बाद की घटना है। आभीरो का प्रागैतिहासिक मंडल-नृत्य हल्लीसक ही महाभारत-काल मे रास के जन्म का कारण बना यह हम पिछले अध्याय मे कह चुके है।

रास का उदय-काल

राम का उदय-काल लगभग वही है जो महाभारत-काल का है। महाभारत का युद्ध किस काल मे हुआ इस सबंध मे भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो मे मतभेद है, जिसके विवेचन मे जाना यहा इष्ट नही है, भारतीय विद्वान कृष्ण-काल या महाभारन-काल को अब से पाच हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी घटना मानते हैं जबकि पाश्चात्य विद्वान इसका समय अब से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व निर्धारित करते हैं।[1] महाभारत के युद्ध के समय श्रीकृष्ण की आयु लगभग सौ वर्ष थी। वे लगभग १२५ वर्ष की आयु तक इस धराधाम पर विराजे थे।[2] इस आधार पर महाभारत के युद्ध के लगभग ८० वर्ष पहले भी यदि रास का उदय-काल माना जाए तब भी पाश्चात्य मत के अनुसार रास मच ३५०० वर्ष से अधिक पुराना तो सिद्ध होता ही है। एक नृत्य या नाट्य परपरा का विभिन्न युगो और स्थितियो मे इतनी लबी अवधि तक निरतर जीवित बने रहना जहा अपने मे एक आश्चर्य है, वही यह तथ्य उसकी महत्ता, लोकप्रियता और विशिष्टता का भी प्रमाण है। भारतीय सस्कृति के सर्वमान्य नायक भगवान कृष्ण के व्यक्तित्व ने यद्यपि इस परपरा को अमरत्व प्रदान करने मे महत्वपूर्ण भूमिका सपादित की है, परतु रास की कलात्मकता तथा समाज का इसके प्रति निरतर आकर्षण भी इसके दीर्घ जीवन के प्रमुख कारण है। इस दृष्टि से रास

१ कृष्णकाल के भारतीय दृष्टिकोण शोधपूर्ण विवेचन के लिए देखें—पोद्दार अभिनदन ग्रथ मे तिलकधर शर्मा का लेख, पृष्ठ ६६७

२. "शरच्छत व्यतीवाद पचदिशाधिक प्रभो"—भागवत

का महत्व भारतीय कलाओ के इतिहास मे अत्यधिक गौरवपूर्ण है।

रास के प्राचीन उल्लेख

भगवान कृष्ण ने रास का उदय व्रज वृदावन मे यमुना पुलिन पर व्रज गोपिकाओ के साथ नृत्य करके किया इसके वर्णन पुराणो मे सर्वत्र उपलब्ध हैं। पुराणो के अतिरिक्त भी विभिन्न भाषाओ के साहित्य मे श्रीकृष्ण के व्रज मे किये गये इस नृत्य के वर्णन उपलब्ध है। दक्षिण मे शिलपादिकारम् (द्वितीय शताब्दी) और मणिमेखैल के अनुसार वहा के अति प्राचीन नृत्य 'कुरावइकूत' के सबध मे वर्णन मिलता है कि श्रीकृष्ण उनकी प्रेयसी 'नाप्पिनै' और उनके भाई बलराम ने सात गोपियो के साथ हाथ मे हाथ डालकर 'कुरावडकूत' नृत्य किया था।[3] यहा राधा का स्थान 'नाप्पिनै' ने तथा रास का स्थान 'कुरावइकूत' ने ले रखा है। इस प्रकार धुर दक्षिण तक रास के प्रारंभकर्ता श्रीकृष्ण ही स्वीकार किये गये है भले ही वहा उसका नाम 'रास' न हो।

पुराणो का कथन है कि शरद निशा मे श्रीकृष्ण के हृदय मे रमणेच्छा जागृत हुई[4] और उन्होंने वृदावन मे यमुना पुलिन पर वासुरी-वादन करके गोपिकाओ को रास के लिए आमन्त्रित किया।[5]

यहां ध्यान देने की बात यह है कि हरिवशकार ने हल्लीसक के रूप मे जिस नृत्य का कथन किया है परवर्ती पुराणो मे वर्णित रास वर्णनो से उसमे कुछ भिन्नता है। हरिवश मे वासुरी-वादन का उल्लेख नही है जो बाद के पुराणो मे पाया जाता है। श्रीकृष्ण की इंद्र-विजय से भी इन पुराणो मे रास को नही जोडा गया है, यह उसका स्वतत्र रूप से कथन करते है। इससे यही अर्थ लिया जा सकता है कि इंद्र-विजय पर श्रीकृष्ण ने आभीर रमणियो के साथ जो हल्लीसक नृत्य किया था, वही बाद मे शारदी निशाओ मे उनके व्रजवास-काल मे प्राय किया जाता रहा और वही रास के रूप मे प्रसिद्ध हो गया।[6] मच्छुकदेव

३ रासलीला एक परिचय, पृष्ठ १७

४ कृष्णस्तु यौवन दृष्ट्वा निशिचन्द्रामसो वनम्।
शारदी च निशा रम्या मनश्चक्रे रति प्रति॥

५ ब्रह्मपुराण, अ० ११८, विष्णुपुराण, पचमाश, अ० १३

६ यद्यपि हल्लीसक रास नृत्य के रूप मे कृष्णकाल मे ही प्रसिद्ध हो गया था फिर भी आभीरो के हल्लीसक नृत्य की परपरा और याद बहुत बाद तक बनी रही और साहित्य मे उसके उल्लेख भी होते रहे। भास ने अपने नाटक 'बाल-चरित्र' के अक ३ मे कृष्ण का रास के लिए नही वरन हल्लीसक नृत्य के लिए ही वृदावन जाने का उल्लेख किया है।
(मातुल सर्व तावत् तिष्ठतु। अद्य भर्तृदामोदरो स्मिन् वृन्दावने गोपकन्यकाभि हल्लीसक नाम प्रक्रीडितु आगच्छति) वृद्ध गोपालक तेनाहि सर्वेगोपजनै सहभर्तृदामोदरस्य हल्लीसक पश्च्याम। (चौखम्बा प्रकाशन, पृष्ठ ५५)

के 'सिद्धात प्रदीप' से हमारी इस स्थापना की पुष्टि होती है। उनका स्पष्ट कथन है कि 'रासक्रीडानाम् रासोनाम वहुनर्तकी युक्ते नृत्य विशेष स एव हल्लीश इति युगान्तरे प्रसिद्धः।' इस कथन के अनुसार युगो से हल्लीश नाम से प्रसिद्ध नृत्य ही रास के नाम से पुनर्गठित हुआ। इसी मत की पुष्टि करते हुए भोज कहते हैं कि हल्लीसक से रास मे विशेषता यह थी कि हल्लीसक की अपेक्षा यह नृत्य विशेष तालबध से युक्त था—"तादिद हल्लीसकमेव तालबध विशेष-युक्त रासएवेत्युच्येत।' इस कथन से प्रकट होता है कि नटनागर कृष्ण की कला ने हल्लीसक को अधिक कलात्मक रूप देकर उसे रास या रासक का रूप प्रदान किया था। यह कलात्मक विकास क्या था इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहा तो हम यही कहना चाहते हैं कि रास का उदय व्रज मे श्रीकृष्ण द्वारा हुआ और यह नृत्य प्रारभ मे उनके साथ आभीर रमणियो द्वारा नाचा गया।

परतु उस समय आभीरो का मथुरा नरेश कंस से जो सघर्ष छिडा हुआ था, श्रीकृष्ण की अधिक शक्ति उसी मे केंद्रित रही। व्रज मे रहते हुए वह रास के कलात्मक क्षेत्र मे अधिक कार्य करने का अवकाश नही पा सके। कस-वध के उपरात जब मथुरा राज्य का नेतृत्व श्रीकृष्ण के हाथ मे आ गया और आभीर तथा यादवो का पारस्परिक भेदभाव समाप्त होकर द्वारका मे इनका एक सयुक्त नया उपनिवेश वस गया तब ये लोग वहा शाति के साथ रहे। तभी उस शात और राजसी वातावरण मे आभीर और यदुवशियो को अपनी कला-परपरा को भी विकसित करने का अवसर मिला और वही रास के विकास के भी नवीन मार्ग खुले।

जैसा हम पहले कह चुके है रास नृत्य जब व्रज मे प्रारभ हुआ तब उसमे ताडव तत्त्व का प्राधान्य था, परतु द्वारका मे जब इसका विकास हुआ तब यादव (आभीर) रमणियो ने जो पहले से ही रास की प्रेमी थी, इस कला को विशेष रूप से सीखा। रास को लास्य रूप देकर नागरता प्रदान करने मे अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण के पौत्र) की विदुषी पत्नी उषा का महत्वपूर्ण योगदान था। श्रीकृष्ण की यह पौत्र-वधू शिव के परमभक्त असुर नरेश बाणासुर की प्रिय पुत्री थी और उसे नृत्य की शिक्षा बाल्यावस्था मे स्वय माता पार्वती से प्राप्त हुई थी। उसने रास को लास्य रूप देकर द्वारका के रमणी समाज मे लोकप्रिय बनाया। शार्ङ्गदेव ने अपने 'सगीत रत्नाकर' मे इस प्रसग का उल्लेख किया है

लास्यम स्याग्रत प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत् ॥६१॥
पार्वती त्वनु शास्तिस्म, लास्य बाणात्मामुषाम्।
तया द्वारावती गोप्यस्ताभि सौराष्ट्रयोषित. ॥७॥

तामिस्तु शिक्षिता नार्यो नाना जनपदारपदा ।
एव परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ॥८॥

इस प्रकार उषा के प्रयत्न मे रास मे सुकुमार भावनाओ का विकास हुआ और उसे विशेष कलात्मक स्तर प्राप्त हुआ। द्वारका मे ही इस नृत्य मे नाटकीयता का भी समावेश हुआ और लोकनायक श्रीकृष्ण की बाल लीलाए इन नृत्यो के माध्यम से प्रदर्शित की जाने लगी।[७]

हरिवश पुराण मे द्वारका के पिंडारक क्षेत्र मे आयोजित एक उत्सव का विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे आभीर और यादव सस्कृति की एकरूपता प्रमाणित होती है, तथा द्वारका मे रास का किस रूप मे विकास हुआ उसका भी पूरा स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए यहा इस महोत्सव का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

हरिवश पुराण का एक महोत्सव द्वारका का जल-विहार

हरिवश पुराण के अनुसार यह उत्सव द्वारका के पिंडारक क्षेत्र मे समुद्र के तट पर हुआ था। हरिवशकार ने इस उत्सव के माध्यम से यादवो के चरित्र का सागोपाग चित्र खीच दिया है। वे यहा अत्यत वीर होने के साथ-साथ उच्च कोटि के विलासी भी चित्रित किये गये हैं। हरिवशकार ने कहा है कि यादवो मे एकमात्र बल्देव जी ही ऐसे थे जो केवल अपनी पत्नी रेवती पर ही अनुरक्त थे।[७] अन्य समस्त यादव प्राय स्त्रियो के लिए लड मरते थे इसलिए भगवान कृष्ण ने भारी सख्या मे सुदरी वारागनाओ को द्वारका लाकर बसाया था।[८]

इस महोत्सव मे यादवो के उन्मुक्त विहार का जो विशद वर्णन है वह उसी हल्लीसक के वर्णन का विशद और राजसी रूप है जो ब्रज के आभीरो की बस्ती मे कृष्ण ने अपनी किशोरावस्था के अत और यौवन के आगमन पर यमुना पुलिन पर रचाया था। यह उत्सव आभीरो और यादवो की सास्कृतिक एकता

७ रेवत्या चैकया सार्ध बलो रेमेऽनुकूलया ।
चक्रवाकानुरागेण यदुश्रेष्ठ प्रतापवान् ॥ हरिवश, विष्णुपर्व, अध्याय ९०, श्लोक ११।

८ सामान्यास्ता कुमाराणा क्रीडानार्यो महात्मनाम् ।
इच्छा भोग्या गुणैरेव, राजन्या वेषयोषित ॥
स्थितिरेषा हि सैमाता कृता कृष्णान धीमता।
स्त्रीनिमित्त भवेद्वैर या यदूनमितिप्रभो ॥

को घोषित करता है। इस उत्सव के नृत्य और गायन को हरिवंशकार ने स्पष्ट रूप से रास कहा है।[९] इससे यह सिद्ध होता है कि आभीरो के गोपालक कबीलो मे नृत्य और गायन की जो लोक परंपरा हल्लीसक के नाम से विख्यात थी उसे ही द्वारका मे कृष्ण और यादवो ने नागरिक रूप देकर और भव्य बनाकर 'रास' के रूप मे विकसित किया था। हरिवश मे 'रास' शब्द का प्रथम प्रयोग इस उत्सव के नृत्य के लिए ही हुआ है। शृगार रस से सिक्त नृत्य गायन की यह परपरा रास कहलाई।[१०]

यहा हम सक्षेप मे उत्सव की रूपरेखा दे देना चाहते है जिससे यादव और आभीरो की सस्कृति तथा रास का वह रूप स्पष्ट हो सके, जिसके कारण रास को रस का समूह माना गया।

हरिवंश के अनुसार इस उत्सव मे सभी यादवो ने पहले डट कर मदिरापान किया फिर कृष्ण के नेतृत्व मे सुदर नारियो के साथ समुद्र के जल मे बैठकर वे मस्ती मे परस्पर जल उछाल-उछालकर विहार करने लगे। यादव नारियो के अतिरिक्त द्वारका की गणिकाए भी इस उत्सव मे सम्मिलित हुई थी। यादवगण उनके अभिनय, नृत्य व सौदर्य पर विमुग्ध हो गये। यह देखकर भगवान कृष्ण ने बाहर से भी उच्चकोटि की अप्सराए बुलवायी और उनके गायन-वादन और स्वर्गीय अभिनय ने यादवो को मुग्ध कर लिया, तब इन सुदरियो को साथ लेकर यादवगण रैवतक पर्वत, घरो या वनो मे चले गये और वहा इच्छानुसार विहार करके पुन लौट आये। पुष्पो और अंगरागो से सुवासित इन महिलाओ के साथ यादवो ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित १६ हजार रमणियो के रमण करने के लिए बनाई गयी विभिन्न आकार की नौकाओ पर पुन नौका-विहार किया, जिनमे सब विलास के साधन तथा मूल्यवान से मूल्यवान रत्न-राशि उपलब्ध थी।

नृत्य और अभिनय

जब बलराम रेवती के साथ, कृष्ण अपनी रानियो के साथ तथा यादव अपनी रुचियो के अनुसार विभिन्न सुदरियो के साथ विहार का आनद ले रहे थे तो वहा कुछ और प्रमुख अप्सराएं आ उपस्थित हुईं और कृष्ण की आज्ञा से उन्होने बलराम व रेवती के निकट आकर उनके आनद के लिए नृत्य किया

९ रासावसाने त्वथ गृह्य हस्ते महामुनि नारदमप्रमेय।
प्रताप कृष्ण भगवान्समुद्रे सात्रजिती चार्जुनेव चाथ॥ (अध्याय ८९, श्लोक ३०)

१० परवर्ती भक्तिकाल मे भी रास की व्याख्या भक्तो ने एक स्वर से 'रसाना समूहो रास' कह कर की है।

तथा कृष्ण की अनेक बाल लीला तथा द्वारका लीलाओ का अभिनय किया। यह उत्सव ही रास के नाट्य रूप के विकास का सभवत. प्राचीनतम विवरण है इस दृष्टि से इन प्रदर्शनो पर यहा विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

रास मे नाट्य का उदय और उसका स्वरूप

'छालिक्य सगीत' उत्सव के प्रारभ मे अप्सराओ द्वारा रास नृत्य तथा कृष्ण लीलाओ के प्रदर्शन का उल्लेख निम्न प्रकार हुआ है

चक्रुस्तथैवाभिनयेन लब्वं यथावदेषा प्रियमर्थयुक्तम्।
हृद्यानुकूल च बलस्य तस्य तथाजया रैवतराज पुत्र्या. ॥६॥
चक्रुर्हमन्त्यश्च तथैव राम, तद्देशभाषाकृतिवेषयुक्ता।
सहस्तताल ललित सलील वरागना मगलमगृताग्यच. ॥७॥
संकर्षणाधोक्षजनन्दनानि, संगीर्तकत्योऽथ च मगलानि।
कम प्रलम्वादिवध च रम्य चाणूरघात च तथैव रगे ॥८॥
यशोदयाच प्रथित यशोऽथ दामोदरत्वं च जनार्दनस्य।
वध तथारिष्टकधेनुकाभ्या, व्रजे च वास शकुनीवध च ॥९॥
तथा च भग्नौ यमलार्जुनौतौ सृष्टि वकाणामपि वत्सयुक्ताम्।
स कालियो नागपतिर्ह्रदे च, कृष्णेन, दान्तश्च यथा दुरात्मा. ॥१०॥
शसह्रदादुद्धरणं च वीर पद्मोत्पलाना मधुसूदनेन।
गोवर्धनोऽर्थे च गवा धृतोभूद्यथा च कृष्णेन जनार्दनेनः ॥११॥
कुब्जा यथा गन्धकपीपिका च कुब्जत्वहीना कृतवाश्च कृष्ण.।
अवामन वामनक चक्रे कृष्णो यथात्मानमनोऽप्यनिद्य ॥१२॥
सौभप्रमाथ च हलायुधत्व वध मुरस्याप्यथ देवशत्रो.।
गन्धार कन्यावहने नृपाण रथे तथा योजनमूर्जितानाम् ॥१३॥
तत सुभद्राहरणं जय च युद्धे च वालाहकजम्बुमाले।
रत्नप्रवेक च युधाजितैर्यत्समाहृत शक्र समीक्षमासीत ॥१४॥
एतानिचान्यानि च चारुरूपा जगु स्त्रिय प्रतिकाराणिराजन्।
सकर्षणाधोक्षजहर्षणानि चित्राणि चानेक कथा श्रयाणि ॥१५॥
कादम्बरीपान मदोत्कटस्तु बल पृथुश्री स चुकूर्द राम.।
सहस्तताल मधुर समच स भार्यया रैवतराज पुत्र्या ॥१६॥

(हरिवश पुराण, छालिक्य संगीत अध्याय)

उक्त वर्णन से यह प्रकट है कि अप्सराओ ने बलराम जी को नमस्कार करके पहले उन्हे रास नृत्य दिखाया और फिर उनके मनोरजनार्थ उनकी तथा श्रीकृष्ण की व्रज तथा द्वारका जीवन की कुछ प्रमुख लीलाए दिखायी। वे

लीलाएं थी :

कस, प्रलम्ब, अरिष्ट, वक, चाणूर तथा धेनुक के वध की लीलाए, कृष्ण के दामोदर नाम प्राप्ति, व्रज निवास, यमलार्जुन भग, वृको की सृष्टि, कालिय-दमन, समुद्र से शंख का उत्तोलन, गोवर्धन धारण, कुब्जा का कुब्जात्व दूरीकरण, वामन रूपधारण, सौभ विनाश, हलायुध नामधारण, गाधारराज की कन्या से विवाह मे महारथी राजाओ के साथ युद्ध, सुभद्राहरण के समय युद्ध मे विजय प्राप्ति, पुरुदैत्य का वध, वलाहक और जम्वुमाली के साथ युद्ध तथा इद्र के समक्ष सैनिको द्वारा रत्नराशि का अपहरण।

ये सब लीलाए अभिनेय के साथ-साथ गेय भी थी जिनके गायन से वलराम ऐसे अविभूत हुए कि वे स्वय भी अपनी प्रिय पत्नी रेवती के सहित हाथो से सुमधुर ताल देते हुए इस गायन से पूर्ण लीलाओ मे सम्मिलित हो गये।

हरिवश के इस वर्णन मे निम्न तथ्य विशेप ध्यान देने योग्य है :

(१) जिन लीलाओ के नाम उक्त सूची मे गिनाये गये हैं वे सभी वीर रस की हैं। इनसे हमारे पूर्व प्रकट मत की पुष्टि होती है कि रास मूल रूप से ताडंव नृत्य था।

(२) छालिक्य-सगीत के इस रासलीला वर्णन मे कृष्ण-बलराम के अनेक वीरतापूर्वक युद्धो व विजयो का उल्लेख है किंतु इसमे 'कृष्ण वाणासुर सग्राम' के अभिनय का कथन नही है। इसका कारण यह है कि वाणासुर से कृष्ण का युद्ध उस उत्सव के वाद की घटना थी। वाणासुर से युद्ध के उपरात ही उसकी राजकुमारी उषा का अनिरुद्ध से विवाह हुआ था और उसी दैत्य राजकुमारी ने तांडव से युक्त इस रास मे लास्य की प्रतिष्ठा की थी, यह हम पहले कह चुके है। अतः रास मे लास्य की भावुकता और कोमलता का उदय वाद की घटना है जिस पर रास का परवर्ती वर्तमान ढाचा खडा हुआ है।

(३) तीसरी महत्वपूर्ण वात इस विवरण से यह प्रकट होती है कि जिन लीलाओ का अभिनय इस उत्सव मे हुआ वे अनेक हैं। एक ही समय मे उनका लगातार अभिनय किया गया था। इससे प्रकट होता है कि ये लीलाए वहुत छोटे-छोटे एकाकी के ढग के गेय रूपक थे। उत्सव का वर्णन पढने से जो वातावरण वनता है उससे लगता है कि इन अल्पकालीन गेय अभिनयो मे नृत्य का भी पूरा-पूरा योग रहा होगा। विशेप रूप से चरम सीमा (क्लाइमेक्स) के चित्रण मे उसे अधिक महत्व दिया गया होगा।

(४) इस अभिनय का अप्सराओ द्वारा किया जाना विशेप रूप से ध्यान देने वाली घटना हे। हरिवंश मे अन्यत्र उल्लेख है कि भगवान कृष्ण ने

यादवो के मनोरजन के लिए द्वारका मे दूर-दूर से लाकर सुदर स्त्रियो को वसाया था। 'छालिक्य-सगीत' से पूर्व रास और कृष्ण लीला प्रस्तुत करने वाली ये अप्सराए संभवत वही रमणिया थी जो द्वारका मे निरंतर कलात्मक वातावरण वनाए रखने के लिए लाई गई थी। इन रमणियो के द्वारा रास नृत्य तथा कृष्ण की जीवन लीलाओ का प्रदर्शन देखना यादवो का मुख्य आकर्पण रहा होगा। इसलिए इन्हे इन लीलाओ के लिए विशेप रूप मे प्रशिक्षित किया जाता रहा होगा। इस प्रकार कृष्ण-चरित के अभिनय की व रास की व्यावसायिक परपरा का इस रूप मे श्रीगणेश श्रीकृष्ण के जीवन-काल मे ही हो गया था। यह तथ्य इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

(५) द्वारका मे जव कृष्णलीलाओ के अभिनय के लिए इन अप्सराओ को प्रशिक्षित किया गया होगा तो उन्हे प्रशिक्षित करने के लिए ये कृष्ण-लीलाए 'रासक' के रूप मे लिखी भी अवश्य गई होगी। हमारा अनुमान है कि द्वारका मे रचित ये 'रासक' ही परवर्ती रासक ग्रथो की रचना परपरा के मूल आधार वने। यही से यशस्वी व्यक्तियो के जीवन की मुख्य घटनाओ पर 'नाट्य-रासक' लिखने का क्रम प्रारभ हुआ होगा, जो वाद मे अनेक दिशाओ और अनेक रूपो मे विकसित हुआ। सौराष्ट्र के इन्ही परवर्ती रासक ग्रथो के आधार पर इस युग मे श्री फावर्स 'रास-माला' जैसे महत्वपूर्ण ग्रथ की रचना कर पाए हैं जिनका मूल आधार द्वारका की यह रास-परपरा ही थी।

सभव है कि कुछ विद्वान हमारी उक्त मान्यता से सहमत न हो क्योकि उन्हे हरिवश के उक्त वर्णन मे ऐतिहासिकता के समुचित आधार के दर्शन शायद न हो। परतु यदि ऐसा हो भी, तव भी उन्हे यह तो मानना ही पड़ेगा कि चतुर्थ शताब्दी मे पूर्व ही (जो हरिवश का रचना-काल है) मच पर उक्त रासको का प्रदर्शन अवश्य ही प्रचलित था तभी हरिवशकार ने उनके अभिनय का इस अधिकार और दृढता से सागोपाग वर्णन किया है। ऐसी दशा मे यह स्वीकार न करने का कोई कारण नही रहता कि ईसवी सन के प्रारभ मे नाट्य रासको की यह परपरा प्रचलित थी जिसका उल्लेख भरत ने 'नाट्य-रासक' के नाम से किया और चौथी शताब्दी मे इस देश मे कृष्ण लीलाओ को 'रासक' रूप मे प्रदर्शित करने की इसी गेय नृत्य-परपरा का वर्णन हरिवश पुराण के इस उत्सव मे उपलब्ध होता है। खेद है कि इस युग का लिखित कोई 'रासक ग्रथ' उपलब्ध नही हो सका है, अन्यथा कृष्णलीला के नाट्य रूप का पूरा स्वरूप और स्पष्ट हो जाता। अस्तु।

रास-नृत्य

हरिवशकार इन लीलाओ के उपरात पुन· रास-नृत्य के आयोजन का

उल्लेख करता है। उसका कथन है कि अभिनय और नृत्य के इस सरस वातावरण मे जव कादवरी-पान करके मदमत्त वलराम रेवती के साथ ताली वजाकर नृत्य करने लगे तव भगवान कृष्ण भी वलराम जी को आनदित करने के लिए सत्यभामा के साथ वहा जाकर इस नृत्य-गायन मे सम्मिलित हो गये। उस समय अर्जुन भी संयोग से वहा उपस्थित थे। वह भी वहा वैठकर गाने लगे। फिर तो सभी प्रमुख यादव और सुदरी तथा अप्सराए उस नृत्य-गायन मे सम्मिलित हो गयी। तभी वहा देवर्षि नारद भी आ पहुंचे और वह भी उस समय सवके साथ मिलकर इतना नाचे कि उनकी जटाएं खुलकर छितरा गयी। वहा नृत्य-गायन के साथ हास-परिहास का भी अपूर्व वातावरण सवको आनंदित करने लगा। इस प्रकार रास का यह आयोजन समाप्त हुआ तो कृष्ण नारद का हाथ पकड कर सत्यभामा और अर्जुन के साथ जल मे कूद पड़े। तव कृष्ण और वलराम के नेतृत्व मे यादवो के दो दल बने और वे परस्पर जलक्रीडा करने लगे। जलक्रीडा के साथ यादवो व अप्सराओ का गायन-वादन भी उच्च स्वर मे आरभ हो गया।

जलक्रीडा के वाद सभी यादवों ने विभिन्न प्रकार के मिर्च पडे सुस्वादु मासो का भोजन किया। उद्धव आदि जो एक-दो यादव मांस नही खाते थे उन्होने सुस्वादु निरामिष भोजन किया। भगवान कृष्ण ने स्वयं सवको भोजन परोसा। वाद मे सभी ने अपनी प्रियतमाओ के साथ मद्यपान किया।

छालिक्य-गीत

रात्रि हो जाने पर सगीत सभा आरभ हुई। इस सगीत सभा की विशेपता यह थी कि इस समय नारदजी व स्वर्ग से आयी अप्सराओ ने सर्वप्रथम छालिक्य गीत (जो अव तक स्वर्ग के देवताओ की ही वस्तु थी) प्रथम वार मर्त्यलोक मे कृष्ण की कृपा से यादवो को सुनाया और उन्हे वह गीत सिखाया। यह गीत नारद की वीणा पर गाया गया। अर्जुन ने मृदग तथा अन्य अप्सराओ ने अन्य विविध वाद्य वजाए। श्रीकृष्ण वशी वजाने लगे और सभी नारिया उन्हे घेर कर नाचने लगी। नृत्य के वाद रम्भा ने अभिनय द्वारा भगवान को आनदित किया और फिर स्वर्ग की अन्य अप्सराओ ने भी अपनी कला दिखायी। भगवान ने सभी कलाकारो को अपने हाथ से तावूल देकर सम्मानित किया।

स्वर्ग के इस छालिक्य-गीत के प्रथम यदुवशी गायक प्रद्युम्न थे जिन्हे श्रीकृष्ण ने गायन के उपरात स्वय तावूल दिया। यादवो मे मे केवल वलराम, कृष्ण, अनिरुद्ध और साम्व ही इस छालिक्य गीत के मर्त्यलोक मे सफल गायक हुए। इन्ही से यह गीत-परपरा लोक कल्याणार्थ इस भूमि पर स्थिर

हुई। इस गायन के अनतर अप्सराओ ने भगवान से विदा मागी और यह उत्सव समाप्त हुआ।

आभीर और यादवों की सस्कृति की एकरूपता

इस वर्णन से यादवो की उत्सवप्रियता पर यथेष्ट प्रकाश पडता है। जल-विहार, मदिरा-पान, नृत्य-गायन, तथा अभिनय इनके मनोविनोद के मुख्य माध्यम थे। कलाकारिता इस समाज के जीवन का मानो अभिन्न अंग ही थी। द्वारका मे पहुचकर यदुवंशी स्वर्गीय सगीत को सीखकर उसमे भी पारंगत हो गये थे। महिलाए और पुरुष सभी नृत्यकला के ज्ञाता थे और उत्सवो मे सामूहिक रूप से उन्मुक्त नृत्य करते थे। भगवान कृष्ण की जीवन-लीलाओ के प्रदर्शन मे इनकी विशेष रुचि थी। मिर्च-मसालो मे वने विभिन्न पशुओ तथा पक्षियो का मास इनका प्रिय भोजन था। अगराग और पुष्प इन्हे विशेष प्रिय थे। इस युग के सभी सुपास व विलास के उत्कृष्ट साधन इन्होने अपने पुरुषार्थ से जुटा लिये थे।

इस समाज मे स्त्रियो को भी पुरुषो जैसी ही स्वतन्त्रता थी, तथा उत्सवो के अवसर,पर कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ उन्मुक्त विहार कर सकती थी। पुरुषो को भी किसी सुदरी या वारागना के साथ निस्सकोच रमण करने की पूरी छूट थी। समाज मे इस प्रकार के आचरण को बुरा नही माना जाता था। छोटे वडे सव मिलकर एक-दूसरे के सामने विना किसी लज्जा या सकोच के विहार करते थे। पिता और पुत्र सभी निस्सकोच साथ-साथ सुरापान और स्वच्छद रमण करते थे। समाज के मुख्य पुरुष युवको के इस प्रकार के व्यवहार को प्रोत्साहित करते थे और उसमे प्रसन्नता अनुभव करते थे। समाज के युवक इस संसार के सभी सुखो को खुलकर भोग इसका वे स्वयं प्रबंध करने की चेष्टा करते थे और उनके लिए सभी सुविधाए जुटाते थे। यह पूरी जाति ही उत्सव-प्रेमी थी। नगर के बाहर प्राकृतिक वातावरण मे जल के किनारे उत्सव करना इन्हे विशेष प्रिय था क्योकि जल-विहार इनके उत्सव का अनिवार्य अंग था।[११] यदि इस उत्सव की तुलना आभीरो के बाल्य-काल मे किये गये श्रीकृष्ण के 'हल्लीसक क्रीड़न' से की जाय तो वह इस उत्सव का ही लघु रूप था। इससे इन दोनो सस्कृतियो की एकरूपता स्पष्ट हो जाती है।

११ व्रज के आभीरो मे बाल्यकाल मे कृष्ण ने जब हल्लीसक-नृत्य किया था तब यमुना तट को छाटा या और वहा भी गोपियो के साथ जल-विहार किया था। यहा इस उत्सव में समुद्र मे उसी प्रकार के जल-विहार और नृत्य-गायन के अधिक व्यापक आयोजन का वर्णन है।—लेखक

इस उत्सव के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आभीरो की लोक सस्कृति द्वारका के यादवो के राजसी साधनो मे नागरता प्राप्त कर गई और उसका कलात्मक स्तर इतना ऊचा उठ गया कि उनका गायन भी स्वर्गीय छालिक्य-गीत से सयुक्त हो गया। यहा हल्लीसक ने अपना लोक रूप छोडकर रास की नागरता प्राप्त करली थी।

परंतु कलाओ का स्तर सदैव एक-सा नही रहता। उच्च वर्ग की कला (आज की भाषा मे शास्त्रीय विधा) जनता मे पहुचकर लोकधर्मी हो जाती है और लोककला सुदृढ हाथो मे पडकर उच्चस्तरीय (शास्त्रीय) हो जाती है। रास विधा के साथ भी ह्रास और विकास का यह क्रम निरतर चलता रहा है।[१२] राजपुरुषो का यह रास भरत तक आते-आते लोकधर्मी विधा के रूप मे व्यापक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। इसीलिए भरत और अग्निपुराण दोनो ने रासक को उपरूपको मे स्थान दिया है। भरत ने रासक के दो भेद किये है · (१) नृत्य-रासक, (२) नाट्य-रासक। नृत्य-रासक नृत्य और गायन की परपरा थी किंतु नाट्य-रासक का नृत्य रूप कला और अभिनय से सयुक्त था।

नृत्य-रासक के भरत ने तीन उपभेद किये है : (१) मडल-रासक, (२) दड-रासक, (लकुट-रासक) और (३) ताल-रासक। नाट्य-रासक के उपभेदो का भरत ने कोई उल्लेख नही किया, परंतु परवर्ती साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट आभासित होता है कि नाट्य-रासक के भी दो रूप थे : (१) श्रीकृष्णलीला के आधार पर होने वाले नृत्य-नाट्य, (२) इसी शैली मे अन्य कथानको पर आधारित नाट्य। भरत के बाद रास के इन विभिन्न उपरूपो का विभिन्न क्षेत्रो और वर्गो मे व्यापक रूप से प्रचलन हो गया। मच के साथ-साथ रास की गेय परपराओ और नृत्य-रूपो का भी विस्तार हुआ जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

१२. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल 'रास और रासान्वयी काव्य' की भूमिका मे पृष्ठ ४ पर कहते हैं :
"व्यक्ति-भेद, देश-भेद और काल-भेद के अनुसार लोकानुरजन के विविध प्रकारो का सग्रह घट-बढ सकता था।"

४

रास की नृत्य-परंपरा

महाभारत युद्ध के उपरात कृष्ण भारत की सर्वमान्य अन्यतम विभूति के रूप मे उदित हो गये थे और कालातर मे उनका सम्मान इतना बटा कि वह १६ कलाओ से परिपूर्ण साक्षात लीला पुरुषोत्तम ही मान लिये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके द्वारा संस्थापित रास-नृत्य भी पूरे देश मे सम्मानित हुआ। वह शीघ्र ही भारत का सामाजिक नृत्य वन गया और उसके स्थानीय स्थिति के अनुरूप विभिन्न नाम और रूप हो गये। फिर भी इस मडलाकार नृत्य मे स्थानीय विभिन्नताओ के साथ भी एकरूपता वनी रही। लक्षण ग्रथो मे विविध रूपो मे रास के उल्लेख इसी एकता मे निहित विभिन्नता के भिन्न-भिन्न रूपो से आभासित हो जाते हैं। भरत ने इस रास-नृत्य का 'रासक' नाम से वर्णन किया है और इसके तीन भेद किये हैं: (१) मंडल-रासक, (२) लकुट रासक और (३) ताल रासक। ये तीनो ही प्रकार के नृत्य पृथक-पृथक और सयुक्त नृत्य के रूपो मे आज तक रास-नृत्य के अंग वने हुए हैं और इनका समाज मे व्यापक प्रभाव व प्रचार है।

इन सव नृत्यो मे भी मडलाकार नृत्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हे। वह पूरे रास-नृत्यो का प्राण है.

> स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैव धृतहस्तै क्रमस्थितै.।
> मण्डल क्रियते नृत्य, स रास प्रोच्यते वुधै॰॥

इस मडल मे जव हाथ मे डडे लेकर उन्हे वजाते हुए उल्लासपूर्वक नर और नारी सामूहिक रूप से नाचते थे तव वह लकुट-रास या दडक-रास का रूप ग्रहण कर लेता था। जव यह नृत्य विशेप तालवधो मे नाचा जाता या तव उसे ताल-रासक कहा जाता था। रास का यह नृत्य रूप उसके अभिनय रूप से अधिक महत्वपूर्ण था।

यही कारण है कि प्राचीन लक्षण-ग्रथो मे रास के नृत्य रूप का अवश्य

उल्लेख हुआ है जबकि उसके नाट्यरूप की कई लक्षण-ग्रथो मे उपेक्षा भी हो गई है। उदाहरण के लिए 'दशरूपक' तथा 'अभिनय भारती' मे रासक का उल्लेख नृत्यो मे ही किया गया है उपरूपको मे नही। शारदातनय ने नृत्य के २० भेदो का उल्लेख किया है और उन्हे रूपक के अवातर भेदो मे सम्मिलित कर लिया है। उसने भी रास को नृत्य ही कहा है परंतु 'नाट्य-रासक' को वह उपरूपक स्वीकार करता है।

व्यापक विस्तार

ईसवी सन् के प्रारंभ के बाद रास नृत्य की यह परपरा सभी धर्मों और क्षेत्रो मे निरतर विकासमान रही। वैष्णव धर्मावलवियो के साथ-साथ रास का नृत्य रूप तो बौद्ध और जैन धर्म मे भी ग्राह्य था। जैन धर्म मे तो रास-नृत्य तभी से मदिरो मे पूजा और उपासना के अग बन गये जब से यदुवंश मे उत्पन्न भगवान नेमिनाथ को इस धर्म का २३वा तीर्थंकर स्वीकार किया गया। भगवान नेमिनाथ जी की प्रसन्नता के लिए जैन मदिरो मे रास-नृत्य और नाट्य दोनो ही उपासना के अग मान लिये गये।[1] बाद मे जब ये नृत्य धीरे-धीरे कलात्मकता का बाना उतार कर रसिकता की सीमा पार करके अश्लीलता से जुडने लगे तो जैन मदिरो मे इन पर रोक लगा दी गई, परतु तब भी रासक गायन की परपरा वहा धर्म के अनिवार्य अग के रूप मे आज भी विद्यमान है।

बौद्ध धर्म मे रास

बौद्ध धर्म मे रास-नृत्यो की यह परपरा अपने प्रारभिक काल मे अधिक लोकप्रिय हुई। बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार अशोक के समय मे हुआ था। अशोक के गुरु बौद्ध भिक्षु उपगुप्त मथुरा के निवासी एक गधी के पुत्र थे, यह बौद्धग्रंथ 'दिव्यावदान' से प्रकट है। मथुरा मडल रास की नृत्य परपरा का जनक ही था, ऐसी दशा मे जब मथुरा उपगुप्त के प्रभाव से बौद्ध धर्म का प्रधान केंद्र बना तो हल्लीसक और रास की यह नृत्य परपरा भी उसके साथ जुड गयी होगी जो काफी लबे समय तक बौद्ध धर्म के प्रचार का एक मुख्य साधन बनी रही। हमारे इस मत की पुष्टि श्री दशरथ ओझा के इस कथन से भी होती है

1. रैवतगिरि रासक मे लिखा है कि "श्री जयदेव सूरि कृत इस रास का जो उत्साह-पूर्वक अभिनय करेगा उस पर नेमिनाथ जी प्रसन्न होगे और देवी अबिका उसकी इच्छाओ को पूर्ण करेंगी।"

रंगहि एरमेई जो रासु, सिरि विजयसूरि निम्मविउए।
नेमिजिणु तूसइ तासु, अबिका पुरइ मणि रलीए।

कि 'रिपुदमण रास' की कथावस्तु से यह निष्कर्ष निकलता है कि हर्षवर्धन (६०६ से ६४८) के युग मे कृष्णरास की शैली पर वौद्ध महात्माओ के जीवन को केंद्र वनाकर रास-नृत्यो की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। नवी शताव्दी मे चर्चरी एव रास द्वारा आमुष्मिकता का मोह त्याग कर लौकिक सुख सवधी भावो का अभिनय दिखाया जाता था।

जैन धर्म में रास की लोकप्रियता

जैन धर्म मे 'रासक' बौद्ध धर्म से भी अधिक लोकप्रिय था। डा० श्याम परमार का कथन है कि 'जैन मदिरो मे श्रावक लोग रात्रि मे तालिया वजा-वजाकर रास गाते थे। वाद मे जीवहत्या के भय से इसे वद कर दिया गया। इस तरह का नृत्य चौदहवी शताव्दी मे जैन मदिरो मे पुरुष और स्त्रियों द्वारा किया जाता था।[2]

'उपदेश रसायन रासक' मे 'ताला रासु' और 'लड्डा रासु' का उल्लेख है। जिनदत्त सूरि ने तथा सप्तक्षेत्री रासकार ने भी 'लकुट रासक' का उल्लेख किया है। वाघ की गुफा मे भी लड्डा रास का चित्रण है। नवी शताव्दी तक आते-आते, संभवत लकुट रासक वहुत लोकप्रिय हो चुका था।

प्राचीन रास-नृत्यो के कुछ उल्लेख

रास ने कालातर मे पूरे भारतीय समाज और यहा के सभी धर्मों मे लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उस काल मे रास का मचीय रूप क्या था उसके कुछ उल्लेख भी यत्रतत्र उपलव्ध हो जाते है। नवी शताव्दी के लकुट-रास का एक चित्राकन राजशेखर की 'कर्पूर मजरी सट्टक' के चतुर्थ जवनिकान्तरम् (१२-१३) मे उपलव्ध है, जिसका एक रूप इस प्रकार है :

मोत्ताहलिल्लिाहरणुच्चआओ लास्सावसाणे चलिअसुआओ।
सिंचति अण्णोणामिमीय पेक्ख जेताजलेहिं मणिभाजणेहिं।

इदोअ

परिब्भमन्तीअ विचिन्तवधं इमाइ दोसोलह पच्चणीओ।
स खेलन्ति तालाणुगदयदाओ, तुहागणे दीसइ दण्डरासो।

इसका अर्थ है—चर्चरी का दृश्य दिखाने वाली नर्तकिया रगमच पर आती हैं। मुक्तालकार धारण किये हुए वे नर्तकिया, जिनके वस्त्र हवा मे उड़

२ व्रज कला केंद्र के वार्षिक अधिवेशन, १९६४ का विवरण, पृष्ठ ५०

रहे थे, नृत्य समाप्त होने पर मच से निकलते हुए जल से भरे मणिक पात्रो को लेकर एक-दूसरे को भिगो रही हैं। तो इधर ये बत्तीस नर्तकिया विचित्र वध बनाकर घूम रही हैं। इनके चरण ताल के अनुसार पड रहे है इसलिए तुम्हारे आगन मे दंड रास सा दृष्टिगोचर हो रहा है।"

'कर्पूर मंजरी' मे दंड रास और चर्चरी के नृत्यो के कई रूपो का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिससे प्रकट होता है कि मडल नृत्य के साथ रास मे पक्तिवद्ध नृत्य भी लगभग उसी प्रकार से होता था जैसा आज के ब्रज के रास मे पाया जाता है। रास के एक शब्दचित्र मे यह कहा गया है कि कुछ नर्तकिया कधे और सिर बराबर किये हुए तथा भुजाओ और हाथो को भी एक सी स्थिति मे रखे हुए तनिक भी भूल न करते हुए दो पक्तियो मे लय और ताल के मेल के साथ चलती हैं और एक-दूसरे के सामने आती हैं।

इस वर्णन और वर्तमान रास के पंक्तिवद्ध नृत्य मे अतर यही है कि अब यह नृत्य दो पक्तियो मे नही वरन कृष्ण को बीच मे लेकर सखिया एक ही पक्ति मे सब ओर घूमकर दर्शको के समक्ष प्रस्तुत करती है तथा उसमे अब उतनी सुकरता नही रह गई है जिसका आभास इस वर्णन से मिलता है।

उस युग के रास के नृत्यो मे शृगार, रौद्र, वीभत्स और हास्य आदि के सभी भावो को व्यक्त करने की प्रभावी क्षमता थी यह निम्न वर्णनो से प्रकट होता है

शृंगार रस कुछ नर्तकिया रत्न जडे कवच उतार कर यत्रो से पानी की धारे छोडती हैं। पानी की धारें उनके प्रेमियो के शरीर पर कामदेव के वारुणास्त्र के समान पडती हैं।

रौद्र रस स्याही और काजल की तरह कृष्ण शरीर वाली, धनुष की तरह तिरछी नजरो वाली और मोर के पखो के आभूपणो से युक्त ये विला-सिनी स्त्रिया शिकारी के रूप मे लोगो को हसाती हैं।

लगता है कि यह वेशभूषा धारण करके हसती हुई स्त्रिया दात निकाल-कर हसने पर भी भयकर लगती होगी। आज के आदिवासियो के नृत्यो की वेशभूपा का इस वेशभूषा से अद्भुत साम्य प्रतीत होता है।

वीभत्स रस · कुछ स्त्रिया नरमास को ही उपहार रूप से धारण किये हुए और हुकार रूप से मियारो का सा शब्द करती हुई तथा रौद्र रूप बनाकर राक्षसियो के चेहरे लगाकर श्मशान का अभिनय करती है।

लगता है कि उस समय ऐसे नृत्य लोकप्रिय रहे होंगे, परंतु वर्तमान रास मे ऐसी स्थिति का कोई स्थान नही रहा, क्योकि कृष्ण की माधुर्य-भक्ति ने रास का आधार बदल कर अब उसमे ऐसे प्रसगो के लिए स्थान ही नही रहने दिया है।

हास्य रस—कुछ स्त्रिया कुतूहलवश चंचल वेश बनाकर वीणा वजाती हुई और मलिन वेश से लोगो को हसाती हुई पीछे हटती हैं, प्रणाम करती हैं और हसती हैं।

इस प्रकार इन वर्णनो से ६वी शताब्दी के दंडक का जो रूप उभर कर आता है उससे ज्ञात होता है कि उस युग मे रास-नृत्य काफी विकसित हो चुके थे और वे विभिन्न रसो तथा कथा-स्थितियो की अभिव्यक्ति मे पूर्णत. समर्थ थे।

लगभग इसी युग की रचना 'रिपुदारण रास' से ज्ञात होता है कि ध्रुपद गायन भी तव रास मे प्रचलित हो चुका था जो आज के रास का भी एक अनिवार्य भाग है। ओझा जी ने इस रास के ध्रुपद के विवेचन से सवधित आचार्य वेद की ये पक्तिया उद्धृत की हैं जिससे पता लगता है उस समय ध्रुपद गायन के साथ रास मे नवीन कथानको के समावेश की प्रवृत्ति थी तथा मध्यदेशीय भाषा का रास पर प्रभाव था :

गीतमाने ध्रुपदे गीते भाव मनोहरे ।
नर्तन तनुयात्पात्र कान्ताहास्यादि दृष्टिजम् ।
नाना गतिल सद्भाव मुख रागादि सयुक्तम् ।
सुकुमारागं विन्यास दन्तोद्योतितहावकम् ।
खण्डमानेन रचितं मध्ये मध्ये च कम्पनम् ।
यत्र नृत्य भवदेवं ध्रुपदारव्यं तदा भवेत् ।
प्रायशोमध्यदेशीयभाषया पत्र घसव. ।
उद्ग्राह ध्रुवकामोगास्त्रय एते भवन्ति ते ।

इस वर्णन से लगता है मानो यह कोई आज के ब्रज के रास का ही सस्कृत वर्णन हो।

रास-नृत्यो का यह विकास तथा उसके साथ-साथ ही उसका प्रचार और प्रसार भी निरतर होता रहा, इसके अनेक उल्लेख प्राचीन ग्रथो और रासो या रासको मे उपलब्ध हैं। 'वीसलदेव रासो' से ज्ञात होता है कि उस युग मे वासुरी रास का प्रमुख वाद्य वन चुकी थी और रास के गायक अपना स्वर ठीक करके वासुरी की धुन पर ताल के साथ नर्तन करते हुए अभिनय करते थे। इसमे कहा गया है कि (इस समूह नृत्य मे) मध्य की रास मडली कम सघन होती है और वाहर की मडली सघन हे। इससे प्रकट होता है कि यह वर्णन मंडल-रासक का है जो आज के रास के मडल-रास के अनुरूप ही है जिसमे मडल के अदर केवल ठाकुर और श्रीजी तथा मडल के वाहर समस्त

गोपी सघन होकर नृत्य करती है। मूल उदाहरण इस प्रकार है:

गायणहार माँडइ(अ) र गाई।
रास कइ (सम) यह वँसली आई।
ताल कई समुचइ घूंघरी।
माहिली मॉडली छीदा होइ।
बारली माँडली साँघणा।
रास प्रगास ईणी विधि होइ।

डा० दशरथ ओजा ने रासक-ग्रथो मे से छाट-छाटकर रास के इन नृत्य-वर्णनो का उल्लेख किया है जिनसे प्रकट होता है कि भरत से प्रारंभ होकर ये नृत्य ताल रासक, दड रासक तथा मंडल रासक के तीनो ही रूपो मे एक लबे युग तक विद्यमान थे। उनमे से कुछ उदाहरण हम यहा साभार उद्धृत कर रहे है।

सवत १३२७ वि० मे रचित 'मम्यकत्य भाई चउपई' मे 'ताल रास' तथा 'लकुट रासक' का उल्लेख

'ताला रासु रमणी बहु देई, लउअ रासु भूलहु वारेइ।

सवत् १३७६ वि० की रचना 'समरा रास' मे लकुट रास के अभिनय की सूचना:

जलवट नाटकु जोइ नवरग ए रास उलडारस ए।

इस ग्रथ मे भी यही उल्लेख है कि रास केवल सृजन और पठन-पाठन के लिए ही नही था, उसका नृत्य के माध्यम से प्रदर्शन भी अनिवार्य था।

एह रासु जो पढई गुणाई नाचिउ जिण हरि देई।

सवत् १४१५ वि० की रचना 'पट्टाभिषेक रास' मे रास के खेले जाने का उल्लेख है जो उसके अभिनेय नृत्य रूप की पुष्टि करता है:

नाचइ ए नयण विशाल, चद्रवयणि मन रग भरे।
नवरगि ए रासु रमति, खेला खेलिय सुपरिवरे।

इन वर्णनो से स्पष्ट है कि रास की यह नृत्य-परपरा चक्राकार घूमते हुए तालियो की ताल पर लय के साथ पग-संचालन की स्थिति मे 'ताल रास' तथा लकुट वजाकर नृत्य करने पर 'लकुट रास' या 'दड रास' कही जाती थी। मडलाकार नृत्य इन दोनो प्रकार के नृत्यो मे समाहित था। इन रास-

नृत्यों की सबसे प्रमुख विशेषता थी उनका 'पिंडीवध' होना ।

पिंडीवध नृत्य

रास-नृत्य मे जिस पिंडीवध की अनिवार्यता स्वीकार की गयी है उसका एक उल्लेख ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी मे ही इस प्रकार प्राप्त होता है

'शकर का नर्तन और सुकुमार प्रयोगो द्वारा पार्वती का नर्तन देखकर नदीभद्र आदि गणो ने पिंडीवध का नर्तन दिखाया। विष्णु ने तार्थ्यपिंडी, स्वायभुव ने पद्मपिंडी आदि नर्तन दिखाये।' नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय मे विविध पिंडीवध नृत्यो का वर्णन हुआ है। भरत ने यह पिंडीवध नृत्य तपोधन मुनियो के उपयुक्त माने है।

एव प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः

भरत ने पिंडीवध नृत्य को ताडव नृत्य का एक भेद माना है। उन्होने ताडव के 'रेचक', 'अगहार' और 'पिंडीवध' ये तीन भेद किये है। इस पिंडीवंध नृत्य के भी अनेक प्रभेद थे जिनमे वृष, महिषी, सिहवाहिनी, तार्थ्य, पद्म, ऐरावती, झष, उलूक, धारा, पाश, नदी, याक्षी, हल, सर्प, रौद्री आदि प्रमुख थे। इन पिंडीवध नृत्यो का निरतर विकास होता गया और शारदातनय तक आते-आते ये नृत्य वहुत निखर उठे जैसा कि इन नृत्यो के नाम से ही प्रकट है। इन नृत्यो मे विभिन्न देवी-देवता, पशु-पक्षी आदि की चालो के आधार पर तालवद्ध पग-सचालन मे विशेष प्रशिक्षण व कौशल की अनिवार्यता रही होगी ऐसा हमारा अनुमान है।

ये पिंडीवध नृत्य मडलाकार थे जैसा कि एक लक्षण-ग्रंथ के निम्नलिखित श्लोक से प्रकट होता है·

अष्टौ षोडशद्वात्रिंशद्यत्र नृत्यति नायकाः।
पिण्डीवन्धानुसारेण तत्नृत रासक स्मृतम ॥

८, १६ या ३२ युग्म पिंडीवध बनाकर नृत्य करते थे। डा० वासुदेवशरण के मत से पिंडीवध का तात्पर्य उस मडलाकार शृखला से है जो नृत्य करने वाले हाथ वाधकर या हाथ मे हाथ मारकर ताल द्वारा या डडे वजाकर रच लेते थे। वस्तुत वही रास का प्राण है।[३]

विभिन्न लक्षण ग्रथो मे रास के नृत्यो का विविध रूपो मे उल्लेख है,

३ देखें, 'रास और रासन्वयी काव्य' ग्रथ की भूमिका।

इससे प्रकट होता है कि युग के साथ-साथ रास के नृत्यो का रूप भी विभिन्न मोड लेता रहा। बाद मे आचार्य वेद ने रास नृत्यो के तीन रूपो का उल्लेख इस प्रकार किया है :

रासकस्य प्रभेदास्तु रासक, नाट्य रासक।
चर्चरी तित्रियः प्रोक्ता।

इस कथन से ज्ञात होता है कि कालातर मे नाट्य रासक के अलावा रास का एक नृत्य रूप 'चर्चरी' नाम से विशेष रूप से उभरा था जिसने रास के साथ अपना अलग अस्तित्व भी स्थापित कर लिया था।

चर्चरी क्या है ?

प्राचीन सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश सभी भाषाओ मे चर्चरी का उल्लेख अनेक रूपो मे हुआ है। महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अक मे जो अपभ्रश के पद आये है उन्हे चर्चरी कहा गया है। बाद मे प्राकृत और अपभ्रश मे इसे चच्चरी या चाचरी भी कहा जाने लगा था। अपभ्रश काव्यत्रयी मे इसे नृत्य-गायन से युक्त खेल कहा गया है।[४] हर्ष कृत 'रत्नावली नाटिका' मे इसे आकर्षक नृत्य के रूप मे चित्रित किया गया है।[५] वहा यह वसत के अवसर पर मदनोत्सव मे होने वाला नृत्य है। हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' मे चर्चरी को एक छद कहा गया है।[६] जगन्नाथदास भानु ने भी इसे छद कहा है, जो य स ज ल भ र गणो के योग से बनता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चर्चरी को विशेष गान मानते है और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने चाचर को फाल्गुन या विवाहोत्सव पर होने वाला अडिया रास या एक प्रकार का नृत्य कहा है।

सस्कृत मे चर्चरी का एक अर्थ हाथ की ताल की आवाज भी है।[७] सगीतशास्त्र मे चर्चरी नाम का एक राग भी मिलता है और ब्रज के स्वर्गीय

४ प्राकृतापभ्र शादि भाषाया चच्चरी चाचरी इति नाम्ना सस्कृत भाषायाच चर्चरी इति सज्ञया प्रसिद्धाया गीत नृत्य पूर्व कान क्रीडन गुम्फनादि पद्धति प्राचीना परिज्ञायते। (पृष्ठ १४४, सी० डी० दलाल का भूमिका भाग)

५ जब मदनिका आदि चेरिया यहा मदनोत्सव मे 'चर्चरी नृत्य' द्वारा राजा तथा राज-सभा का मनोविनोद करती हैं तो विदूषक मदनिका से उसे भी 'चर्चरी नृत्य' सिखाने का अनुरोध करता है। मदनिका इस पर विदूषक का उपहास करती है और उससे कह देती है कि यह नृत्य चर्चरी नही द्विपदी खड है।

६ 'छद प्रभाकर', नवा ... ७९

७ देखें, 'शब्दार्थ कौस्तुभ

वयोवृद्ध रासधारी श्री लछमन स्वामी ने हमे वतलाया कि चर्चरी नाम की एक ताल भी है जो झपताल का ही एक रूप है। इस ताल मे रास-नृत्य अव से लगभग ३०-४० वर्ष पूर्व तक होते थे। लछमन स्वामी के कथन की पुष्टि व्रजभापा काव्य के महारथियो के पुराने काव्य उल्लेखो से भी हो जाती है। व्रजभापा के कवियो ने चाचर का वर्णन किया है। सूर एक खेल के रूप मे इसका उल्लेख करते हैं, जो शृगार-रस प्रधान था। महाकवि सूरदास कहते हैं

मानो मदन मजूरी लीन्हे, कीर करत मल गोलै।[८]
सूरदास सव चाँचर खेलें, अपने अपने टोलै।

परमानन्द जी ने इसे कुछ और स्पष्ट किया है :

माधो चाँचर खेल ही खेलत री जमुना के तीर।
विच विच गोपी वीच वीच री वे वने मुरारि।
सरकत मनि कचन मनि माला री जानो गुही सँवारि।[९]

इस पद की द्वितीय पक्ति से नृत्य का भाव प्रकट होता है जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि सस्कृत मे जिस चर्चरी नृत्य का रास के साथ वर्णन है वह परपरा रास के साथ इस काल तक भी निरतर जुडी रही है।

नन्ददास चाचर को स्पष्ट रूप से ताल से युक्त नृत्य वतलाते हैं जिसमे ताली वजती है और डफ भी।[१०] डफ व्रज मे होली का विशिष्ट साज माना जाता हे। होली की समाप्ति पर उसे वर्ष भर को विश्राम दे दिया जाता है।[११] डफ और ताली वजाकर नाचना फालगुन का अपना रग है जो नन्ददास जी की पक्तियो से स्पष्ट होता है :

चाँचर पैन लगे नर नारी।
डफ वाजें अरु करतल तारी।

स्वर्गीय लछमन स्वामी जी से यह जानकारी पाकर कि रास मे पहले चर्चरी ताल पर ही नृत्य होते थे तथा कविवर नन्ददास जी के हाथ से ताली देने के उल्लेख को देखकर जव हमने सस्कृत कालीन रास के स्वरूप मे चर्चरी ताल के ढूढने की चेष्टा की तो उसका उल्लेख वहा भी मिल गया। आचार्य वेद

८ 'सूरसागर', नागरी प्रचारिणी सभा, पद सख्या ३४७५
९ 'परमान्द सागर', पृष्ठ ३२६, पद ९१६
१० 'नन्ददास ग्रथावली' (सभा सस्करण, दूसरा खड, पृष्ठ ४२१
११ डफ धर दै यार गई परकी' (व्रज का एक लोकगीत)

ने चर्चरी की व्याख्या करते हुए कहा है :

तेति गिध इति शब्देन नर्तन रास तालत. ।

अथवा

चर्चरी तालाच्चुतरावर्तनैर्नटै ।
क्रियते नर्तनं तत्स्याच्चचर्चरी नर्तन वरम् ॥

इस वर्णन के अनुसार इस नृत्य के बोलो मे 'तेति गिध' बोलो का उच्चारण प्रमुख था और यह नृत्य चर्चर ताल पर नाचा जाता था । यह नृत्य नटो द्वारा किया जाता था और इसमे ताल पर चार चक्कर लिये जाते थे ।

उक्त सब विवरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चर्चरी नृत्य एक लास्य नृत्य था जिसमे शृगार-रस की प्रमुखता थी । बसत के अवसर पर यह नृत्य विशेष रूप से होता था । वास्तव मे चर्चरी शृगार प्रधान एक फाग नृत्य था जिसमे होली (तब मदनोत्सव) का उन्मुक्त वातावरण पूरी तरह उभरता था । हो सकता है कि द्वारका मे उषा ने रास-नृत्य मे लास्य का जो समावेश किया था वही रूप कालातर मे विकसित होकर चर्चरी कहलाने लगा हो । चर्चरी की यह परपरा बाद मे इतनी लोकप्रिय हुई कि चर्चरी के प्रदर्शन के लिए जिस विशेष छद मे नृत्य रूपको की रचना होने लगी उन्हे भी चर्चरी ही कहा जाने लगा होगा । राजसभा तथा जनता के अतिरिक्त यह चर्चरी नृत्य जैन समाज के धार्मिक पूजास्थलो मे भी घुस गया और वहा युवक 'चर्चरी' करने लगे । इसीलिए जैनाचार्य जिनदत्त सूरि को चर्चरी छद मे ही चर्चरी विरोधी एक ग्रंथ की रचना करनी पडी जिसमे जैन धर्म स्थलो मे रासक के प्रदर्शन की निंदा की गई है ·

जहि रवणिय रहममणु कवाइ न कारिवड ।
लउडारसुर जहि पुरिसु विदितउ वारिवइ ।
जहि जलकीडदोलण हुति न देववह ।
माहमाल न निसिद्धी कय अट्ठाहियह ।

सभवत इस विरोधी आदोलन के प्रभाव से ही जैन मदिरो मे 'दड रासक' तथा चर्चरी के प्रदर्शन बंद हो गये, परंतु परवर्ती जैन भक्त चर्चरी छद मे गायन के लिए काव्य-रचना करते रहे । डा० ओझा ने 'रास और रासान्वयी काव्य' मे किसी अज्ञात कवि की एक जैन चर्चरी 'चर्चरिका' प्रकाशित की है जिसमे एक जैनधर्मी यात्री का यात्रा की कठिनाइयो के समय की गयी । देव-स्तुति है । सभवत यह 'चर्चरी नृत्य' भरत द्वारा वर्णित प्राचीन ताल-रासक का ही एक विकसित रूप था ।

ब्रज के वर्तमान रास में चर्चरी नृत्य की जो परपरा थी उसके बोल भी

हमने वयोवृद्ध रासधारी श्री लछमन स्वामी से नोट किये थे। उनके अनुसार यह चर्चरी नृत्य झपताल मे होने वाला रास-नृत्य है। रास मे यह नृत्य अब से ४०-५० वर्ष पूर्व तक होता था। लछमन स्वामी इस नृत्य का प्रदर्शन स्वयं अपने स्वरूपो से कराते थे। यह पूछे जाने पर कि अब यह 'चर्चरी नृत्य' रास मे से क्यो निकाल दिया गया है, स्वामी जी बोले, 'झपताल एक छोटी ताल है उसमे नृत्य की गति के साथ भाव प्रदर्शन मे विशेष लाघव अपेक्षित है। अब रास का स्तर गिर जाने के कारण स्वरूपो (रास के पात्रो) पर नये रासधारी उतना श्रम नही करते कि उस अल्प समय मे ही पात्र नृत्य की मुद्राओं को पृथक-पृथक करके स्पष्ट कर सकें। यही कारण है कि अब रास में चर्चरी नृत्य बंद हो गया।' स्वरूप तो क्या रास के स्वामियो मे भी अब कोई ऐसा गुणी विद्यमान नही रहा जो चर्चरी नृत्य को जानता हो और उसे कर सके। यह परपरा हमारे देखते-देखते रास से लुप्त हो गयी है।

वर्तमान रास मे 'चर्चरी का सगीत'

व्रज के वर्तमान रास मे 'नित्य-रास' के नृत्य मे चर्चरी नृत्य नाचा जाता था। इसमे कृष्ण, राधिका और गोपिया क्रमश. निम्न परमलुओ पर नृत्य करते थे और हस्तमुद्राओ द्वारा भावाभिव्यक्ति करते थे। चर्चरी आरभ के समय कृष्ण और राधा को बीच मे लेकर उनके पार्श्व मे गोपिया पक्तिबद्ध खडी होती थी और फिर क्रमश एक-एक पात्र पक्ति से पगताल देता हुआ दर्शक समूह के आगे आकर निम्न परमलुओ पर नृत्य तथा भावाभिव्यक्ति करके पुन यथास्थान लौटकर पक्ति मे अपना स्थान ग्रहण कर लेते थे। निम्नलिखित बोलो पर इस नृत्य मे पग-सचालन होता था :

थेईय दद्दी थेईय तद्।

सबसे पहले कृष्ण इन बोलो के बोले जाने पर पक्ति से आगे बढते थे और निम्न परमलु पर नृत्य करके यथास्थान लौट जाते थे

तिधा तिधा तिधा तत्तय, थेई तत्तय थेई तत्तय।
तिधा तत्त, तिधा तत्त, तिधा तिधा तिधा।
तितत्त थेइ।

कृष्ण के यथास्थान लौट जाने पर श्रीजी (राधिका) आगे बढती थी

और उसी गति पर निम्न परमलु पर नृत्य करती थी :

तेतिय तेतिय तेतिय तिधा, थेइ तत्त, थेई तत्त ।
तेतिय तिधा, तेतिय तिधा, तेतिय तेतिय, तेतय ।
तिध तत् थेइय ।

इसके उपरात सखिया दो-दो के जोड मे राधा और कृष्ण के पार्श्वों से क्रमश. आगे बढकर निम्न परमलु पर नृत्य करती थी .

तेजिक तेजिक तेजिक तिधा, थेई तत्ते थेई तत्ते ।
तेजिक तिधा तेजिक तिधा, तेजिक तेजिक तेजिक तेजिक
तिदि थतत् थेइय ।

दो सखियो के लौट जाने पर पुनः दो दूसरी सखिया आगे बढती थी और वे निम्न परमलु पर नृत्य करती थी .

तक्क थुग, निन्ग थुग, गिरधारी कौ थेइया ।
गिरधारी कौ, गिरधारी कौ, तान झय, किट झय ।
किधत् कुडन्झय, गिरधारी की झुन्ग ।
तिदत्थ थेइय ।

सबके नृत्य समाप्त हो जाने पर 'थेइय तद्दी थेइय तद' की आवृत्ति और वेग से होने पर सभी स्वरूप एकसाथ मडल रास मे प्रवृत्त हो जाते थे। झपताल इस सगीत का प्राण थी । इस नृत्य मे हस्त, पग और दृष्टि-सचालन तीनो के ही तादात्म्य की लाघवता के साथ समन्वय की अपेक्षा होती थी ।

इस प्रकार चर्चरी का यह नृत्य जो किसी काल मे रास की एक स्वतत्र विधा के रूप मे विकसित हुआ था, अत मे रास मे ही विलीन हो गया परतु विभिन्न युगो मे विभिन्न रूप ग्रहण करती हुई रास की यह नृत्य-परंपरा आज भी प्राणवान है । इसके वर्तमान स्वरूप की चर्चा हम यथास्थान आगे करेगे ।

नृत्य-रास का व्यापक प्रभाव

प्रागैतिहासिक काल से आज तक अनेक परिवर्तनो और परिस्थितियो मे निरतर विद्यमान रास की यह परपरा बडी महत्वपूर्ण है । जैसा हम पहले कह चुके है व्रज से यह परपरा कृष्ण के साथ द्वारका गयी और द्वारका मे विकसित होकर वहा से पूरे देश मे फैली । सौराष्ट्र से लेकर कामरूप तक रास-नृत्यो का प्रचलन है । मणिपुर नृत्यो का उद्भव भी रास-नृत्यो से ही माना

गया है। वर्तमान कत्थक नृत्य को भी वे लोग 'नटवरी नृत्य' मानते हैं और उसे रास लीला से ही उद्भूत कहते है। आदिवासियो के नृत्यो से लेकर सर्वोच्च कोटि के नर्तको तक रास के मडलाकार नृत्य का प्रभाव है। पुरुष और स्त्री दोनो का ही रास-नृत्यो से लगाव रहा है क्योकि रास के नृत्यो मे ताडव और लास्य दोनो का ही सुदर समन्वय है।

५

नाट्य-रासक

जैसा कि पहले कहा जा चुका है ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व ही हमारे यहा रास मच की दो परंपराएं विकसित थी। हम उसकी नृत्य परपरा की चर्चा पिछले अध्याय मे कर चुके है। इसी परंपरा से उसके रूपक प्रधान स्वरूप की एक पृथक विधा और विकसित हुई जिसे भरत ने 'नाट्य-रासक' नाम दिया है। रास के इस नाट्य रूप का उदय काल भी श्रीकृष्ण के समय मे ही हुआ था, जैसा कि पुराण ग्रथो मे वर्णित है। व्रज की आभीर ललनाओ ने श्रीकृष्ण के विरह मे व्याकुल होकर अपने हृदय की शाति के लिए सर्वप्रथम उनकी बाल-लीलाओं का अभिनय किया था जो बाद मे एक नृत्य-नाट्य परपरा के उदय का कारण बना। भागवतकार ने 'रास-पचाध्यायी' के प्रसंग मे इस घटना की विस्तृत चर्चा की है।

वृंदावन मे रास करते हुए गोपिकाओ के मध्य से श्रीकृष्ण सहसा अतर्धान हो गये तो उनके वियोग मे वे विह्वल हो गयी और वृक्ष, लता, गुल्मो से उनका पता पूछने लगीं। इसी विरह को शात करने के लिए उन्होने श्रीकृष्ण की व्रजलीलाओ का प्रदर्शन किया

पृच्छतेमा लता बातूनप्याश्लिमष्टा वनस्पते:।
नून तत्करजस्पृष्ठा विभ्रत्युपुलकान्य हो ।।१३।।
इत्युन्यत्तवचो गोप्य कृष्णान्वेषणकातरा:।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिका: ।।१४।।
कस्याश्चित् पूतनायन्तया कृष्णायन्त्यपिवत स्तनम्।
ताकोयित्वा रुदत्यन्या पदाह छकटायतीम् ।।१५।।

भागवत के दशम स्कध के अध्याय ३० मे श्लोक २३ तक भगवान कृष्ण की कई व्रजलीलाओ के गोपियो द्वारा अनुकरण का उल्लेख हुआ है। ये लीलाएं कृष्ण के विरह मे उन्मादिनी व्रजागनाओ का प्रलाप मात्र न थी वरन

उन लीलाओ मे भी उन्होने एक कलात्मक स्तर स्थापित किया था। स्वान्त-सुखाय अभिनीत इन लीलाओ मे गोपिकाओ ने अपने वस्त्रो से ही दृश्यवध भी वनाये थे। गोवर्धन-धारण, कालिय-दमन और ऊखल-लीला के ये चित्र देखिये

मा मैष्ट वातवर्षाभिया तत्त्राणं विहित मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदवेऽम वरम् ॥२०॥
आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरा नृप।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽह खलाना ननुदण्डधक् ॥२१॥
तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्वणम्।
क चक्षूष्या विपिद्धव वो विधास्ये क्षेममोऽजसा ॥२२॥
वृद्धान्यया स्त्रजा कचितन्वी तत्र उलूखले।
भीता सुदृक विधायास्यं मेजे भीतिविडम्वनम् ॥२३॥

इस भाति जहा रास के नृत्य और संगीत पक्ष के सस्थापक श्रीकृष्ण हैं वहा कृष्णलीलाओ की अभिनय परंपरा की सूत्रधार ब्रज गोपिया हैं। यह मान्यता पुराण-काल से भक्ति-युग तक यथावत बनी रही है। नन्ददास जी ने 'श्रीकृष्ण सिद्धात पचाध्यायी' मे गोपियो के कृष्णलीला प्रदर्शन का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं :

इहि विधि वन घनि वूझि प्रेम वस लगत सुहाई।
करन लगी मनहरन, लाल लीला मन भाई।
सिसु कुमार पौगंड वलित अभिनय दिखराये।
कमल नैंन प्रापति उपाय सव लोक सिखाये।

गोपियो ने यह लीला क्यो की, इसका क्या उद्देश्य था? इस सवध मे नन्ददास जी का मत है :

अरु जे आहि उपासक तिनहि अभेद वतायो।
सिसु कुमार पौगड, कान्ह एकै दिखरायो।
अवतारी अवतार-धरन अरु जितक विभूती।
इह आश्रय आधार सवै, जग जेहि की ऊती।

गोपियो का यह कार्य नन्ददास जी की दृष्टि मे अत्यधिक महत्वपूर्ण था जिसने उन्हे धन्य कर दिया। वे आगे लिखते है :

ताते जग गोपी पुनि पुनि सुक मुनि हू गावे ।
सनक सनदन जगवदन, तेऊ सिर नावें ।
नंद-नदन लीला करि ललना धन्य भई जब ।
सुन्दर चरन सरोज खोज निकटहि पायौ तब ।

इस प्रकार जब नन्ददास के अनुसार गोपियां लीला के रस मे पूरी तरह डूब गयी थी तब जिन कृष्ण को प्राप्त करने के लिए उन्होने यह आयोजन किया था उन श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न उन्हे निकट ही दृष्टिगोचर होने लगे। नाटक की फल प्राप्ति की यह पूर्ण अवस्था उन्हे सिद्ध हुई। गोपिकाओ के अभिनय और गायन को बहुत ही सहज, स्वाभाविक और आकर्षक मानकर नन्ददास ने लिखा है .

जग मे जो सगीत नाट, जेहि जगत रिझायौ ।
वहँ ब्रजतिय कौ सहज गमन, यो आगम गायौ ।
राग रागिनी सम जिनकौ बोलिबौ सुहायौ ।
सौ किन पै कहि आवै, जो ब्रज-जुवतिन गायौ ।
जैसे कृष्ण अमित महिमा, कोउ पार न पावै ।
ऐसे ही ब्रज-वनिता गुन गन गनत न आवै ।

गोपियो के इस अभिनय पर कृष्ण भी रीझ गये थे ऐसा नन्ददास जी का मत है। वे लिखते है :

जब नायक के भेद भाव, लावन्य रूप गुन ।
अभिनय दिखरावे गावें, अस अद्भुत गति उन ।
तहाँ साँवरे कुँवर रीझि कै रीझि रहत यो ।
निज प्रतिबिंब विलास निरख, सिसु भूल रहत ज्यो ।

यह था उन गोपियो के अभिनय का स्तर जिन्हे रासलीला नाटको की प्रारभकर्ता माना गया है। यह ठीक है कि नन्ददास जी का यह वर्णन ऐतिहासिक नही काव्यात्मक है, परतु यह किसी भावात्मक रास का नही वास्तविक अनुकरणात्मक रास का वर्णन है और इस वर्णन से अवश्य ही भक्तियुग मे रास का वह भव्य कलात्मक स्तर प्रतिबिंबित होता है जो नन्ददासजी के सामने उस युग मे नवीन धज से उदित हुआ था।

कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति-युग मे रास का पुनर्गठित स्वरूप पौराणिक रास परपरा की ही एक कडी था जिसे कृष्ण व गोपिकाओ ने प्रारंभ किया था। इस रास को भक्ति-युग मे श्रीकृष्ण को रिझाने वाला या भक्तो की

भाषा में भगवत्-प्राप्ति का माध्यम स्वीकार कर लिया गया परन्तु इसका विकास कृष्ण-काल में ही बड़ी द्रुत गति से हो गया था। द्वारका में जिस उत्सव का वर्णन हम पहले कर चुके हैं उसमें अप्सराओं द्वारा जो कृष्ण-लीलाओं के विविध प्रदर्शन हुए, वे इसी ब्रज की नृत्य-गायन से युक्त नाट्य परंपरा के ही विकसित स्वरूप थे।

श्रीकृष्ण-लीलाओं के नृत्य-गायन की यह अभिनय परंपरा बाद में इतनी लोकप्रिय हुई कि कृष्ण-कथा से इतर अनेक प्रसंग भी नाट्य-रासक में समाहित हो गये। जैन धर्म में भगवान नेमिनाथ को जो श्रीकृष्ण के ही चचेरे भाई थे, जब तीर्थंकर स्वीकार कर लिया गया तब श्रीकृष्ण से भी अधिक महत्ता प्रतिपादित करने के लिए, जैन धर्म में रासकों की परंपरा विशेष रूप से अपनायी गई और वहां अनेक जैन कथानकों पर नाट्य-रासकों का निर्माण हुआ। कुछ रास कथानकों में तीर्थंकर नेमिनाथ को कृष्ण से श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयत्न भी किये गये। हम यहां नेमिनाथ रास के ऐसे ही दो प्रसंग उद्धृत कर रहे हैं.

प्रसंग १ : एक दिन नेमि कुमार विचरण करते हुए श्रीकृष्ण की आयुधशाला में गए और लीलावश उन्होंने श्रीकृष्ण का शंख बजा दिया जिससे त्रिभुवन क्षुभित हो उठा। कृष्ण भी भयाक्रान्त होकर बलराम से पूछने लगे कि यह शंख किसने बजाया है। जनता ने जिनेश्वर का बल असमन्य बतलाया तो कृष्ण भयभीत होकर बलराम से बोले, "भाई, इस स्थान पर वास सम्भव नहीं। हाय ! नेमि कुमार यह राज्य ले लेगा।"

तो भयभीउ भणाइ हरि रामह, भाउ नहिन थामु इस ठायहु।
लेइस नेमिकुमरु तह रज्जू, हाहा हियइ धमक्कइ अज्जू ॥२६॥

यह सुनकर बलराम कृष्ण को समझाने लगे कि आप मन में विश्वास रखिए, परमेश्वर नेमिनाथ मोक्ष सुख के आकांक्षी हैं, जो मूर्ख राज्य सुख की इच्छा रखता है वह निश्चय ही घोर नरक में पड़ता है।

प्रसंग २ . श्रीकृष्ण ने एक दिन नेमि कुमार से कहा कि हम दोनों भाई बाहु-युद्ध द्वारा शक्ति परीक्षा कर लें, तो नेमिनाथ ने उत्तर दिया, "हे जनार्दन, युद्ध व्यर्थ है, मैं अपना हाथ पसारता हूं, आप इसे झुकाए।" ऐसा करने पर श्रीकृष्ण नेमिनाथ की भुजाओं पर बंदर के समान झूलते रहे पर भगवान नेमिनाथ का हाथ न झुका सके।

इस प्रकार जैन धर्म में जहां रास का व्यापक प्रचार हुआ वहां इसके कथानकों में जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए वैष्णव धर्म को हीन ठहराने की भी चेष्टा की गयी। यही कारण है कि बाद में वैष्णव धर्म में रास शैली की ग्रंथ रचना कदाचित हीन कोटि की समझी जाने लगी और इसीलिए रास-

कृष्ण की कथाओ को लेकर रासक शैली के ग्रथो की रचना नही हुई। वैष्णवीय रासक रचनाओ के अभाव का एक दूसरा भी कारण था। ब्राह्मण धर्म मे संस्कृत को ही प्रश्रय दिया जाता था, जबकि जैन और बौद्धो का जोर उस काल की लोकभाषाओ पर था। इस कारण भी प्राकृत भाषा के रासक-ग्रथो के प्रति ब्राह्मण धर्मावलबियो ने उपेक्षा प्रदर्शित की, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि वैष्णव धर्म से रास की मचीय परपरा का सबध विच्छेद हो गया। मंच पर कृष्णलीला के कथानक रास शैली मे निरतर होते रहे, परतु उन लीलाओ का प्रमुख आधार पुराण-साहित्य था, रासक-ग्रथ नही।

वैष्णव धर्मावलबियो को कृष्णलीलाओ के लिए अलग से साहित्य-रचना की आवश्यकता भी नही थी, क्योकि पुराणो मे कृष्ण की लीलाओ का निरतर व्यापक रूप से इतना विस्तृत कथन स्वयमेव होता रहा कि उन्हे रासक-ग्रथ अलग से रचने की आवश्यकता ही नही थी। पुराणो के कथानको से ही ग्रथिक इन लीलाओ का गायन करके सूत्र-सचालन ठीक उसी प्रकार करते थे, जिस प्रकार कि आज भी रास मे समाजी प्रधान गायक व सूत्रधार की भूमिका का निर्वाह करते है। हमारे विचार से सौभिक (नर और नारी) इन लीलाओ के अभिनेता थे जो मच पर गायन, अभिनय और नृत्य करते थे। सौभिक और ग्रथिको के साथ इन रूपको मे चित्रको के योगदान का भी उल्लेख मिलता है। इस सबध मे डा० नार्विन हाइन ने अपने ग्रथ 'दी मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा' मे पाश्चात्य विद्वानो के विभिन्न मतो का विस्तृत विवेचन करके ग्राथिक, सौभिक और चित्रक कौन थे और ये मच पर क्या कार्य करते थे इसकी समीक्षा की है। हमे यहा उस विवरण मे जाने की आवश्यकता नही। हमारा अनुमान यह है कि चित्रक जैसा उनके नाम से ही स्पष्ट है—मच की साज-सज्जा और कथानक के अनुरूप मच तथा पात्रो को अभिनय के लिए सज्जित करने का कार्य प्रमुख रूप से करते रहे होगे और यथा आवश्यकता मच पर दृश्यबध बनाना और स्वय अभिनय मे भाग लेना भी इनका कार्य रहा होगा। आज के रास मे शृगारी ठीक यही कार्य करता है।

डा० नार्विन हाइन ने बडे विस्तार से इस प्रसग को अपने ग्रथ मे सजोया है और साहित्य तथा प्राचीन पुरातत्व के अभिलेखो द्वारा मथुरा मे वैष्णव परपरा के नाटको की गौरवपूर्ण प्रस्तुति का कथन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि कृष्णलीलाओ के प्रदर्शन का मथुरा युग-युगातरो से स्थायी केंद्र रहा है। इस सबध मे उनकी निम्नलिखित सूचनाए और निष्कर्ष बडे महत्वपूर्ण है .

१ हरिवंश तथा पातजल के महाभाष्य के आधार पर डा० हाइन का कहना है कि मथुरा मे वैष्णव नाटक (कृष्णलीला) आज से दो हजार वर्ष पूर्व

भी होता था ।[1] अपने कथन की पुष्टि मे उन्होने एक पुरातत्व का अभिलेख उद्धृत किया है, जो मथुरा से प्राप्त हुआ था और जिसे सन् १८६२ ई० में जार्ज व्यूहलर ने 'एपीग्राफिया इडिका' मे 'न्यू जैन इंसक्रिप्शस फ्रॉम मथुरा' शीर्षक से छापा था । इस अभिलेख मे क्योकि नाग दधिकर्ण का उल्लेख है, अत: इसे उस समय जैन परपरा का अभिलेख मान लिया गया था, परंतु इस अभिलेख मे जिन दो अभिनेताओ का चद्रक बधुओ के रूप मे उल्लेख है उनके संबध मे विभिन्न पुरातत्त्वज्ञो के मतो पर विचार करके श्री हाइन ने यह प्रतिपादित किया है कि यह चद्रक भाई मथुरा नाट्य परपरा के अपने युग मे बडे प्रसिद्ध अभिनेता थे, जो चंद्रवंशी बलराम व कृष्ण का अभिनय मंच पर अपूर्व सफलता से करने के कारण ही चंद्रक भाइयो के नाम से विख्यात हो गए थे । डा० हाइन का कहना है कि ईसा की दूसरी शताब्दी मे मथुरा कृष्ण ड्रामा का एक ऐसा केंद्र था जहां से अभिनेता दूर-दूर जाते थे ।[2]

२. डा० हाइन ने मथुरा से प्राप्त एक दूसरे शिलालेख, जो प० कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार ईसा पूर्व पहली शताब्दी का है, मे उल्लिखित सौभिका शब्द पर विभिन्न विद्वानो के मतो के आधार पर यह स्थापना की है कि यह अभिनेत्री मथुरा मंच की एक बहुत ही संभ्रात कलाकार थी । डा० हाइन का यह भी कथन है कि बाद मे अभिनेत्रिया वैष्णव नायको की भी भूमिका करने लगी थी ।[3]

३ पचरात्रि संहिता के ग्यारहवें अध्याय से प्रथम रात्रि-वर्णन के आधार पर डा० हाइन ने एक कथा का उद्धरण दिया है, जिसमे गंधर्व उपवरहन पितामह ब्रह्मा के दरबार मे पुष्कर आकर अप्सरा और विद्याधरियो के साथ कृष्णरास महोत्सव का सगीत प्रस्तुत करता है ।

इस विवरण से सिद्ध है कि रास की यह कला निरंतर व्यापक और लोकप्रिय रही थी । गधर्व, अप्सरा तथा विद्याधर सभी मे रास व्यापक लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था और उनमे इस विधा के प्रति लगाव था । इस प्रकार के अनेक तथ्यो के आधार पर अपने ग्रथ के अतिम वाक्य मे डा० हाइन का कथन है कि मथुरा मे कृष्ण विधा के नृत्य, अभिनय तथा मचीय परंपरा के सूत्र भारत मे ज्ञात किसी भी थियेटर जितने ही प्राचीनतम हैं ।

१. डा० नार्विन हाइन कृत 'दी मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा', पृष्ठ २३३-३६

2 Thus Mathura was not only a scene of Krishna Drama in the second century, but a centre from which actors went forth. वही, प० २३६

३ वही, पृष्ठ २५३

रास मच का नाम न लेकर इस विवेचन मे डा० हाइन ने 'मथुरा की कृष्ण विधा की अभिनय परंपरा' शब्दो का प्रयोग किया है। हमारा कहना इस सबध मे यही है कि मथुरा की यह कृष्णलीला परंपरा भरत द्वारा उल्लिखित नाट्य-रासक ही मानी जानी चाहिए, क्योकि मथुरा प्राचीनतम काल मे कृष्ण-लीलाओ के लिए ही विख्यात थी। रास के अतिरिक्त कोई दूसरी वैष्णवीय नाट्य विधा यहा विद्यमान थी ऐसा उल्लेख अभी कही भी उपलब्ध नही हो सका है। इन तथ्यो के आधार पर हम यह कहना चाहते है कि श्रीकृष्ण-काल से आज तक श्रीकृष्णलीलाओ के प्रदर्शन की यह रास-परंपरा हर युग मे जीवित और जाग्रत रही है, जबकि अन्य धर्मो ने (जैन, बौद्ध आदि ने) इसके आधार पर जो महत्त्वपूर्ण अभिनेय रासक प्रस्तुत किए आज वे सब इतिहास की वस्तु बन चुके हैं। रासको की यह अभिनय परपरा हमारी सस्कृति की गौरवगाथा की प्रतिनिधि है। इस परपरा के स्वरूप मे समय-समय पर जो परिवर्तन हुए उसका परिचय हमे विभिन्न कालो मे लिखे गये विभिन्न लक्षण-ग्रथो की अलग-अलग व्याख्या से मिलता है, जिसका सक्षिप्त सिहावलोकन यहा प्रस्तुत किया जाता है।

लक्षण-ग्रंथों मे नाट्य-रास का स्वरूप

शारदातनय के 'भावप्रकाश' मे रासक को एक अंकीय उपरूपक कहा गया है। दशरूपक की 'अवलोक टीका' से सिद्ध होता है कि धीरे-धीरे नाट्य-रासक विकसित होकर रूपक 'भाड' के समकक्ष आ गया था परंतु कदाचित् नृत्य और गायन की प्रमुखता के कारण वह 'भाड' नही कहा जा सकता था। इस कारण यहा उसे 'भाडवत्' कहा गया है :

डोम्बी श्री गदित भाणो, भाणी प्रस्थन रासका ।
काव्य च सप्त नृत्यस्य, भेदाः स्युस्ते पिऽभाणवत् ।

'भावप्रकाश' मे नाट्य-रासक के एकाकी रूप का जो कथन है उसमे नादीपाठ, पाच पात्रो का विधान, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सधियो का प्रयोग, कौशिकी और भारती वृत्तियो का निर्वाह तथा मूर्ख नायक और योग्य नायिका, विभिन्न भाषाओं का प्रयोग तथा वीथ्यक आदि आवश्यक माने गये है।

'साहित्य-दर्पण' मे भी 'भावप्रकाश' के मत की ही पुष्टि की गयी है। परतु नाट्य-दर्पणकार का मत उक्त मतो से कुछ भिन्न है। उसने रासक के लिए एक अक तो स्वीकार किया है परतु उसकी अन्य विशेषताओ के रूप मे उसने बहुताल-लय स्थिति, उदात्त नायक, उपनायक, शृंगार और हास्य रसो, वासकसज्जा नायिका और, लास्यागो के नियोजन का उल्लेख किया है।

समय के साथ-साथ रासको के मंचीय रूप मे जो परिवर्तन होता रहा उसी के अनुसार लक्षण-ग्रंथो मे भी उसका कथन होता रहा। शुभकार ने 'नाट्य-रासक' के स्थान पर रास को 'रास-नृत्त-रूपक' कहा है। यहा उपरूपक के स्थान पर रास को रूपक कहे जाने का कारण या तो लेखक की रास के प्रति आस्था मानी जा सकती है अथवा कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे रासक मे अभिनय की सूक्ष्मता तथा कला के नागर रूप का इस समय पुन. विकास हो गया और इसी कारण से इसे हेमचन्द्र ने भी गेय-रूपक ही कहा है। शुभकार ने न केवल इसे रूपक ही कहा वरन उसके नाट्य-रासक नाम को भी वदलने की चेष्टा की जो तव तक उसके उपरूपक रूप के लिए रूढ हो चुका था। शुभकार ने इस रूपक को सूत्रधार से रहित एकाकी कहा है जिसमे उत्कृष्ट नांदी (स्तुति) के उपरात कैशिकी और भारती वृत्ति का समावेश होता है। मुख्य नायक के अतिरिक्त पाच पात्र, भाषा, विभाषा, वीथी तथा उसका तीन संधियो से मडित होना आवश्यक माना गया है। विदूषक का उपदेश इसमे क्रोध उत्पन्न करने वाला कहा गया है। उदात्त भाव सहित यह उत्तरोत्तर वढता रहता है।

कुछ लक्षण-ग्रथो मे ऐसे उल्लेख भी हैं जिनसे प्रकट होता है कि रासको मे नारी पात्रो तथा उनके क्रियाकलापो की प्रमुखता रहती थी। शारदातनय ने 'नाट्य-रासक' के लिए 'नाट्य-रास' शव्द का प्रयोग किया है। उसका कहना है कि जव वसत को देखकर प्रफुल्लित चित्त से आनदमग्न स्त्रिया राजाओ जैसी चेष्टा करती है तो उसे 'नाट्य-रास' कहा जाता है। ऐसा लगता कि शारदातनय ने रासक का जो 'चर्चरी' रूप वाद मे विकसित हुआ उसकी चर्चा 'नाट्य-रास' के रूप मे की है। चर्चरी मे अभिनय कम और नृत्य अधिक था।

इस प्रकार उक्त लक्षण-ग्रथो से प्रकट होता है कि नाट्य-रासक एक एकाकी उपरूपक था जो भाड से मिलता-जुलता था। धीरे-धीरे यह विकसित होकर रूपक की कोटि तक जा पहुचा था। यह रूपक नृत्य और गायन प्रधान था। इसमे नारी पात्रो की प्रमुखता रहती थी और विदूषक भी अनिवार्य रूप से रहता था अत. इसकी कथावस्तु मे श्रृंगार रस के साथ-साथ हास्य रस का समावेश रहता था। शृगार ही सभवत. नाट्य-रासक के कथानको का मुख्य रस होता था और हास्य उसका सहयोगी होता था। रास मे उस समय की सभी प्रचलित भाषाओ का और वोलियो का प्रयोग होता था। मध्यदेश की भाषा का रासको पर प्रभुत्व था, क्योकि यह भाषा जनता की रुचि के अनुरूप अपने को वदलने के लिए प्रसिद्ध रही है।

रास का प्रारभ नादी पाठ से होता था और इसमे प्राय पाच के लग-भग अभिनेता होते थे। रासक मे मुख, प्रतिमुख, कैशिकी, भारती और निर्वहण

संधियो का प्रयोग होता था। प्रत्येक रास मे ३ सधियो का प्रयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक था। गर्भ और अमर्ष सधि इसकी रचना मे वर्जित थी। इसकी कथावस्तु क्रमश: उदात्तभाव की ओर अग्रसर होती जाय यह इसकी सफलता का विशेष लक्षण माना जाता था।

परतु विभिन्न युग मे रचे गये 'नाट्य-रासक' लक्षण ग्रथो की इन परिभाषाओ के बधन मे पूर्णत बधे थे, ऐसा नही लगता, हा उन्होने लक्षण-ग्रथो की मर्यादा को सामान्य रूप से अपनी रचनाओ का आधार अवश्य बनाया था।

नाट्य-रासको की साहित्यिक परपरा

जहा उक्त लक्षण-ग्रथो मे रासको के नाट्य रूप की चर्चा मिलती है वहा साहित्य मे भी रासक रचनाओ का विपुल भडार उपलब्ध है, परतु यह सब रासक अभिनेय थे, यह मानना एक भारी भ्रम है। प्राप्त रासक ग्रथो मे से अधिकाश पठन-पाठन के लिए ही है परतु उनमे कुछ अभिनेय नाट्य रासक भी है जो किसी युग मे मच पर सफलतापूर्वक खेले जाते थे। ऐसे रासको मे हम मुनि जिन विजय द्वारा शोध मे प्राप्त अब्दुल रहमान कृत 'सदेश-रासक', श्री अगरचद नाहटा द्वारा खोजे गये, वज्रसेन सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास', शालिभद्र कृत 'भरतेश्वर रास', सुमति गणि कृत 'नेमिनाथ रास', विजयसेन सूरि कृत 'रैवतगिरि रास', देल्हड कृत 'गयसुकुमाल रास' 'आबू रास' जैसे रासो का उल्लेख कर सकते है। इस प्रकार के अभिनेय रासो का जैन धर्म मे बहुत प्रचार रहा जो चौदहवी शताब्दी के आरभ तक वहा खेले जाते रहे। बाद मे इन रासो का अभिनय धीरे-धीरे बद कर दिया गया। 'लड्डा रासक' नृत्य भी, जो इन मदिरो मे होते थे, जिनदत्त सूरि ने जीवहत्या का भय दिखाकर बद करा दिये। अतः चौदहवी शताब्दी के अधिकाश रास जो जैन कवियो द्वारा रचे गये थे केवल गेय ही रह गये, अभिनेय नही। मचीय बधन हट जाने पर ऐसे रासको का आकार भी बढ गया और वे काव्य का रूप ग्रहण कर गये।

नाट्य-रासको का अभिनय

चौदहवी शताब्दी के प्रारभ तक नाट्य-रासको का अभिनय जैन मदिरो का प्रमुख आकर्षण रहा। श्री अगरचद नाहटा ने रासक ग्रथो मे से ही ऐसे अनेक उद्धरणो की खोज की है जिनसे रासको का खेला जाना सिद्ध होता है। ये उद्धरण निम्नलिखित रासको मे खोजे गये है,

१. सवत १३६८ मे बार्गस्त रचित 'वीश विहरमन रास'

२. संवत १३७१ मे अम्बदेव सूरि कृत 'समरा रासो'

३ सवत १३७१ मे गुणाकर सूरि कृत 'श्रावक रास विधि'

परतु यह रासक केवल जैन मदिरो की ही वस्तु नही थे। समाज में भी रासको का स्वतत्र रूप से प्रदर्शन होता था। डा० हाइन ने रासको के अभिनेता व्यवसायी कलाकारो की विस्तार से चर्चा की है। 'सदेश-रासक' से ज्ञात होता है कि रासको के प्रदर्शन को एक जाति विशेष ने, जिसे पहले 'नर्तक' तथा वाद मे नट कहा जाने लगा था, व्यवसाय के रूप मे अपना लिया था। सप्तक्षेत्री रास मे भी इन नटो का उल्लेख है जो रासको के प्रदर्शन का व्यवसाय करते थे। यहा हम 'सदेश-रासक' का डा० ओझा द्वारा अनुवादित एक अंग उद्धृत करते हैं जिससे मध्य युग मे रासको के प्रदर्शन की कैसी घूम थी इसका आभास होता है :

विरहिणी—आप कहा से आ रहे हैं ?

पथिक—भद्रे, मैं उस शाम्वपुर से आ रहा हू जहा भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्रकृति के मधुर गान सुनाई पड़ते है। देवज्ञ वेद की व्याख्या करते हैं, कही-कही रासको का अभिनय नटो द्वारा किया जाता है।

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि अकेले शाम्वपुर मे ही उस समय नटो की कई मंडलिया रासको का प्रदर्शन करती थी। इस प्रकार की अनेक मंडलिया व्यावसायिक आधार पर उसी ढंग से रासो का प्रदर्शन करती घूमती होगी, जैसे आज ब्रज के ब्राह्मण रासधारी लोग पूरे देश मे रासलीला करते हुए पर्यटन करते हैं।

रास का अभिनेय रूप क्या ?

डा० सोमनाथ गुप्त ने उक्त प्राचीन रासको के अभिनेय होने पर सदेह प्रकट किया है। वे डा० दशरथ ओझा के मत पर शका करते हुए अपने सपादित ग्रथ 'माधव-विनोद' की भूमिका मे कहते हैं :

डा० ओझा ने इस सवध मे जो प्रमाण उद्धृत किये हैं उनके आधार पर इन रासो को नाटक न मानने के पक्ष मे केवल एक वडा तर्क यह है कि प्राय वे सभी रास ग्रथ गेय है, अभिनेय नही हैं। उन्होने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि गेय रासो का अभिनय भी होता था इसलिए उन्हे नाटक मानना चाहिए। यद्यपि डा० ओझा के तर्क मे वल है, परतु सपूर्ण रूपेण उनके मत को मानने मे वुद्धि और तर्क थोडा सकोच का अनुभव करते हैं। इसलिए नही कि वे गीति काव्य है वरन इसलिए कि उनके शिल्प विधान मे जो वर्णन की प्रधानता है और सवाद का अभाव है उसके कारण उन्हे

वार्तालापपूर्ण कैसे मान लिया जाए ।[४]

डा० सोमनाथजी की उक्त शंका सचमुच उचित समाधान की अपेक्षा रखती है, परतु डा० दशरथ ओझा उनकी इस शंका का समाधान नही कर पाये। वे इसके उत्तर मे शायद यही कह पाये हैं कि यदि ' 'श्रव्य-काव्य' का अभिनय के रूप मे प्रदर्शन किया जाए तो 'दृश्य-काव्य' मानने मे क्या आपत्ति हो सकती है।''[५] परंतु डा० ओझा के केवल इस कथन से कोई विचारशील जिज्ञासु तृप्त नही हो सकता। उसके लिए यह स्पष्टीकरण अत्यत आवश्यक है कि ये काव्य वास्तव मे श्रव्य दीखते हुए भी दृश्य-काव्य कैसे है ? बिना आवश्यक स्पष्टीकरण के डा० सोमनाथ गुप्त का यह लिखना कि 'डा० साहब ने अपने अभिनय सबधी विचार को स्पष्ट नही किया है। कहा नही जा सकता कि डाक्टर साहब श्रव्य-काव्य के अभिनय प्रदर्शन को नाटक कैसे मानते है और वह कैसे सभव है। यदि किसी उपन्यास का भी अभिनय करके रखा जाए तो क्या वह नाटक कहला सकेगा, जब तक उसमे पात्रो का परस्पर वार्तालाप न हो अथवा समय एवं गति की एकता दिखाई न दे। सत्य तो यह है कि श्रव्य-काव्य को दृश्य-काव्य बनाने के लिए तत्सबंधी लक्षणो को धारण करना पडेगा। ऐसे प्रदर्शन अधिकतर संगीत और नृत्य तो माने जा सकते है, परतु नाट्य के अतर्गत मानने मे बडी दुविधा होती है। यदि डा० ओझा यह प्रतिपादित करते कि 'रास' वर्तमान ऑपेरा (opera) का एक रूप है तो फिर भी कुछ सीमा तक उनके मत को मान्यता दी जा सकती थी, परतु शुद्ध ऑपेरा सगीत अधिक है नाट्य कम। वर्तमान काल मे इस अग्रेज़ी शब्द ने हमारी नाट्यपरक धारणाओ मे एक भ्रम उत्पन्न कर दिया है और स्वांग या नौटकी नाट्य विधाओ को सगीत प्रधान होने के कारण हम ऑपेरा मानने लगे हैं। ऐसे समय हमारा विचार इस तथ्य की ओर नही जाता कि स्वागो या सागीतो मे संगीत, नृत्य के साथ-साथ सवाद का अश पर्याप्त मात्रा मे जुडा होता है, और इसीलिए उसे गीत-नाट्य कहा जाता है।'[६]

रास : गीत-नाट्य

डा० सोमनाथ के इस मत से हम पूर्णत सहमत है कि हमारे यहा भारतीय नाट्य मे 'ऑपेरा' शब्द का प्रचलन पाश्चात्य सस्कृति की ही देन है, परतु वास्तव मे यहा 'ऑपेरा' जैसी कोई नाट्य परपरा कभी नहीं रही। रास,

४ माधव विनोद भूमिका, पृष्ठ ७-८
५ वही, पृष्ठ ८
६. वही, पृष्ठ ८१

नौटंकी, भगत तथा अन्य लोक-रंगमंचीय रूप वास्तव मे गीत-नाट्य ही हैं और यह गीत-नाट्य रूप, सहजता और स्वाभाविकता मे जीवन के अधिक निकट है जबकि पश्चिमी 'ऑपेरा' मे अनावश्यक कलात्मक ऊहापोह की अस्वाभाविकता विद्यमान रहती है। यही कारण है कि भारत के नृत्य-गायन-प्रिय लोकमानस ने गीत-नाट्य का ही विविध लोकनाट्य रूपो मे विकास किया। आज के युग मे पाश्चात्य प्रभाव के कारण हमने अब 'ऑपेरा' को भी जाना है परतु वह अभी भी पूरी तरह हमारे गले नही उतर पा रहा है। रास अपने उदय से लेकर आज तक नृत्य प्रधान गीत-नाट्य ही रहा है। अपभ्रश काल मे भी यह गीत-नाट्य के रूप मे ही अभिनेय था। अपभ्रश के जिन दृश्य-काव्यो को डा० सोमनाथ ने 'श्रव्य-काव्य' माना है वे वास्तव मे दृश्य-काव्य ही हैं, परतु दुर्भाग्य से अतीत की पोथियो को खोजने मे व्यस्त डा० ओझा का आज की जीती-जागती लोकनाट्य और रास-परपरा से निकट का परिचय न होने के कारण वे यह तथ्य स्वय भी पूरी तरह नही समझ पाये है कि ये 'दृश्य-काव्य' श्रव्य-काव्य जैसी शैली मे क्यो लिखे गये और इनका अभिनेय रूप कैसा था ? इसीलिए वह डा० सोमनाथ की शका का समाधान नही कर सके हैं। आगे भी इस सबध मे अन्य विद्वानो को भ्रम हो सकता है, अत· यहा अप्रासगिक होते हुए भी हम सक्षेप में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक समझते हैं।

रासो की लेखन-शैली

हमारे हिंदी-साहित्य मे भी और लोक-साहित्य मे भी भारतेंदु युग से पूर्व लिखे गये सभी नाटको को प्राय श्रव्य-काव्य मान लिया जाता है क्योकि इन नाटको को जिस ढंग से लिपिबद्ध किया गया है वह ढग ठीक वही है जो श्रव्य-काव्यो के लिपिबद्ध करने का है, परंतु वास्तव मे ये सभी नाटक केवल काव्य नही है, इनमे से कई अच्छे दृश्य-काव्य हैं। दुर्भाग्य की बात यह रही कि मुसलमानी शासन-काल मे हमारा रगमच चौपट हो गया अन्यथा ये नाटक जो हिंदी के साहित्यकारो ने भक्ति-युग और रीति-युग मे लिखे यदि परपरागत ढग से मच पर आये होते तो उनके दृश्य रूप से दर्शक रस प्राप्त करते और उनकी नाटकीयता को सराहते, साथ ही आलोचकगण केवल उनके श्रव्य-काव्य के ढग से लिखे होने के कारण ही उन्हे मच के अयोग्य भी न ठहराते। खैर, हम यह चर्चा न उठाकर यहा इस समय केवल रास की ही बात करना चाहते है।

रास एक लोकधर्मी परपरा का रूपक हे। हमारे यहा लोकधर्मी रूपको मे सूत्रधार का विधान रहता आया है। ऐसी दशा मे रासको के शिल्प

विधान मे वर्णन की प्रधानता तो इन सूत्रधारो (वाद के समाजियो) का निरतर मच से संपर्क बनाए रखने की दृष्टि से तथा दर्शक को उन सब स्थितियो की सही सूचना देने के लिए की जाती थी जो मच पर प्रदर्शित नही की जा सकती थी। व्रज के वर्तमान रास मे समाजी-गण आज भी इस कार्य को यथेष्ट रूप से करते है। ऐसी दशा मे प्राचीन रासो मे वर्णन की प्रधानता उनके दृश्य शिल्प मे बाधक नही वरन उस युग मे दृश्य-काव्यो का एक आवश्यक अग थी।

डा० दशरथ शर्मा रास की लिपिवद्ध परंपरा का विकास सन ९०५ ई० से मानते हैं क्योकि इसी काल की 'रिपुदारण रास' की प्रति अभी तक उपलब्ध सब रास की प्रतियो मे प्राचीन है। हमे यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस इतने लवे समय मे भापा वदल गयी, छद वदल गये, साहित्य के मान और मूल्य वदल गये, परतु सव कुछ वदल जाने पर भी इन लोकधर्मी दृश्य-काव्य रासो को श्रव्य-काव्य के ढग से लिखने की शैली मे आज भी फेर-बदल नही हुआ, परतु इस शैली से अपरिचय हमारे विद्वानो को आज भी इन्हे पढकर उनके काव्य न होने का भ्रम हो जाता है। तथ्य यह है कि अपभ्रश काल मे जिस शैली मे दृश्य-राम लिखे जाते थे उसी शैली मे वे आज भी लिखे जाते है। उदाहरण के लिए 'राग-रत्नाकर' व्रज के रासधारियो का एक मूल्यवान मचीय ग्रथ माना जाता है जिसमे रासमच पर प्रदर्शित होने वाली अनेक लीलाएं सकलित है। परतु यदि साहित्य का कोई विद्वान उसे खोलकर देखे तो उसे यह गथ लीला के शीर्षक के साथ केवल पदो का सकलन मात्र प्रतीत होगा जो अपभ्रश के लिपिवद्ध रासो से भी अधिक विश्रृखलित है, परतु रास-धारी उसे आगे रखकर मंच पर उसी के आधार पर २५ लीलाए सहज मे ही प्रस्तुत करने की सामर्थ्य रखते है। वे सदा से उसे अपना लीला-ग्रथ मानते आए है। इसी प्रकार व्रजवासीदास का 'व्रज-विलास' साहित्यकारो के लिए एक प्रवध काव्य है परतु रासमच के लिए वह ठीक उसी रूप मे कृष्ण-चरित्र के प्रदर्शन का लीला-ग्रथ है। उसे आगे रखकर व तुरत स्वरूपो को सजाकर यदि आप चाहे तो कृष्ण-जन्म करा दें और चाहे तो तभी कस को मरवा डालें। वास्तविकता यह है कि प्राचीन नाटको मे सूत्रधार या ग्रथिक की स्थिति ने दृश्य-काव्य से श्रव्य-काव्य की दूरी को पाटने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका सपादित की थी। यही कारण है कि कवियो ने कभी इस आवश्यकता का अनुभव ही नही किया कि दृश्य-काव्यो और श्रव्य-काव्यो को लिखने के लिए दो अलग-अलग शैलियो की आवश्यकता है। इस युग मे ये दोनो ही काव्य एक ही सामान्य शैली मे लिपिवद्ध किये जाते थे।

हमारे प्राचीन नाट्य-रासको मे सूत्रधार (जिन्हे भक्तियुग मे रास के पुनर्गठन मे समाजी का पद दिया गया) आरभ से अत तक स्वय रास के पात्र

वनकर उसमे अपनी एक प्रमुख भूमिका संपादित करते आये हैं। रास के अति-रिक्त अन्य कई लोकनाट्य रूपो मे आज भी सूत्रधार की आरभ से अत तक उपस्थिति रहती है जो सभवत रासक की इस प्राचीन परंपरा की ही देन है। उदाहरण के लिए असमिया मे रास से प्रभावित 'अकिया नाट' मे भी यही परपरा आज तक अक्षुण्ण है। इस सबध मे सेठ गोविन्ददास का कथन है कि 'ये अकिया नाट' एक अंक के होते हैं और सस्कृत नाटको से मिलते-जुलते हैं, परतु इनमे एक नयी वात रहती है। इनका सूत्रधार केवल नादी पाठ और प्रस्तावना का भाषण ही नही करता, परतु आरभ से अत तक रचमच पर रहकर नाटक की घटनाओ और पात्रो के प्रवेश, स्थान आदि का परिचय भी कराता है।'[७] कहना न होगा कि अकिया नाट ने यह व्यवस्था रासमच से ही ग्रहण की है। प्राचीन युग मे रास मे ही नही एशिया के अनेक लोकधर्मी मचो पर सूत्रधार को यही महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त थी। जापान के 'कावुकी' रगमच पर आज भी सूत्रधार को रास जैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो इन लोकधर्मी नाट्य परपराओ की विविधता मे भी एकता के सूत्रो की ओर इगित करते है।

डा० सोमनाथ की दूसरी शिकायत यह है कि प्राचीन रासो मे सवादो का अभाव है जो इनके श्रव्य काव्य होने का भ्रम उत्पन्न करता है। परतु हमारी लोकधर्मी नाट्य परपरा मे पात्रो के सवादो को लिपिवद्ध करने की परंपरा कभी नही रही, यह एक तथ्य है।

लोकनाट्य मे स्वाभाविकता वनाए रखने के लिए मवाद सदा मौखिक ही होते रहे हैं। उन्हे लेखक द्वारा कागज पर कभी नही उतारा गया। आज भी वृदावन से रास की जो पुस्तकें छपती हैं उनमे लीलाओ के क्रमवद्ध पद्य ही प्राय छपते हैं, वीच के गद्य संवाद आज भी प्राय वहुत कम छापे जाते हैं। दो-चार नवीन लीलाए ही, जो पिछले सालो मे ही छपी है, इसकी अपवाद हैं। व्रजभाषी कवियो ने अतीत मे पद्य मे भी जो संवाद लिखे उनमे केवल इतना ही इंगित किया, जैसे 'लालजू वचन' या 'प्रिया जू वचन' पद्य के साथ उनका गद्य रूप वहा भी सवादो मे प्राप्त नही होता। कदाचित इसका कारण यह रहा कि इस परपरागत मंच पर पात्रो को अपनी भाषा मे अपने ढग से सवाद वोलने की स्वतत्रता सदा से प्राप्त रही है। पात्रो को गायनो के मध्य होने वाले सवादो का आशय पहले से पता होता है। अत सवाद का प्रसग उपस्थित होने पर जहा जिस प्रकार के कथोपकथन की आवश्यकता होती है वहा उन्हे वह अपने ढग से अपनी वोली, भाषा और शैली

७ सेठ गोविन्ददास· 'नाट्य कला मीमांसा', पृष्ठ ६७

मे स्वय ही बोलते है जो लोकधर्मी नाट्यरूप की स्वाभाविकता की रक्षा करते हैं। यही कारण है कि साहित्यिक नाटको के से सवाद लोक नाटको में कभी नही लिखे जाते। चाचा वृदावनदास की सभी छद्म लीलाए नाटकीयता से परिपूर्ण हैं। जब रासधारी उन्हे अपने संवादो के पुट के साथ मंच पर करते हैं तो दर्शक आनंद से विभोर हो जाते हैं, परंतु वृदावन से छपी 'छद्म विनोद' पुस्तक को यदि आप साधारण ढग से पढें तो वह आपको कृष्णलीला की एक साधारण सी कविता पुस्तक ही प्रतीत होगी। उसमे आपको सवादो का नाटकीय रूप दृष्टिगोचर नही होगा।

इस सबध मे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि हमारे पारपरिक नाट्य के प्रदर्शन केवल उसी रूप मे प्रस्तुत नहीं होते जिस रूप मे हमे उनके लिखित आलेख प्राप्त हैं। इन आलेखो को तो आधार मात्र माना जाता है। मच पर प्रस्तुत करते समय लोक मच के कुशल निर्देशक सदा से इन नाटको मे अपने विशिष्ट शैलीगत रूप मे प्रस्तुत करते रहे है। कथा से संबद्ध हास्य प्रसग और बीच-बीच मे विभिन्न गायन-संवाद आदि उनमे सदा से स्वय जोड़े जाते रहे हैं। रास के साथ-साथ पुराने सभी भारतीय नाट्य रूपो के प्रस्तुतीकरण मे निर्देशक को इस सबध मे सदा से इतने व्यापक अधिकार प्राप्त रहे हैं कि केवल आलेख को पढकर उस आलेख के मचीय स्वरूप को समझना असंभव है। उसके सही स्वरूप को मंच पर अभिनय देखने के उपरात ही हृदयगम किया जा सकता है। इस प्रसग पर हमने अपने ग्रथ 'सागीत : एक लोकनाट्य परपरा' मे विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस मच पर विद्यमान अनौपचारिकता इसकी नाटकीय विशेषता की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।[८]

ऐसी दशा मे हमे यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि प्राचीन सभी रासक श्रव्य-काव्य है। उनमे अभिनेय रास भी यथेष्ट मात्रा मे थे जैसा कि डा० दशरथ ओझा का मत है : 'उनकी प्रदर्शन शैली का स्वरूप केवल उनके उपलब्ध आलेख से नही समझा जा सकता। अस्तु।'

रास : लोकधर्मी नाट्य-विधा

भरत ने नाट्यशास्त्र मे उपरूपको के १८ भेद किये हैं जिनमे से 'रासक', 'नाट्य-रासक' तथा 'हल्लीसक' के रूप मे उन्होने रास के तत्कालीन प्रचलित तीनो रूपो का वर्णन किया है। भक्तियुग मे ब्रज मे जब रास का पुनर्गठन हुआ तो यहा ब्रज के रासमच पर उक्त तीनो ही रूपो का समन्वय कर दिया गया।

८ देखें हमारा 'सागीत एक लोकनाट्य परपरा' मे पृष्ठ १६५-१६६
जो बातें वहा सागीत के सबध मे कही गई हैं वे रास पर भी अधिकाशत लागू होती हैं।

रासमच पर उसके नायक के रूप मे एकमात्र भगवान कृष्ण की सार्वभौमता स्वीकार करके जहा रास मे हल्लीसक की परपरा को मान्यता दी गई वहा रास-नृत्यो मे 'रासक' की परपरा का हल्लीसक के साथ समन्वय भी कर दिया गया। यही समन्वित रूप ब्रज का वर्तमान 'नित्य-रास' है जिसकी चर्चा आगे यथा-स्थान की जायेगी।

'फागु' परपरा

रास के प्रदर्शन के साथ-साथ चौदहवी शताब्दी मे 'फागु' की एक और मचीय परपरा उदित हुई जो मदिरो के वातावरण से दूर जन-साधारण मे रास के प्रदर्शनो के साथ-साथ फली-फूली। फागु की यह परपरा रास के रहते क्यो आरभ हुई, सक्षेप मे यह जान लेना भी आवश्यक है।

अब तक की शोध मे जो पहला प्राचीनतम फागु ग्रथ उपलब्ध हुआ है, वह जैनाचार्य जिन पद्म सूरि (१३९० से १४००) की कृति 'सिरथूलि भद्र फागु' है। इससे प्रकट होता है कि फागु रचना का यह प्रयत्न जैन धर्म मे आरभ हुआ होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है चौदहवी शताब्दी के प्रारभ मे जैन धर्म मे रासको का प्रदर्शन प्रतिबंधित कर दिया गया था, जिससे जैन धर्म के लोक-रजक रूप मे एक रिक्तता आ गयी, परतु कोई भी धर्म अपने लोक-रंजक स्वरूप की उपेक्षा करके जीवित नही रह सकता। इस रिक्तता की पूर्ति के लिए जैन धर्म मे एक मध्यम मार्ग का सहारा लिया गया। धर्माचार्यो ने मदिरो मे रासक का प्रदर्शन वर्जित करार दे दिया था अतः उन्होने रासक शैली को ही नवीन रूप देकर लोकमानस के मनोरजनार्थ 'फागु' रचना की परपरा आरभ कर दी। इस नाट्य रूप ने 'रासक' शब्द की उपेक्षा करके धर्माचार्यो की बात भी रख ली और जैन समाज ने रासक परपरा मे हेर-फेर करके अपने लोक-रजन की नवीन प्रणाली भी खोज ली।

फाल्गुन मास इस देश मे रागरग का मास रहा है। पूरा भारतीय समाज इस ऋतु मे एक अजीब मस्ती से अभिभूत हो जाता हे और स्वभावत उसमे रागरंग की प्रवृत्ति बढ जाती है। ब्रज क्षेत्र का फागु तो देश प्रसिद्ध ही है। यहा फागु का अर्थ होता है वसत का रागरग जो वसत पचमी से आरभ होकर चैत्र मास के अत मे समाप्त होता है। इसी मे होली का आनद भी सम्मिलित है। इस फाल्गुन की ऋतु मे समयोपयोगी नाट्य-प्रदर्शन की वृत्ति ने जब जोर मारा तब जैन समाज इन फागु रचनाओ की परपरा के विकास की प्रेरणा का कारण बनी होगी। शृगार रस तथा वसत के वैभव गान से सयुक्त फाल्गुन मास मे अभिनीत होने वाले ये रास जनता के लिए विशेष आकर्षण का केंद्र बन गये। प्रायः सभी 'फागु' वसत के प्राकृतिक वैभव की सुवास से सुवासित हैं। इसमे यह

स्पष्ट है कि इनकी रचना बसतोत्सव के अवसर पर प्रदर्शन के लिए ही प्रतिवर्ष होती थी और ये बसत मे जनता के आकर्षण का केंद्र बन जाते थे। जैन मदिरो मे रासक के बद हो जाने पर फाल्गुन मास मे जैन-समाज को भी वर्ष मे एक मास तक बसतोत्सव के समय ये फागु रस-रग मे अभिभूत होने का अवसर प्रदान करने लगे। बाद मे जैनो के अनुकरण पर जैनेतर फागु ग्रथो का रचा जाना यह सिद्ध करता है कि फागु का भी समाज मे व्यापक प्रचार हो गया था।

फागु की यह नाट्य विधा कोई अलग परपरा नही है। यह नाट्य-रासको का ही एक फाल्गुनी रूप थी जो होली के मास बसत ऋतु मे खेलने के लिए रचे जाते थे। इसी कारण इनमे बसत के वैभव का बडा सरस और सागोपाग शृगार-रस से परिपूर्ण वर्णन मिलता है। धीरे-धीरे यह परपरा भी केवल मच तक ही सीमित न रही। सत्तरहवी शताब्दी तक आते-आते यह भी एक काव्यशैली के रूप मे पृथक से विकसित होने लगी,[१] जिसका मच से कोई सबध न था, परतु फागु रचना के प्रथम चरण मे रचे गए फागु अभिनेय हैं। ऐसे फागो मे हम 'सिरूथलिभद्र फागु' के साथ-साथ 'नेमिनाथ फागु', 'वसत-विलास फागु' जैसे अनेक ग्रथो का उल्लेख कर सकते है।

बाद मे धीरे-धीरे जैन फागो पर वैष्णवीय प्रभाव भी प्रकट होने लगा जो जैनो की कट्टरता समाप्त होने का प्रमाण है। जयसिह सूरि ने व्रज गोपियो के फागु खेलने का वर्णन सहृदयता से किया है। एक उदाहरण देखे :

> लाज विलोपिय गोपिय रोपिय दृढ अनुरागु।
> रसभरि प्रियतम रेलइ, वेलइ खेलइ फागु।
>
> जयसिह सूरि : 'नेमिनाथ फागु', कडी १२।

जैनो की इस कट्टरता के कम हो जाने के फलस्वरूप वैष्णवीय परपरा मे भी इस युग मे फागो के प्रति कुछ आकर्षण बढ गया था और कृष्ण-कथा पर भी कुछ फागु इस काल मे रचे गये।

कृष्णलीला संबंधी फागु

सभवत: इस पूरी फागु परपरा मे 'नारायण फागु' ही ऐसा पहला ग्रथ है जिसमे द्वारका वर्णन, भगवान कृष्ण के पराक्रम तथा पटरानियो के साथ

१. बुदेलखड मे तो फागु गायन की यह परपरा वहा के लोक जीवन मे ऐसे पैठ गई है कि होली के अवसर पर आज भी वहा नये फागु वैसे ही रचे और गाये जाते हैं जैसे व्रज मे होली पर नये रसिया और जिकडी के भजन लिखकर साल भर की भडास निकालने की परपरा है। अपने फागो की मार्मिकता के कारण ही बुदेलखड का लोक-गायक 'ईसुरी' तो अमर ही हो गया है।

उनके सरस वन-विहार का शृंगाररस-पूर्ण वर्णन हुआ है। इस फागु मे कृष्ण के वेणु-वादन, गोपिकाओ के साथ उनके नृत्य तथा पृथक-पृथक रूप से गोपियो के साथ उनकी क्रीडाओ के सुदर वर्णन हैं। यह फागु कुल ६७ कडियो का है। इसका रचना-काल सवत् १४६५ वि० है।

इस 'नारायण फागु' जैसी ही एक दूसरी रचना 'वसत विलास फागु' है। इसके रचयिता कवि अज्ञात है। यह विप्रलभ-शृगार का रसपूर्ण ग्रथ है। इसमे ८४ कडिया हैं, जिनमे गोपियो का विरह प्रभावपूर्ण है। उद्धव-गोपी सवाद का सूत्र भी इस फागु की ही कथा मे समाहित है। इस फागु की भाषा साहित्यिक है और वियोग के चित्रण मे अलंकारो का उपयोग कौशल से किया गया है। वसत मे वियोगियो की दशा का मार्मिक चित्रण है। एक उदाहरण देखें :

> इण परि कोइल कूजइं पूजइं युवति मनोर।
> विधुर वियोगिनी धूजइं कूजइं मयण किशोर॥२६॥
> जिम जिम विहँसइ वणसइ विणसइ मानिनी मानु।
> यौवन मर्दिहि उदतति ढंपति थाइ युवान॥२७॥

फागु-अभिनय की यह परपरा मंच और साहित्य मे चौदहवी शताब्दी के अत तक लोकप्रिय थी, और इसे रास की ही एक शैली मान लिया गया था। महीराज कृत 'नल-दमयंती रास' की कडी ३८९ मे कहा गया है :

> सुललित बाइका न दीइ रास, क्षण नवि वंचइ पंडित व्यास।
> रूडुइ कठि न कोइन करइ राग, रास भास नवि खेलन फाग।

अर्थात जब सुललित बालिकाए रास न करती हो, पडित और व्यास रासो का पाठ न करें, मधुर कठो से जब रास का गायन न हो तथा जब रास और फागु का अभिनय न होता हो तो समझना चाहिए कि कोई बडी अनहोनी घटना हो गयी है। इससे प्रतीत होता है कि इस युग मे रास और फागु लोक-जीवन पर पूरी तरह छा गये थे। फागु ग्रथो मे इनके खेले जाने के उल्लेख भी यथास्थान उपलब्ध है। इससे लगता है कि शिवरात्रि से आरभ होकर चैत्र तक इनका प्रदर्शन होता रहता था। 'विरह देसाउरी फागु' मे पाटण नगर को रास का मुख्य केंद्र कहा गया है :

> धनि धनि पाटण नगर के, धिन धिन फागुण मास।
> है यह रस गोरी घणा, धरि धरि रमीइ रास।

फागु साहित्य की विशेषताए

फागु साहित्य की सबसे बडी विशेषता है वसत का प्राकृतिक चित्रण और उसकी कथा मे शृगार रस का प्राधान्य। शृगार रस को फागुकारो ने सर्वाधिक महत्त्व देकर उसके संयोग और वियोग दोनो ही पक्षो का सफलता से चित्रण किया है। एक फागुकार की रसिकता तो इतनी वढी-चढी है कि मगलाचरण मे उसने सरस्वती से भी अधिक महत्त्व कामदेव को दिया है। ग्रंथारभ मे वह उसे प्रथम प्रणाम करते हुए कहता है :

> मकरध्वज महीपति वर्णवु, जेहनु रूप अवनि अभिनवु।
> कुसुमवाण करि कुजर चढइ, जस प्रयाणि घरा धडहडइ।

इस प्रकार कामदेव के गुण-रूप और स्वभाव का वर्णन करके कवि अंत मे कहता है :

> तासतणा पव हुँ अणसरी, सरसति सामिणी हइडइधरी।
> पहिलुं कदर्प करे प्रणाम, गइउ ग्रथ रचिसि अभिराम।

इन फागो मे पहले दोहा और सोरठा छदो को अधिक महत्त्व दिया गया परतु वाद मे अनेक गेय छदो का फागु शैली मे समावेश हो गया। सस्कृत श्लोक भी इन छदो के साथ फागो मे मिलते हैं। वाद मे जव यह फागु-परपरा केवल अभिनेय न रहकर साहित्याभिमुख हो गयी तो उसकी छद योजना मे भी अभि-नेयता का विचार नही रहा और उसमे अनेक छद सम्मिलित हो गये। ऐसे फागो मे हम सत्तरहवी शताब्दी के 'वासुपूज्य मनोरम फाग' जैसे ग्रंथो को सम्मि-लित कर सकते है।

डा० दशरथ ओझा का कथन है कि बाद मे इस फागु-परपरा से ही एक गीता-परपरा का और उदय हुआ। उन्हे भागवत के उद्धव-गोपी सवाद की कथा पर आधारित एक 'भ्रमरगीता' काव्य मिला है जिसकी पुष्पिका मे लिखा है, 'श्रीकृष्ण गोपी विरह मेलापक फाग' इस आधार पर उन्होने इस गीता-परपरा को भी इसी क्रम मे माना है और इस परपरा के 'नेमिनाथ भ्रमरगीता', 'ज्ञान गीता', 'पार्श्वनाथ राज गीता' आदि ग्रथो का उल्लेख किया है। परतु यह गीता-परपरा कोई मचीय विधा नही रही अत. यहा उसकी अधिक चर्चा अनावश्यक है।

वैष्णव मदिरो मे फागु महोत्सव

जैन समाज मे फागु नाम से रासको के प्रदर्शन होते थे परतु वैष्णव समाज मे अपभ्रश भाषा का युग समाप्त हो जाने के वाद तक मदिरो मे फागु

प्रदर्शनो की परपरा अपनी लोकप्रियता बनाये रही और आज भी इसके अवशेष वहा विद्यमान हैं। वैष्णवीय परपरा मे यद्यपि फागु नाम देकर अलग से ग्रथ रचना नही हुई परंतु वहा मदिरो मे फागु उत्सवो का अपना नाटकीय रूप सदा विद्यमान रहा। खेद है कि इस ओर अभी किसी विद्वान का ध्यान नही गया है। हमारी प्रवृत्ति प्राचीन की शोध की ओर जाती है परतु आज के विद्वान वर्तमान से कटे हुए है, यह एक विडबना ही है। यहा हम वैष्णवीय परपरा के फागु प्रदर्शनो का भी सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो नाट्य-रासक के ही अग थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव मदिरो मे फागु उत्सवो का समारभ पौराणिक युग मे ही हो गया था। पुराणो मे वसत रास की जिस परपरा का परवर्ती काल मे उदय हुआ वही काल सभवत वैष्णव मदिरो मे फागु प्रदर्शन प्रारभ होने का है। यह परपरा ब्रह्मवैवर्त पुराण मे खूब उभरी है, जिसका उल्लेख हम पुराणो के प्रसग मे आगे करेंगे। यही काल वैष्णव मदिर मे फागु महोत्सवो के प्रारभ का माना जा सकता है।

'गीत गोविंद' के प्रदर्शन

पुराणो के साथ-साथ जयदेव का 'गीत गोविंद' वैष्णवीय फागु परपरा का शिरोमणि ग्रंथ है, जो अकेला ही समस्त जैन रासको से कही अधिक लोक-प्रिय रहा है। इस ग्रथ मे श्रीकृष्ण के वसत रास का जो ललित वर्णन है वही इसे समस्त फागु ग्रथो का मुकुटमणि सिद्ध करता है।

'गीत गोविंद' यद्यपि एक काव्य ग्रथ है परतु यह वैष्णवीय नाट्य व नृत्य का प्रमुख आधार रहा है। वासुदेव शास्त्री को तजौर की सरस्वती महल लाइब्रेरी से इसकी एक ऐसी प्रति मिली है जिसमे इस ग्रथ को नृत्य-नाट्य का रूप दे दिया गया था। यह प्रति वहा उत्तर भारत से ही पहुची थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत मे 'गीत गोविंद' का नृत्याभिनय होता था। 'गीत गोविंद' स्वय वसत रास परपरा का ही ग्रंथ है इसलिए इसके प्रदर्शन निश्चित रूप से वैष्णवीय फागु-परपरा की ही कडी थे यह मानना पडेगा।

'गीत गोविंद' के यह प्रदर्शन देश के विभिन्न भागो मे व्यापक रूप से होते थे। मालाबार मे कथाकली के प्रदर्शन से पहले वहा भी 'गीत गोविन्द' का गायन होता था। ऐसा लगता है कि इस नृत्य से पूर्व 'गीत गोविन्द' द्वारा ही अभिनेता नादी प्रस्तुत करते थे।[१०] पद्रहवी शताब्दी के एक उडिया अभिलेख मे तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान जगन्नाथजी के मदिर मे 'गीत गोविन्द' का अभिनय होता था।

१०. डा० नारविन हाइन कृत 'दि मिरैकिल प्लेज ऑफ मथुरा', पृष्ठ २६७

व्रज के मदिरो मे फागु महोत्सव

भक्तियुग मे जब व्रज क्षेत्र वैष्णव-भक्ति का प्रचार केंद्र वना तव वहा के मदिरो मे भी फागुन मास मे नृत्य और अभिनय की परपरा विशेष रूप से स्थापित थी। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इस परपरा को विशेष वल दिया। प्रारंभ मे यह परंपरा भक्ति रस के गायनो व नृत्य तक सीमित थी, परतु वाद मे फाल्गुन मास की रगीनी मे श्लील और अश्लील का वधन व्यर्थ मानकर यह परपरा स्वतत्र रूप से लोक-रंजन का माध्यम वना दी गयी, क्योकि इस नृत्य अभिनय-परपरा मे धीरे-धीरे भक्ति का वधन ढीला हो गया और उसे भडुआई वनाकर लोकरुचि से जोड दिया गया, तव यहा की यही फागु परपरा 'भडुआ-भगत' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[11] इस भडुआ भगत के आज भी कई आलेख उपलब्ध हैं और उन सवको हम हिंदी में अपभ्रंश कालीन फागु-परंपरा के वर्तमान प्रतिनिधि नाटक कह सकते हैं।

हिंदी की फागु-परपरा

इस प्रकार अपभ्रश भाषा का युग समाप्त हो जाने के वाद हिंदी मे वसंत के अवसर पर फाल्गुन मे अभिनय करने व उत्सव मनाने की यह परपरा लोक जीवन मे अभी तक अक्षुण्ण है। कैप्टिन आर० सी० टेंपिल ने वशीलाल को फाल्गुन मास मे होली के अवसर पर जगाधरी मे ३ स्वाग प्रतिवर्ष करते देखा था और उसके आलेख उन्होने अपने ग्रंथ 'दी लीजेंट्स आफ दि पजाव' मे संकलित किये हैं। व्रज क्षेत्र मे फाल्गुन मे अभी तक भगत स्वाग तथा डडेशाही और फूलडोलो की परपरा है। होली के अवसर पर रागरग व नृत्य-गायन आज भी देश के अधिकाश भागो मे अपने-अपने ढग से होते हैं। यह सब फाल्गुन की अभिनय-परपरा के ही उजडे हुए वर्तमान स्वरूप हैं।

रास और फागु-परपरा का उत्तराधिकारी ख्याल-मच

अपभ्रंश युग के उपरात इस परपरा का स्थान देश मे ख्याल-मच ने ग्रहण कर लिया था। राजस्थान, गुजरात तथा पजाव के विभिन्न प्रदेशो मे प्रचलित ख्याल मच, महाराष्ट्र का तमाशा, मालवा का माच, व्रज की भगत, कानपुर की नौटकी आदि मे पाई जाने वाली एकरुपता स्वय यह सिद्ध करती है कि यह

११ विशेष विवरण के लिए देखें हमारा ग्रथ 'सागीत · एक लोकनाट्य परपरा', पृष्ठ ५१ तथा ३०९ से ३२० तक।

१२ वही, पृष्ठ ५४-५९

सब नाट्य रूप किसी एक ही विधा के स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार विकसित विभिन्न स्वरूप है। इस तथ्य पर हमने अपने ग्रथ 'सागीत . एक लोकनाट्य परपरा' मे विचार किया है। यहा इस प्रसग की अधिक चर्चा अप्रासगिक हो जाने के भय से हम नही करना चाहते, परंतु इतना अवश्य कहना चाहते है कि नाट्य-रासक का भारतीय नाट्य-विधा के निर्माण मे बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है और इसका उचित मूल्याकन होना अभी शेष है। नाट्य विधा के अध्येताओ को इस ओर ध्यान देना चाहिए जिससे उन्हे भारतीय रगमच की परपराओ को सही परिप्रेक्ष्य मे समझने का सुयोग प्राप्त हो।

६

गेय रासक

रासको ने केवल अभिनय के क्षेत्र मे ही नही भारतीय समाज के पूरे जन-जीवन पर ही अपनी गहरी छाप छोडी है। रासको मे जो गेय पद मच पर गाये जाते थे, उनकी लोकप्रियता ने तो रासक गायन की एक परपरा को ही जन्म दे दिया था। यह परपरा आगे चलकर विभिन्न क्षेत्रो मे विकसित हुई। यद्यपि रासक की इस गेय-परपरा का मच से सीधा सबंध नही रह गया था, परंतु गीतो की यह स्फुट परपरा किस प्रकार महाकाव्यो और ऐतिहासिक गाथाओ की अमूल्य सामग्री तथा उपदेशो का माध्यम बनी उसका सक्षिप्त परिचय इस परपरा के समग्र रूप को समझने के लिए आवश्यक मान कर यहा प्रस्तुत कर देना कदाचित अप्रासगिक न होगा। रासक मच पर जो गीत गाये जाते थे सभवत. उन्ही धुनो पर बनाये गये गीतो से इस परपरा का उदय हुआ होगा।

वाण ने लिखा है कि जब हर्ष का जन्म हुआ तो स्त्रिया 'रासक पदो' को चाव से गाने लगी। वे 'रासक पद' अश्लील थे और विट उन्हे सुनकर ऐसे हुलस रहे थे जैसे कानो मे अमृत चुआया जा रहा हो। स्त्रियो के इन रासक पदो के गायन के साथ 'हर्षचरित' मे रासक नृत्य होने का अलग से उल्लेख है।

सावर्त इव रासक मण्डलै (हर्षचरित, पृ० १३०)

अर्थात हर्ष जन्मोत्सव मे रासक नृत्य मडलियों के घूम-घूम कर नृत्य करने से और उनके घूम-घुमेरो के फैलने से ऐसा प्रतीत होता था मानो उत्सव ने 'आवर्त समूह' का रूप धारण कर लिया हो।

रासको के गायन की यह परपरा स्फुट रूप से कदाचित तभी से विद्यमान रही होगी जब से रासको का प्रदर्शन आरभ हुआ होगा। रासको को देखकर उसके रस से अभिभूत दर्शक उसके गीतो को प्रकट मे या मन ही मन (अपने संस्कारानुसार) अवश्य ही गुनगुनाते होगे, तभी रासको की लोकप्रियता ने लोक कवियो को रासक छदो मे गेय रचना लिखने को भी प्रेरित किया होगा क्योकि

जो रासक मंच पर नही आ सकते थे वे भी गाये तो जा ही सकते थे। रासक ग्रंथो का नेपाल तक और पूरे देश मे पाया जाना यही सिद्ध करता है कि रासक गायन के प्रेमियो ने रासको की प्रतिलिपिया सभी क्षेत्रो मे कराई थी।

डा० वासुदेवशरण की सूचना के अनुसार दक्षिण मे तंजौर मे वहा के एक नरेश द्वारा लिखित 'वशी विलास रास' उपलब्ध हुआ है, जिसकी भाषा ब्रजभाषा और लिपि तेलगू की है। सिख गुरु गोविन्दसिंह जी का लिखा एक रास ग्रथ भी डा० ओझा को मिला है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस गेय परपरा को सभी क्षेत्रो और वर्गो मे महत्व मिला था और यह बडी दीर्घजीवी हुई। ये रासक जहा एक ओर महत्वपूर्ण धार्मिक व्याख्याए और आचार संबधी शिक्षाएं प्रस्तुत करने के माध्यम थे, वहा दूसरी ओर इनके सरस पद सामयिक उत्सवो मे गायनो के भी विषय थे। यह सुसंस्कृत समाज से अश्लीलता के प्रेमियो तक अपना प्रभाव विस्तृत कर चुके थे तथा लोक जीवन मे प्रचलित सस्कारो तक इनकी पैठ थी। 'हर्षचरित' मे नारियो द्वारा जो अश्लील रासक पद गाये जाने का उल्लेख है उससे प्रकट होता है कि पुत्र-जन्म जैसे मागलिक सस्कारो के अवकर पर रासक पद गायन की परंपरा जनता मे प्रसार पा चुकी थी। यह क्रम जब और विकसित हुआ होगा तो धीरे-धीरे रासको की लोक-प्रियया के साथ-साथ लोकरुचि रासको का स्वतंत्र रूप से गायन सुनने की भी आदी हो गयी और उसने एक नवीन गायन विधा की स्थापना मे योग दिया।

ब्रज क्षेत्र मे आज भी ऐसे पच्चीसों रासधारियो को हम व्यक्तिगत रूप से जानते हैं जो पहले रासलीला मे पात्र के रूप मे अभिनय करते थे। इस अभिनय मे ही उन्हे अनेक लीलाए याद हो गयी। बाद मे उन्होने रासलीला मे अभिनय करना बद कर दिया और रासलीलाओ की कथा को तबला बाजे पर गा-गा कर कथावाचक बन गये। इस कथा से उन्होने प्रभूत यश और धन भी अर्जित कर लिया। लगता यही है कि रास-कथाओ के गायन की यह परिपाटी बहुत पुरानी है। मदिरो और जनता मे रास प्राचीन काल से ही गाये जाते रहे हैं। इसी रास गायन ने गेय रासको की अलग से रचना किये जाने का मार्ग प्रशस्त किया होगा।

जैन मदिरो मे रास गायन

जैन मदिरो मे रास गायन की यह परंपरा विशेष रूप से पनपी। इसका कारण यह था कि जैन धर्म का आदोलन एक लोकधर्म की स्थापना की भावना से प्रारभ हुआ था और लोकरुचि को आकर्षित करने के लिए ही वहा रास प्रदर्शन आरभ हुआ था, परतु सब जैन मदिरो मे नियमित रास प्रदर्शन होने की व्यवस्था सभव न थी। ऐसी दशा मे ऐसे मदिरो मे रास के गायन की प्रथा

पनपी होगी, क्योंकि उसमे भी जनरुचि को प्रभावित करने की सामर्थ्य विद्यमान थी और उसके द्वारा धार्मिक सिद्धातो का मनोरजक ढग से प्रचार संभव था।

प्रारभ मे तो इन मदिरो मे या जन समाज मे वही रास गाये जाते होगे जिनका अभिनय उन्हे प्रभावित करता होगा, परतु जब रास गायन की यह परपरा विकसित हो गई तो बाद मे केवल गायन के लिए भी रासक-ग्रथ रचे जाने लगे। 'उपदेश रसायन रासक' एक ऐसा ही गेय रास ग्रथ है। उसके लेखक ने उसे गायन के लिए ही लिखा था तभी तो उसके लिए कहा गया है—'अय सर्वेषु रागेषु गीयते गीतकोविदैः.'।

जैन मदिरो मे रास गायन का यह क्रम ११वी शताब्दी या उससे पूर्व ही आरभ हो गया था यह तथ्य डा० ओझा ने 'नवतत्त्व प्रकरण' के भाष्यकार अभयदेव के एक उद्धरण के आधार पर स्थित किया है। ११वी शताब्दी मे रचित इस ग्रथ मे कहा गया है कि चतुर्दशी की रात्रि के समाप्त होने से पूर्व ही उठकर नित्य क्रिया के उपरात देववदना और गुरुवदना करके धार्मिक व्यक्तियो को भोजन कराके और फिर स्वय भोजन करके 'मुकुट सप्तमी' तथा 'माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रासो का अवसेवन करना चाहिए।

उक्त दोनो रास अब उपलब्ध नही है, अतः उनका वर्ण्य विषय क्या था यह नही कहा जा सकता, परंतु उन रासो की रचना जैन धर्म के सिद्धातो के प्रसार के लिए हुई होगी तभी वे जैन धर्मावलबियो के पठन-पाठन की सामग्री थे।

हमारा मत है कि वे सब जैन रासक जिनमे कथा-वस्तु का अभाव है और जो केवल उपदेशपरक है, अभिनय के लिए नही केवल गायन के लिए ही रचे गये थे। ऐसे रासो की अभिनेयता बहुत सदिग्ध है। 'बुद्धिरास' या 'जीवदया रास' ऐसे ही रास है जो गायन या पठन-पाठन के लिए थे। 'उपदेश रसायन रास' की शैली पर जिन जैन रासको की या चर्चरी ग्रथो की रचना हुई वे सब केवल गेय हैं, अभिनेय नही। जिनदत्त सूरि ने स्वय अपने 'उपदेश रसायन रास' को गेय कहा है अभिनेय नही। ग्रथ के अत मे वे कहते हैं :

> कण्णंजलिहि पियतिजि भव्वइं।
> ते ह्वति अजरामर सव्वइ।

जो धार्मिक पुरुष इस रास का कर्ण-अंजलि से रसपान करेंगे वे सभी अजर-अमर हो जायेगे। इससे स्पष्ट है कि यह रास केवल श्रव्य-काव्य है दृश्य-काव्य नही, अन्यथा 'कर्ण-अजलि' के साथ लेखक 'नेत्र-अजलि' को कभी नही भूलता।

जैन धर्म मे रासक-निर्माण की अभिनेय और गेय दो परपराएं एक-साथ पनपी। अभिनेय रासको की परपरा वहा दीर्घजीवी नही हुई और १४वी शताब्दी मे जैन-मदिरो मे रास का प्रदर्शन बंद कर दिया गया क्योकि सगीत के माधुर्यपूर्ण अभिनय ने युवक-युवतियो के चारित्रिक पतन की आशका पैदा कर दी, परतु रासको की गेय परपरा जैन धर्म का स्थायी आवश्यक अग वन गयी, और रासको की अभिनेय परपरा के वद हो जाने के वाद रासक रचयिता कविगण अभिनेयता के वधन से मुक्त होकर काव्यात्मक आधार पर रासक लिखने लगे। इससे रासको का आकार वढा और उनमे काव्यत्व भी उभरा। यही प्रवृत्ति आगे और विकसित होकर उन रास ग्रथो का आधार वनी जो हिंदी के वीरगाथा-काल के गौरव ग्रथ माने जाते हैं।

जैन धर्म के गेय रासको मे 'कच्छुली रास' और 'सप्तक्षेत्रि रास' उल्लेख-नीय कृतिया हैं। 'सप्तक्षेत्रि रास' तो रास की गेय परपरा का गौरव ग्रंथ है, जिसका महत्व इस दृष्टि से और अधिक है कि जैन धर्म के साथ उसमे रास के मचीय स्वरूप के भी सुदर चित्र उपलव्ध होते है। 'समरा रासो' को भी हम इसी परपरा की एक अत्यत महत्वपूर्ण रचना मानते है।

जैन धर्म मे रासको की इस गेय परपरा की लवी शृखला उपलब्ध है। इन रासको मे शात, शृगार, करुण, रौद्र, वीभत्स, करुण रसो का अच्छा परि-पाक हुआ है। जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने रासो की इस गेय परपरा को अपने धर्म का अनिवार्य अग स्वीकार किया है और आज भी रात्रि के समय जैन मदिरो मे रासक गाये जाते हैं।[1]

चारणो के गेय रासक

परंतु रासको की गेय परपरा केवल जैन धर्म की ही थाती नही है, हमारे प्राचीन चारणो और भाटो का भी इस गेय परपरा के विकास मे वडा योग रहा है। यद्यपि इन रासक ग्रथो मे अभी भी अनेक पृष्ठ विना खुले है, परंतु गुजरात और राजस्थान मे इन रासको का विशेष रूप से अपरिमित सख्या मे निर्माण हुआ था। हमारे विचार से रासको के निर्माण की यह परंपरा अवश्य ही सौराष्ट्र की देन है। सौराष्ट्र मे इन रासको की खोज का काम एक भारत भक्त अग्रेज श्री फार्वस ने सन १८४८ मे आरभ किया

१. अगरचद नाहटा ने लिखा है, 'मदिरो के अतिरिक्त राजस्थान जैसे प्रदेश मे भी ये जैन रास जनता द्वारा गाये जाते है।' डा० ओझा ने लिखा है कि 'इसी क्रम मे आचार्य तुलसी का 'उदाई राजा' का रास मिलता है। यह रास आज दिन राजस्थान मे स्थान-स्थान पर लोकगीत के रूप मे गाया जाता है।'

—'रास और रासान्वयी काव्य', पृष्ठ ३५२-३५३

था। वे पहले अंग्रेज़ थे जिन्होने कष्ट उठाकर भी बडे धैर्य और श्रम से सौराष्ट्र के रासको तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री का शोध करके ४ भागो मे 'रास-माला' नाम से एक ऐतिहासिक ग्रथ प्रकाशित किया। इस ग्रथ से इस प्रदेश के इतिहास को नया प्रकाश मिला। श्री फार्बस को अपने ग्रथ की मुख्य सामग्री प्राचीन रासो से प्राप्त हुई थी। 'रासमाला' की भूमिका की अतिम पक्ति मे वे लिखते है, "मेरा यह सग्रह विविध रासो मे से सकलित है, अत मैंने इसका नाम 'रासमाला' रखा है।"

रासको के आधार पर रचित श्री फार्बस का यह ग्रंथ कितना महत्व-पूर्ण है यह डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दो मे देखे

"श्री फार्बस ने गुजरात-सौराष्ट्र के प्रादेशिक इतिहास का एक भव्य प्रासाद खडा किया है। वह स्रोत आज तक श्लाघनीय कहा जा सकता है—गुजराती लोकमानस ने फार्बस के प्रति सदा अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है और उन्हे गुजरात के भोज के रूप मे स्मरण किया है। श्री टाड ने राजस्थानी इतिहास के लिए, श्री आरल स्टाइन ने कश्मीरी इतिहास के लिए और श्री ऐटाकिन्सन ने हिमाचल प्रदेश के लिए जैसा अनुसधान कार्य किया, कुछ वैसा ही साहित्यिक साका श्री फार्बस ने गुजरात-सौराष्ट्र के लिए किया।"

और यह साका हुआ था मुख्यतः रास ग्रंथो के आधार पर। सौराष्ट्र मे इस प्रकार की महत्वपूर्ण रासक निधि का पाया जाना हमारी इस स्थापना का अकाट्य प्रमाण है कि यादवो की राजधानी द्वारका ही 'रासक' के प्रचार और प्रसार का मुख्य केद्र थी। ऐसी दशा मे रासक की मूल परपराओ का सूत्र वही विद्यमान था जो विभिन्न रूपो मे विकसित होकर गुजरात, राजस्थान तथा समीपवर्ती क्षेत्रो मे विस्तृत हो गया। भगवान कृष्ण के जीवन-काल मे ही उनकी लीलाओ के द्वारका मे प्रदर्शन के वर्णन हरिवश पुराण मे ही उपलब्ध है। सभावना यही है कि कृष्णलीला तभी से रासको के रूप मे लिखी भी जाने लगी होगी और वाद मे इन्ही के अनुकरण पर सौराष्ट्र मे राजपुरुषो और महत्वपूर्ण व्यक्तियो की जीवन घटनाए रासक की शैली मे लिखी जाने की परपरा आरभ हुई होगी, जो अनेक शैलियो मे विकसित हो गई। गुजरात मे रचित इस ऐतिहासिक रासक-परपरा का सवसे अधिक प्रभाव उसके निकटवर्ती राजस्थान पर पडा। रासको की इस परपरा मे राजपूत नरेशो की प्रशस्ति मे रचे गये हमारे रासो-महाकाव्य हिंदी-साहित्य की महत्वपूर्ण निधि हैं।

रासो-काव्य

चदबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' हमारे रासो ग्रथो का मुकुटमणि है। 'पृथ्वीराज रासो' के अतिरिक्त 'बीसलदेव रासो' (कल्पित नायक की कथा पर

आधारित काव्य), 'खुमान रासो' आदि ग्रंथ इस रासको की गेय परंपरा की ही उपलब्धि हैं। जहा 'वीसलदेव रासो' रासक की गेय परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है वहा 'पृथ्वीराज' रासो १६वी शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कहा जा सकता है। ऐतिहासिक रासो-ग्रंथो की इस परंपरा मे पद्मनाथ कृत 'कान्हडदे प्रवंध' (जिसमे धर्मप्राण कान्हडदे द्वारा सोमनाथ मदिर की रक्षा की कथा वर्णित है), 'राउ जैतसीरो रासो' (जिसमे हुमायू के भाई कामरान की अत्याचारी सेना पर जैतसी की विजय का वर्णन है) तथा 'आल्हा' आदि काव्य ग्रथ माने जा सकते है। वावू श्यामसुदरदास ने 'परमाल रासो' का जो सपादन किया है वह 'आल्हा' का ही एक अर्वाचीन रूप है।

इसी रासो परपरा में 'महाराज सुजानसिंह जी रासो', 'क्यामखा रासो', 'रतन रासो', 'हम्मीर रासो' आदि मे अनेक वीरो के चरित्र का वर्णन होता रहा है।

रासक काव्यो की महत्ता

इस प्रकार रासक काव्यो की इस गेय परपरा का अनेक दृष्टियो से वड़ा महत्व है। ये ग्रथ जहा एक ओर भारतीय धर्म, दर्शन, सास्कृतिक तथा कलात्मक परपराओ की थाती से हमे परिचित कराते हैं वहा इनमे लोक-जीवन तथा लोक-सस्कृति का इतिहास भी सजोया गया है। इनके ऐतिहासिक महत्व के सदर्भ मे यह स्मरणीय है कि इन ग्रथो मे केवल राजवशो के युद्ध और सधियो का विवरण ही नही है वरन ये तत्कालीन समाज, उसकी चितनधारा और विचारो का भी चित्रण करते हैं। रासको ने ऐसे अनेक वीरो के चरित्र का उद्घाटन किया है जिससे हमारे इतिहासकार भली भाति परिचित भी नही थे। 'वस्तुपाल', 'कुमरपाल' जैसे रास ग्रथो मे इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री है। ओझाजी के अनुसार रासक काव्यो मे काव्य, इतिहास एव धर्म-साधना की त्रिवेणी का एकत्र दर्शन होता है। जैन धर्म की दृष्टि से भी अनेक रासक वहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योकि इनमे राजवशो की भाति जैन गच्छो और आचायो के जीवन इतिहास संगृहीत हैं।

इन रासक काव्यो की दूसरी विशेषता इनका साहित्यिक वैभव है। रस, अलकार, कल्पना-सौंदर्य, प्रकृति-चित्रण इन रासो का अपना आकर्षण है। धार्मिक उपदेश मे काव्य-रस और अध्यात्म-रस का जो मिश्रण वाद मे कवीर और तुलसी जैसे महाकवियो मे पाया गया उसका प्रारभिक रूप इन रासक ग्रंथो मे उपलब्ध है जो इनकी लोकप्रियता का सवसे मुख्य कारण है। इन काव्य ग्रथो के अधिकाश लेखक कवीर, सूर और तुलसी के समान ही पूर्व-वर्ती साधु-महात्मा थे, इसलिए ससार के बधनो से ऊचे उठकर उन्होने आत्म-

समर्पण और परोपकार की भावना से साहित्य और कला की साधना की थी जिसकी स्पष्ट छाप इन ग्रथो मे उभरी है।

ये ग्रथ उस युग की, जो लगभग एक सहस्र वर्ष की परपरा को अपने मे सजोए हैं—विभिन्न जन-भाषाओ, वोलियो, उनके स्थानीय भेद-प्रभेदो तथा वदलते हुए स्वरूपो का परिचय देने मे भी समर्थ है। रासक ग्रथो की रचना-शैली तथा उनके स्वरूप और रासक छदो मे समय-समय पर जो परिवर्तन आये उनका अध्ययन तत्कालीन समाज की साहित्यिक-सास्कृतिक और कलात्मक रुचियो के अध्ययन के लिए भी विपुल सामग्री प्रस्तुत करता है।

ये रासक काव्य हिंदी के आदिकाल से पूर्व की वह कडी हैं जिनसे हिंदी ने अपना पैतृक उत्तराधिकार प्राप्त किया है। साथ ही हिंदी से पूर्व की परवर्ती अपभ्रश तथा जनता द्वारा वोली जाने वाली भाषा इन काव्यो मे मूल रूप से रक्षित है। मध्यकालीन मानव समाज के अतर्मन की अभिव्यक्ति के स्वर इन ग्रथो मे सहज ही सुने जा सकते हैं। रासक काव्य जहा वीर भारतीय महापुरुपो के शौर्य और पराक्रम की गाथा कहते हैं वहा मध्य युग के त्यागी, संत, महात्मा और आत्मत्यागियो के चरित्रो के साथ उस युग मे मानव के आत्मोत्कर्ष के लिए किए गए नि स्वार्थ प्रयासो के भी प्रतिविंव हैं। जैसे-जैसे इन ग्रथो के अध्ययन को वल मिलेगा भारत के गौरव के स्वर्णिम पृष्ठ खुलेंगे।

हम इन रासको के विषयवस्तु की दृष्टि से ३ विभाग कर सकते है :

१ **उपदेशपरक रासक**—ये रासक मुख्यत जैन धर्म से सवद्ध है जिनमे मानव जीवन को सार्थक वनाने के लिए विभिन्न उपदेशो का सग्रह है।

२. **राज-वंशो से संवद्ध रासक**—ये चारणो व भाटो द्वारा रची गयी वे रचनाए हैं जिनमे भारतीय इतिहास के अनेक अधखुले पृष्ठ खोलने की क्षमता है। इन ग्रथो का भारी ऐतिहासिक महत्व है।

३ **काव्य-ग्रंथ**—इस श्रेणी मे 'वीसलदेव रासो' जैसे काव्य ग्रथ रखे जा सकते हैं जो ऐसी काव्यात्मक कृतिया है जिनमे कल्पना के आधार पर तत्कालीन वीरता और जीवन की झाकी उपस्थित की गयी है।

परतु इन गेय रचनाओ का मच से सीधा सवध कभी नही रहा।

पौराणिक रास-वर्णन और उसका मंचीय महत्व

श्रीकृष्ण का महान व्यक्तित्व भारतीय जनमानस के आकर्षण का एक केंद्र रहा है, जिसने देश की प्रतिभा को सदैव अपनी ओर आकर्पित किया और उनकी लीलाओ पर सभी प्रकार का साहित्य सभी युगो मे रचा जाता रहा है इसलिए श्रीकृष्ण लीलाओ को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए रासकर्मियो को कभी उन्हे अलग से लिखने की आवश्यकता नही पड़ी। यह परपरा सदा

उपलब्ध साहित्य से ही अपने कथानको का चयन करती रही है। सन १९५४ के बाद सर्वप्रथम वृदावन के बाबा तुलसीदास ने रास की कुछ पदावली और रासलीलाए रास मडलियो के प्रदर्शनो से स्वय सकलित करके हाल मे ही प्रकाशित की हैं। परतु यह ध्यान रखना चाहिए कि ये रासलीलाए भी रास के लिए प्रस्तुत आलेख नही हैं, वरन रास के आलेखो के भक्तजनो के हितार्थ एक महात्मा द्वारा प्रस्तुत सकलन मात्र हैं। इनके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि रास के इन आलेखो के लिखने की कोई परपरा कभी स्थापित थी या है।

श्रीकृष्णलीलाओ के आलेख पृथक से न लिखे जाने का मूल कारण यही है कि श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व भारतीय समाज के आकर्षण का आरभ से ही ऐसा केंद्र रहा है जिनके चारु चरित्र का अकन देश की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं का सदा से स्वय ही प्रिय विषय बना रहा है। भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओ का देश के सर्वश्रेष्ठ काव्यकारो ने जैसा सर्वांगीण और मनमोहक वर्णन किया है उसके सदैव विद्यमान रहने के कारण मच के लिए उन लीलाओ का अकन अलग से करने की कृष्णलीला के रास प्रदर्शको को कभी आवश्यकता ही नही हुई। वे इसी उपलब्ध गेय वाङ्मय मे से अपनी रुचि के अनुरूप सर्वश्रेष्ठ का चयन करके उससे ही गायन और नृत्य के द्वारा अपने मच का अलकरण करते रहे। प्रारभिक काल मे पुराण-ग्रथो की कृष्णलीला उनके मच का शृगार करती रही और मध्य युग मे व्रजभाषा ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया जो अभी भी यथावत सुरक्षित है। अतः रास और रासलीला का समय-समय पर जो विकास हुआ उसकी परपरा को समझने के सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम आधार हमारे पुराण ग्रथ ही है। यद्यपि इन पुराण ग्रथो को नाटक कहने की धृष्टता नही की जा सकती, परतु हरिवश से लेकर ब्रह्मवैवर्त तक के सभी पुराण और उसके उपरात 'गीत गोविन्द' और उसकी परपरा मे रचित कृष्णलीला के ये महान काव्य रास के विकास के इतिहास ग्रथ अवश्य है। आभीरो की सस्कृति से उद्भूत कृष्णलीलाओ को विकसित होकर एक पुष्ट दार्शनिक भावभूमि पर पूरे भारतीय समाज के मन-मानस मे सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने की जो प्रक्रिया निरतर होती रही उससे रास के गौरव मे क्रमश जो वृद्धि हुई और उससे मंच मे जो व्यापकता आयी उसके चित्र इन पुराणो मे क्रमश उभरते दृष्टिगोचर होते हैं। हमारी मान्यता है कि इन पुराणो के ये वर्णन कृष्ण रास के निरतर विकासमान स्वरूप के ही प्रतिबिंब है यद्यपि उनमे अतिरजना हो सकती है। इस दृष्टि से रास के विकास को समझने के लिए इस पौराणिक परपरा पर दृष्टिपात करना परमावश्यक है। वैष्णव पुराणो के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण रास का विकास तथा उसकी महत्ता निरतर बढती ही गयी और समय के साथ-साथ रास के प्रति भक्तो की आस्था तथा उसमे

दार्शनिकता का विकास भी सुनियोजित ढग से होता रहा। ऐसी दशा मे पुराणो मे रास के जो वर्णन उपलब्ध हैं, हमारे मत से वे कृष्ण रास की लोक प्रचलित विकासमान परपरा से अवश्य ही प्रभावित है। हरिवश से लेकर 'गीत गोविन्द' तक और उसके बाद के भी कृष्ण रास के इन साहित्यिक वर्णनो को केवल काल्पनिक नही कह सकते। कृष्ण रास की यह पौराणिक परपरा अवश्य ही लोक प्रचलित कृष्ण रास की परपरा से प्रेरणा लेती रही।

हमारे पुराण ग्रथो मे तथा उससे प्रभावित ग्रथो मे रास के जो विशद वर्णन है उनका महत्त्व दो दृष्टियो से वहुत अधिक है। वे प्रकारातर से जहा एक ओर रास की प्राचीन हल्लीसक नृत्य-परपरा की कहानी कहते है वहा साथ ही साथ दूसरी ओर उन्होने वर्तमान रास रगमच को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसलिए रास को पूरी तरह समझने के लिए रास की पौराणिक परपरा के विकास का परिचय भी बडा आवश्यक है।

पुराणो के रास-वर्णन

हमारे जिन पुराणो का वैष्णवीय दृष्टिकोण रहा है उन सभी मे कृष्ण-लीलाओ के साथ-साथ रास का वर्णन प्रमुखता से हुआ है। इन पुराणो मे हरि-वंश, विष्णु, ब्रह्म, भागवत व ब्रह्मवैवर्त पुराण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पुराणो के साथ गर्ग-सहिता के वृदावन खड मे भी रास का वर्णन प्रमुख रूप से है।

इन सभी ग्रथो मे रास के वर्णन कथावस्तु की दृष्टि से लगभग एक जैसे है। नृत्य मे गायन व अग-सचालन आदि क्रियाकलापो का वर्णन लेखको ने अपनी रुचि के अनुसार घटा-वढा कर किया है जो एक-दूसरे से मिलते-जुलते ही है।

हरिवश, विष्णु और ब्रह्म पुराणो के अनुसार शरद-चद्रिका को देखकर भगवान कृष्ण की रमणेच्छा जाग्रत हुई जिसके फलस्वरूप गोपियो का रास मे आगमन हुआ। हरिवश पुराण मे गोपिया किस प्रकार रास के लिए एकत्रित की गयी इसका उल्लेख नही है परतु उसके परवर्ती विष्णु पुराण मे वशीवादन द्वारा गोपियो के आगमन का उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है। विष्णुपुराण मे ही प्रथम बार यह भी उल्लेख हुआ है कि रास-नृत्य मे प्रत्येक गोपी का हाथ श्रीकृष्ण के हाथ मे था।

हस्तेन गृह्य चैकैका, गोपीना रास-मण्डलम्।
चकार तत्कर-स्पर्श निमीलित दृश हरि ॥ ५-१३-५०

इसके अतिरिक्त हरिवश के रास-वर्णन से विष्णुपुराण के राम वर्णन मे एक विशेपता यह अधिक है कि हरिवश मे जहा केवल नृत्य, गायन और रस-रग का ही उल्लेख है वहा विष्णुपुराण मे यह भी कहा गया है कि 'रास से कृष्ण के कही चले जाने पर गोपिकाए स्वय वृदावन मे विचर कर कृष्ण की लीलाए करने लगी।' इस प्रकार यहा तक आते-आते राम भी केवल नृत्त मात्र न रह कर नृत्य का ताना-वाना ग्रहण करता प्रतीत होता है और उसके साथ कथानक का जुड़ना प्रारभ हो गया है। विष्णु तथा ब्रह्मपुराणो ने इस अवसर पर एक 'विशिष्टा सखी' का उल्लेख किया है जिसके चरणचिह्न गोपियो ने देखे पर वह स्वय न मिली। कुछ समय वाद कृष्ण स्वय प्रकट हो गये और तब रास गोष्ठी आरभ हुई। इसके उपरात इन पुराणकारो ने अपने-अपने ढंग से रास-नृत्यो, गायनो और रास-क्रीडा का कथन किया है। सभी पुराणो मे नृत्य, गायन तथा गोपियो के साथ कृष्ण के विविध प्रकार के नृत्यों, आलिगन, परिरंभन तथा क्रीडाओ का वर्णन अपने-अपने ढग से हुआ है जो मूल रूप मे समान हैं। इससे प्रकट होता है कि रास के नृत्य इस युग मे काफी विकसित हो चुके थे तथा क्षेत्रीय प्रभाव से सयुक्त होकर उनमे विविधता का विकास हो गया था। साथ ही वे कृष्ण की जीवन लीलाओ को प्रस्तुत करने के भी माध्यम बन गये थे।

इन सभी रास वर्णनो मे भगवान कृष्ण को ही इस आयोजन का नेता माना गया है। पुराणो के वर्णनो से रास का जो रूप खडा होता है वह नृत्य गायन से परिपूर्ण एक सरस महोत्सव जैसा प्रतीत होता है। मूल मे आभीरो का यह नृत्य-रास अब पूरे भारतीय समाज का सामाजिक नृत्य हो गया था।

ब्रह्मवैवर्तकार का रास-वर्णन इन सब पुराणो से अधिक अतिरंजित और विलासितापूर्ण है। इस पुराण के रास-वर्णन मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसने भगवान कृष्ण के शरद रास के वर्णन को मान्यता न देकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को राम के लिए कृष्ण के वृदावन जाने का कथन किया है। अत. यह वसत-रास की परपरा का सस्थापक ग्रथ है। श्रीकृष्ण खंड, २८वें अध्याय मे इस पुराणकार ने खुलकर राम के माध्यम से कामुकता के उल्लेख किये हैं। रास के साथ राधिका का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम इसी पुराण मे हुआ है, जबकि पूर्ववर्ती दो पुराणो मे एक 'विशिष्टा सखी' का उल्लेख मात्र है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे रास मे राधा-कृष्ण के अतर्धान होने पर जब वे एक सुरम्य स्थान पर विश्राम करते होते हैं तब कृष्ण के सम्मुख एक तपस्वी ऋषि अष्टावक्र आकर शरीर-त्याग करते हैं, जिनकी क्रिया स्वय कृष्ण करते हैं। यहा राधा को कृष्ण अनेक प्राचीन आख्यान भी सुनाते है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्म-खड के पाचवें अध्याय के अनुसार गोलोक के रासमडल मे भगवान कृष्ण के बायें पार्श्व से राधिका का जन्म हुआ और जन्म लेकर वे

भगवान के सम्मुख दौडी । इसी से उनका नाम राधा हुआ ।

रासे संभूय गोलोके, सादधाव हरे पुरः ।
तेन राधा समाख्यातापुराविम्दिर्द्विनोत्तम ।

आगे इस पुराण मे राधा के रोमकूपो से उन्ही के समान सुदरी लक्ष-कोटि गोपियो तथा कृष्ण के रोमकूपो से सुदर वेश वाले ३० करोड गोपो की उत्पत्ति का कथन हुआ है । इस पुराण मे ९ लाख गोपो के रास मे सम्मिलित होने का उल्लेख है ।

विद्वानो का मत है कि इस पुराण का प्रारभिक भाग ८०० ई० मे लिखा गया परतु इसका वर्तमान रूप १६वी शताब्दी मे बना । इस प्रकार यह परपरा हमे मध्यकालीन भक्तियुग तक ले आती है । इसलिए ब्रज के भक्ति साहित्य मे रास की अधिष्ठात्री के रूप मे राधिका को जो महत्ता प्राप्त हुई और ब्रज के रास रगमच पर उनका जो सर्वोपरि महत्व है उसकी स्थापना मे इस पुराण का काफी योगदान है, परतु हमारे भक्तियुग ने राधिका की महत्ता के साथ उनकी पावनता की जो गरिमा उपस्थित कर दी है उसने उसे अनुपम दिव्यता प्रदान की है । यह पुराण रासक-ग्रथो के साथ फागु की जो परपरा प्रचलित हुई, कृष्णलीला के संदर्भ मे उस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि वैष्णव ग्रथ है ।

गर्ग-संहिता का रास वर्णन विशद होते हुए भी ब्रह्मवैवर्त के समान विलासितापूर्ण नही है । उसमे प्रकृति का सुदर चित्रण हुआ है । इस ग्रंथ के अनुसार पहले राधा-कृष्ण का सगम हुआ फिर चंद्र-दर्शन के बाद वृदावन मे रास आरभ हुआ । इस रास मे पहले वन बालाए, फिर गोवर्धन-वासिनी स्त्रिया और उसके बाद अपने यूथो के साथ यमुना व गगा आयी । उनके बाद अष्टसखिया तथा फिर ३२-३२ सखियो के अनेक यूथ आये । जितनी नारिया थी भगवान कृष्ण ने उतने ही रूप धारण करके उनके साथ रास किया । नृत्य और गायन से समा बध गया । यह रास पहले वृदावन से आरभ हुआ और फिर क्रमशः तालवन, मधुवन, कामवन, कोविलावन आदि स्थानो पर हुआ ।

भागवतकार का रास-वर्णन

भागवत पुराण के रचना-काल के सबध मे विद्वानो मे काफी मतभेद है, परतु उपलब्ध प्रमाणो से यह छठी शताब्दी की रचना सिद्ध होती है । भागवतकार के रास-वर्णन का महत्व सर्वाधिक है । इसका कारण यह है कि इस पुराण का रास-वर्णन जहा विशद और सरस है वहा सयत भी है । यही पुराण आगे चलकर ब्रज के रास रगमच की प्रेरणा का आधार भी बना । आज भी ब्रज के रासधारी भागवत के श्लोको को अपने मच पर प्रमुख स्थान देते है । ब्रज के

महारास की कथा का मूलाधार आज भी भागवत ही है। महारास लीला के प्रसग मे आज भी भागवत के श्लोको का ही रास के पात्र अपने सवादो मे प्रयोग करते है तथा महारास की इस लीला का गठन भी भागवत की 'रास-पचाध्यायी' (दशम स्कध के अध्याय २९ से ३३ तक)पर ही आधारित है। रास रंगमच के साथ-साथ ब्रज-साहित्य मे भी भागवत के इसी पचाध्यायी के प्रसग को ज्यो की त्यो मान्यता प्रदान की गयी है। नददास की 'रास-पंचाध्यायी' तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। 'रास-पचाध्यायी' के इन पाच अध्यायो मे रास का वर्णन करके महारास के नृत्य को एक दिव्य कथा के रूप मे सुगठित करके उसमे नाटकीयता की अद्भुत सृष्टि कर दी गयी है।

भागवतकार की रास को देन

यद्यपि भागवतकार का ५ अध्यायो मे किया गया रास का यह वर्णन भी घटनाक्रम के अनुसार पूर्ववर्ती पुराणो के ही अनुरूप है परतु उसमे भागवतकार की मौलिकता अनेक स्थलो पर प्रकट होती है। इस पुराण के अनुसार वशी-ध्वनि से विमोहित गोपिया जब कृष्ण के पास वृदावन मे पहुचती है तो वह उनका स्वागत करके फिर उन्हे घर लौट जाने का उपदेश देते है। वह उन्हे उनके माता-पिता व सबधियो की याद दिलाते है और उन्हे पति-सेवा व धर्म का उपदेश करते है, परतु जब गोपिया उन्हे ही अपना सर्वस्व मानकर घर लौटना एकदम अस्वीकार कर देती हैं तब कही कृष्ण उनके उत्कट स्नेह से प्रभावित होकर उनके साथ रास मे प्रवृत्त होते है।

इस प्रकार भागवत का यह प्रसग रास को उसकी एक अभिनव मौलिक देन है, जिसमे आभीर परंपरा को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप नवीन ताने-बाने मे ढाला गया है। यह वर्णन जहा रास की इस कथा मे नाट-कीयता की वृद्धि करता है वहा रास के भावी विकास मे भी इसका बडा योग-दान था, किंतु आज तक इस महत्वपूर्ण देन का मूल्याकन करने की कोई भी चेष्टा नही की गयी है। वास्तव मे भागवतकार ने रास मे यह प्रसग जोडकर रास की परपरा को एक स्पष्ट दिशा दी, जिसके फलस्वरूप कृष्ण रास की यह वैष्ण-वीय परपरा दो धाराओ मे विभक्त हो गयी जैसा कि हम आगे कथन करेगे। इस प्रसग ने रास को मंचीय व साहित्य के क्षेत्रो मे जो नयी दिशाए दी उन्हे भली प्रकार हृदयगम करना बडा आवश्यक है।

ऐसा लगता है कि भागवतकार के समय तक (छठी शताब्दी के आस-पास) रास मे स्त्री तथा पुरुषो के युग्मो को खुलकर नृत्य व गायन करने तथा आलिगन-परिरभन करने की पूरी छूट थी जो सभवत मर्यादा के कगार तोडने लगी थी (जैसा कि बाद के ब्रह्मवैवर्त पुराण के वर्णन से प्रकट होता है) यह

प्रवृत्ति आभीर सस्कृति के भले ही अनुरूप हो किंतु विकासमान भारतीय मर्यादा का इससे अतिक्रमण होता था। अत भागवतकार ने पति-सेवा-धर्म को वीच मे लाकर उस उच्छृंखलता को रोक कर जहा कला के इस क्षेत्र मे नैतिकता की स्थापना का प्रयत्न किया वहा रास मे पर पुरुष के प्रवेश पर प्रतिबध भी लगाया। यही कारण है कि भागवतकार ने रास मे ब्रह्मवैवर्त की भाति स्त्री-पुरुषो के युग्मो के नृत्य का वर्णन नही किया है। भागवतकार के रास मे कृष्ण ही केवल एक-मात्र पुरुष है जो अनेक रूप होकर गोपियो के साथ स्वय ही नृत्य करते है। यह परंपरा भागवत मे विष्णुपुराण से विकसित हुई है। विष्णुपुराण मे अप्रत्यक्ष रूप से केवल इतना ही कहा है कि प्रत्येक गोपी का हाथ कृष्ण के हाथ मे था जबकि भागवतकार ने नारायण कृष्ण के बहुरूप धारण करके प्रत्येक व्रजागना के साथ नृत्य का उल्लेख किया है। भागवत के रास मे हल्लीसक की उस प्राचीन परपरा की पुन कठोरता से स्थापना की गई है जहा नारियो के मध्य मे केवल एक ही पुरुष नृत्य करता था। यही नही, भागवतकार के रास मे भगवान शकर को भी गोपी-वेश मे ही रासस्थली मे प्रवेश प्राप्त हो सका है। इस रास-नृत्य मे किसी भी अन्य गोप या पुरुष का किसी भी भाति कोई प्रवेश नही हो पाया है। भागवत के रास मे जो भी पुरुष नाचा वह कृष्ण रूप होकर ही नाचा है।

भागवतकार ने रास के वर्णन को यह विशिष्ट दिशा देकर जहा मच के लिए यह मर्यादा स्थापित की कि रास-नृत्यो मे जो दूसरे पुरुष भाग ले वे भी कृष्ण रूप ही धारण करें और नृत्य मे सहयोग देने वाले नारी पात्रो से कृष्ण के व्यक्तित्व की मर्यादा के अनुसार ही कलात्मक स्तर स्थापित रखे वहा दूसरी ओर उसने इस दिशा-परिवर्तन द्वारा रास के लिए वह उच्च-स्तरीय पृष्ठभूमि भी प्रदान की जिसने बाद में दार्शनिको को रास पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने और विभिन्न प्रकार से उसकी व्याख्या करने का अवसर दिया जिसके कारण रास मे अलौकिकता, पवित्रता और सार्वभौमिकता की व्यापक रूप से स्थापना की गयी। यही से रास को कलात्मकता के साथ-साथ पावनता, धार्मिकता और दार्शनिकता का आधार प्राप्त हुआ जिसके कारण उसने अन्य मचो से अलग अपनी एक विशेष स्थिति प्राप्त की।

इस प्रकार भागवत से रास को एक नया मोड़ मिला और जो इस परपरा के साथ नही निभ सके उन्होने नया मार्ग तैयार करने का प्रयत्न आरभ कर दिया।

रास के विकास की दो दिशाए

यही से हमे रास की दो परपराए पृथक-पृथक विकसित होती प्रतीत होती है। लगता है कि कृष्ण रास का मच भागवतकार के बाद दो सप्रदायो मे

विभाजित हो गया। एक सम्प्रदाय तो वह था जिसने भागवतकार की मर्यादा को स्वीकार कर लिया और दूसरा सप्रदाय वह था जिसने इस परपरा का वहिष्कार करके रास मे उन्मुक्त शृगार की स्वच्छदता को ही आगे वढाना पसद किया। सभवत परवर्ती व्रह्मवैवर्त पुराण के रास की विशदता और कामुकता-पूर्ण शृगारिक भावना भागवतकार के विरोध मे ही एक सशक्त प्रतिक्रिया थी, जवकि गर्गसहिताकार ने भागवत की मर्यादा को ही स्वीकार किया और उसे प्रशस्त किया। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य मे रास के वर्णनो की यह परपरा कही पृथक-पृथक दो दिशाओ मे तथा कही एक समन्वित रूप मे वरावर चलती रही। सत्तरहवी शताव्दी मे 'आनन्दकन्दचम्पू' मे रास का जो वर्णन हुआ है कदाचित वह पुनः उक्त दोनो परपराओ के समन्वय की ही चेष्टा है।

वारहवी शताव्दी मे भागवत विरोधी एक दूसरी रास परपरा सशक्त रूप मे उभरती प्रतीत होती है। इन्हे शरद ऋतु भी रास के लिए उतनी रोचक नही लगी जितना उनकी भावना के अनुकूल माधव मास वसत था। इसलिए इन कवियो ने वसंत को ही रास की प्रमुख ऋतु माना। इस वसत परपरा के सर्वश्रेष्ठ उन्नायक है महाकवि जयदेव। जयदेव ने 'गीत गोविन्द' में 'वसंत रास' का ही कथन किया है।

> रासे हरिरिहि सरस विलासम्, विहरिति हरिरिह सरस वसते।
> नृत्यति युवतिजनेन सम सखि, विरहितुनस्य दुरन्ते।

विल्वमगल ने भी अपने 'कृष्ण-कर्णामृत' तथा 'वाल गोपाल स्तुति' ग्रथो मे जयदेव की इसी परंपरा को निवाहा है और आगे चलकर मैथिल कोकिल विद्यापति ने भी वसत रास के ही गीत गाये हैं। वगाल और उसके निकटवर्ती क्षेत्रो मे इसीलिए रास की मचीय परंपरा भी वसंत रास की है, व्रज के शरद रास की नही। मणिपुर-राम भी वसत की इस साहित्य-परपरा का ही एक आकर्षक मचीय प्रतिनिधि है।

यही नही, रास के साथ इस परपरा पर आधारित काव्य ग्रथो मे राधिका का रूप भी वदल गया। जयदेव, विद्यापति व चंडीदास तथा अन्य कवियो की राधा इसीलिए परकीया है। चैतन्यदेव ने भी अपने सप्रदाय मे राधा को परकीया ही माना है जवकि व्रज के शास्त्रीय रास के गायको ने सूरदास से लेकर चचा हित वृ दावनदास तक राधा का उल्लेख केवल स्वकीया के रूप मे ही स्वीकार किया है।

वर्तमान समन्वित स्वरूप

भक्ति-युग मे व्रज मे जव रास रगमच का पुनर्गठन हुआ उस समय

पुराणो की यह पूरी परपरा और उससे सबंधित सभी प्रभाव रास के पुनर्गठन-कर्ताओ के सामने थे और उन्होने इसका रास रगमच मे बडी चतुरता से समन्वय कर डाला जो रास के इन संस्थापको की पैनी दृष्टि और अनुपम सूझबूझ का अद्वितीय उदाहरण है। इसी स्वरूप को रासधारी आज तक अपनाये हुए है।

जैसा हम पहले कह चुके है ब्रज के रास रगमच का मूल भागवत पर आधारित है, परंतु उन्होने ब्रह्मवैवर्त पुराण की भी उपेक्षा नही की। ब्रज के इस मच पर रास रस की अधिष्ठात्री के रूप मे राधिका को उन्होने स्वीकार किया परंतु परकीया के रूप मे नही, स्वकीया के रूप मे। हा, रास के मच पर राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओ मे मिलन और वियोग के सरस प्रसगो मे वाधा न पडे इस कारण बचपन से ही ब्रज-साहित्य मे राधा और कृष्ण का परिचय हो जाता है और विवाह से पूर्व ही ऐसी अनेक सरस लीलाओ की सृष्टि रास के रगमच पर होने लग जाती है जो कामशास्त्र के पारगतो को भी चमत्कृत करने की क्षमता के साथ श्रद्धा का वातावरण भी आदि से अत तक बनाये रखने की सामर्थ्य रखती है। ब्रज के रासमच पर राधा का व्यक्तित्व श्रद्धा से ओतप्रोत तथा उच्च दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। राधा-कृष्ण के पारस्परिक सबधो मे नाटकीय स्थिति को निरतर विकासमान रखने के लिए ही महाकवि सूरदास ने राधा-कृष्ण के रासमडल मे ही गाधर्व विवाह का उल्लेख किया है। सूरदास जी ने तो रास को भगवान कृष्ण के विवाह का आयोजन ही कह कर उसे विवाहोत्सव के उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम मान लिया है, परतु बाद के ब्रजभाषी कवियो को यह गुप्त विवाह सह्य न रहा। अत परिमाण की दृष्टि से रासलीलाओ के सबसे अधिक समर्थ लेखक चाचा हित वृदावनदास जी ने राधा-कृष्ण के विवाह का विशद वर्णन अपने कई ग्रथो मे किया है। यही नही, अपनी वजारे लीला मे तो वे राधा को अपनी ससुराल नन्दगाव मे ही लाकर वसा देते है। ससुराल मे रहते-रहते जब झूलो के दिन आ जाते है और वरसाने से श्रीदामा भैया उन्हे पीहर ले जाने को नही आते तो वे एक बंजारे के द्वारा वरसाने को एक मार्मिक सदेश भेजती है। रासलीला मे मच पर जिस समय यह सदेश सिसकी लेकर राधा के पात्र द्वारा मल्हार मे गाया जाता है तो दर्शको की आखो से अश्रु-प्रवाह उमड पडता है। इसकी आरभिक पक्तिया है ·

"सुनि वनजारे वीरन नगर के, कहि सँदेस सखि जाय।
वहन वसत नाँदगाँम मे, तुम काहे न लेत बुलाय ॥ सुन० ॥"

इस प्रकार ब्रज के रास रगमच पर जहा एक ओर राधा की इस अलौकिक रूप मे उद्भावना हुई वहा शरद और वसत रास की परपराओ का

भी उसमे सुदर समन्वय किया गया। यह समन्वय रास मे किस रूप मे पाया जाता है इसका उल्लेख हम आगे यथास्थान करेंगे। यहा तो हम केवल यह सूचना भर देना चाहते हैं कि ब्रज के रासमच पर रास के दो रूप स्वीकार कर लिये गए · (१) महारास और (२) नित्य-रास।

महारास

महारास वह रास है जो भगवान कृष्ण ने शरद निशा मे किया और जिसका वर्तमान आधार भागवत की 'रास-पचाध्यायी' है। इस रास को रास रगमच पर सर्वाधिक महत्व दिया गया है। रासधारी इस महारास की लीला को विशेष आयोजन से करते है। शरद पूर्णिमा के अवसर पर वृंदावन मे कई-कई मडलिया एक साथ मिलकर महारास करती हैं तब दूर-दूर से दर्शक रास के दर्शनो को दौड पडते है। शरद पूर्णिमा के अतिरिक्त वैसे भी कभी-कभी दर्शको के आमत्रण पर दो-तीन मडलियो को जुटाकर महारास किया जाता है। महारास की यह लीला रास मे सर्वप्रमुख मानी जाती है।

नित्य-रास

इस प्रकार महारास जहा शरद पूर्णिमा के अवसर पर व्रज मे उद्भूत भगवान का एक विशेष महोत्सव है, वहां 'नित्य-रास' वह रास है जो भगवान रासविहारी का प्रतिदिन का दैनिक व्यापार है। यह रास भूतल पर भगवान के आविर्भाव से पूर्व भी गोलोक मे होता था और आज भी प्रतिदिन नियमानुसार गोलोक धाम मे और उसके प्रतिरूप व्रज के वृदावन धाम मे निरतर होता रहता है। अत व्रज की रास मडलिया भी कृष्ण के जीवन की किसी लीला के प्रदर्शन से पहले 'नित्य-रास' अनिवार्य रूप से करती हैं। जब कृष्ण नित्य ही रास करते हैं तब स्वभावत ही प्रकृति को, जो उनकी किंकरी है, रास के अनुकूल वातावरण बनाना ही होता है और रास जैसे सरस रस के आयोजन के लिए वसत से अच्छा वातावरण और क्या हो सकता है? अत. भगवान कृष्ण के नित्य-रास मे वसत ऋतु के गीतो और वसत राग के गायन के साथ तदनुरूप हाव-भावो का भी पर्याप्त मात्रा मे समावेश है क्योंकि नवल वृंदावन मे नवल वसंत के नवल निकुज ही नवल लाल के नित्य-रास की क्रीडा-स्थली बनने की क्षमता रखते हैं।

इस प्रकार व्रज का वर्तमान रास रगमच पुराणो तथा प्राचीन कृष्ण साहित्य की पूरी प्रवृत्तियो को अपने मे सजोये हुए व्रजभाषा के माध्यम से आज भी इस देश को श्रद्धा और आस्तिकता का एक सदेश दे रहा है। व्रजभाषा साहित्य के साथ संस्कृत के श्लोक और अन्य छद भी रास के संवादो और गायनो

मे प्रयुक्त होते हैं। जिनमे भागवत के साथ 'गीत-गोविन्द' को भी स्थान प्राप्त है। जयदेव जी की यह आरती तो, जो अब कुछ नवीन आरतियो मे दब गई है, जो कुछ वर्ष पूर्व तक रास मडलियो मे रास के प्रारभ मे ही झाकी खुलने पर गोपियो द्वारा गायी जाती थी। आज भी कुछ पुरानी परिपाटी की मडलियो को यह आरती याद है :

श्रित् कमला कुच मडल ए, धृत कुडल ए, ललित कलित वनमाल।
जय जय देव हरे॥

दिनमणि मडल मडन ए, भव खडन ए, मुनि जन मानस हस।
जय जय देव हरे॥

कालिय विषधर गंजन ए, जन रजन ए, यदुकुल नलिन दिनेश।
जय जय देव हरे॥

मधु मुरु नरक विनाशन ए, गरुडासन ए, सुर कुल केलि-निधान।
जय जय देव हरे॥

अमल कमल दल लोचन ए, भव मोचन ए, समर श्रमित दशकंठ।
जय जय देव हरे॥

अभिनव जलधर सुन्दर ए, धृत मदिर ए, श्री मुख चन्द्र चकोर।
जय जय देव हरे॥

तव चरणे प्रणतावयि ए, मति भावय ए, कुरु कुशल प्रणतेषु।
जय जय देव हरे॥

श्री जयदेव कवेरिद करते मुद, मगलमुज्ज्वल गीतं।
जय जय देव हरे॥

इस प्रकार हमारी पौराणिक परपरा ने वर्तमान रास रगमंच के स्वरूप को पूरी तरह से प्रभावित किया है।

यवन आक्रमण का रास पर प्रभाव

अतीत मे भारतीय लोक जीवन मे रास का जो महत्वपूर्ण स्थान था वह रासको की तथा कृष्ण रास की पौराणिक परपरा से भली प्रकार स्पष्ट है परंतु महमूद गजनवी से प्रारभ होकर मुगल साम्राज्य की स्थापना के समय तक इस देश मे धार्मिक संघर्ष का जो दौर चला उसने यहा की चिर विकासमान सस्कृति और कला परपराओ को झकझोर डाला। भारत मे मुसलमानो के हमले केवल धन के लिए या सत्ता प्राप्ति के लिए ही नही थे वरन वे यहा एक विशिष्ट धर्म और सस्कृति को लेकर आये जिसका परिणाम यह हुआ कि वे यहा की

समन्वयवादी सस्कृति के अग न बन कर विजेताओ के एक विशिष्ट वर्ग के रूप मे एक विशेष जीवन-दर्शन के प्रतिनिधि बनकर बने । उनका धर्म-प्रचार भी बौद्ध या जैन-धर्म की भाति प्रेम और सद्भावना पर नही वरन डडे पर आधारित था। इन मुसलमान शासको ने, जो स्वय बाहर से एक सीमित सख्या मे ही आये थे, यहा के निवासियो को जबरदस्ती अपने धर्म मे सम्मिलित करने का अभियान चलाया जिसका फल यह हुआ कि कमजोर और असहाय वर्ग को अपने मे मिलाकर उन्होने अपने वर्ग को बढाया जिसका प्रभाव निश्चित रूप से कलाकार वर्ग पर भी पड़ा। भगत के परपरागत मंच के कई कलाकारो को मुसलमान धर्म स्वीकार करना पडा और औरगजेब के काल मे भगत के सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप मे दिल्ली के तकी भगतबाज का उल्लेख हमे मिल जाता है।[२] ऐसी दशा मे रास के व्यावसायिक कलाकारो पर भी इसका प्रभाव अवश्य पडा होगा। जिन कलाकारो को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया गया वे तो हिंदुओ द्वारा कृष्णलीला के प्रदर्शन के अयोग्य ही घोषित कर दिए गए होंगे और जो बचे रह गये होगे उन्हे अपनी जीविका का दूसरा साधन खोजने को बाध्य होना पडा होगा क्योकि कृष्ण-राम के साथ जो धार्मिकता जुड़ी थी उसके कारण उस युग के धर्माध शासको के राज्य मे इस प्रकार के प्रदर्शनो की कोई गुंजायश ही नही हो सकती थी। फल यह हुआ कि भक्ति-आदोलन के प्रारभिक काल से पहले रास अपना मचीय वैभव खो चुका था। उस युग मे गली और बाजारो मे घूमने वाले नट लोग राम और रासलीला के भोडे नृत्य और गायन के रूप मे प्रदर्शन करके कुछ पैसे माग लिया करते थे। गुरु ग्रथ साहब मे 'आसा की वार' मे गुरु नानक ने इस सबध मे ऐसे ही एक प्रदर्शन पर अपना असतोष प्रकट किया है जो उन्होने अपनी वृंदावन-यात्रा मे देखा था।[३]

भक्ति युग तक आते-आते रास के ये प्रदर्शन अपना आकर्षण खो चुके थे और तब नट लोग नटनियो को साथ लेकर गले मे हाथ डाले घूमते थे। रास की इस दुर्दशा पर दुखी होकर ही माध्व गौडेश्वर सप्रदाय के प्रमुख आचार्य जीव गोस्वामी ने कहा था:

> नटेगृहीतकटीनाम् अन्योन्यान्तर काश्रियाम् ।
> नर्तकीना भवेदासो मडली भूप नर्तनम् ।।

यही कारण था कि भक्ति युग मे आचार्यों ने रास को पुनर्गठित करने का नये सिरे से प्रयत्न किया।

२. देखें हमारा ग्रथ 'सागीत : एक लोक-नाट्य परपरा', पृष्ठ ४५
३. इस प्रदर्शन की विशेष समीक्षा डा० नार्विन हाइन ने अपने ग्रथ 'दि मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा' मे की है। देखें पृष्ठ ११६

७

रास के पुनर्गठन की पृष्ठभूमि

मुसलमानो के हाथ मे देश का शासन आ जाने पर यहा की कला-परंपराओ के ह्रास के साथ देश पर वाहर से लाकर जो एक नवीन सस्कृति वरवस थोपने का व्यापक प्रयत्न हुआ उसके कारण हिंदू समाज मे एक निराशा और वेचैनी का भाव पैदा हो गया। इस हीनता की भावना से समाज को उवार कर उसमे आस्था और विश्वास के स्वर भरने का काम हमारे दार्शनिक महात्माओ ने भक्ति-आदोलन के माध्यम से किया। कवीर ने जहा हिंदू और मुसलमान धर्मो के वाह्याडवर का खडन करके राम-रहीम की एकता प्रतिपादित की वहा सूफी सतो ने अपने त्याग और प्रेममय जीवन से समाज को एकता का सदेश दिया जिससे मुसलमान और हिंदुओ की पारस्परिक कटुता की खाई पटने लगी। तभी राम और कृष्ण के शक्ति, शील और सौदर्य से सपन्न महान व्यक्तित्वो की नवीन रूप मे अवतारणा करके सगुण-भक्ति के आचार्य और कवियो ने हिंदू जनता को एक सशक्त आधार प्रदान कर दिया जिसके वल पर वह तत्कालीन परिस्थितियो से जूझने की सामर्थ्य प्राप्त कर सके। भक्ति-आदोलन की भावना को लोक मानस तक व्यापक रूप से पहुचाने के लिए उस समय नाटक को एक प्रवल माध्यम के रूप मे स्वीकार किया गया और रामलीला व रासलीलाओ का पुनर्गठन करके राम और कृष्ण को जन-जन के मन-मदिर मे प्रतिष्ठित करने का मार्ग इन भक्त आचार्यो ने खोज निकाला। उस युग मे व्रज-क्षेत्र इस भक्ति आदोलन का सर्वप्रमुख केंद्र था और भक्त आचार्यों ने यही की पावन रज मे वैठकर अपने दर्शन को कला का आधार प्रदान करके जन-जन के मन-मंदिर मे अपने इस आदोलन को प्रतिष्ठित किया, जिसने पूरे देश को एक दृढ सास्कृतिक सूत्र मे आवद्ध कर दिया।

भक्ति आदोलन के प्रवर्तक ये आचार्यगण दक्षिण भारत से उत्तर मे पधारे थे और यहा आकर उन्होने सगुण-भक्ति के केंद्र स्थापित किये थे। राम-भक्ति के केंद्र यद्यपि अयोध्या और चित्रकूट थे तथा रामलीला का प्रारभ काशी से हुआ था किंतु पूरे देश को प्रभावित करने वाला वैष्णव भक्ति का सर्वप्रमुख

केंद्र भगवान श्रीकृष्ण की लीलाभूमि व्रज ही थी। रामानुज संप्रदाय तक की पहली गद्दी भी यही गोवर्धन मे ही स्थापित हुई थी।[१] रामानुज संप्रदाय का सबसे भव्य और आकर्षक रगजी का मदिर भी वृदावन मे ही है जो आज भी अपने मे एक अनुपम आकर्षण सजोये है।

व्रज मे भक्ति-आदोलन की नीव श्री निम्बार्काचार्य के व्रज-वास के समय रखी गयी। डा० नारायणदत्त जी शर्मा के अनुसार निम्बार्काचार्य, शकराचार्य से कुछ परवर्ती है। वे आठवी शताब्दी की विभूति सिद्ध होते है।[२] उन्होने गोवर्धन के पास 'निम्ब ग्राम' मे अपना स्थायी निवास बनाया जो आजकल 'नीम गाव' कहलाता है और यही उन्होने अपने अधिकांश ग्रंथो की रचना करके अपने भक्ति-सिद्धातो का निर्धारण किया। निम्बार्काचार्य से ही व्रज-भक्ति-आदोलन का श्रीगणेश हुआ और निम्बार्क संप्रदाय ने ही सर्वप्रथम भक्ति के क्षेत्र मे कृष्ण के साथ राधा को सलग्न करके उन्हे व्रज के भक्ति आदोलन का प्रमुख अंग बनाया।[३]

इस प्रकार वर्तमान रास रंगमच पर राधा को रासेश्वरी का जो पद प्राप्त हुआ और जिसने रासमच को सरसता, मधुरता और दिव्यता से अभिमडित किया, उसकी भूमिका यहा निम्बार्क सप्रदाय ने ही तैयार की। एक मान्यता के अनुसार तो इसी सप्रदाय के एक परवर्ती आचार्य घमंडदेव जी को ही रास का सस्थापक भी माना जाता है, परंतु यह धारणा कहा तक ठीक है इस पर हम आगे विचार करेगे।

कृष्णभक्ति के इस आदोलन का प्रथम सूत्रपात गोवर्धन क्षेत्र से हुआ। उस समय वर्तमान वृदावन घनघोर जंगल था और उसमे हिंसक जीव निवास करते थे, इसलिए जैसा कि भागवत पुराण का कथन है गोवर्धन प्रदेश को ही उस समय वृंदावन का महत्व प्राप्त था। निम्बार्काचार्य ने इसीलिए इस क्षेत्र के निम्बग्राम को ही अपनी स्थायी साधना का केंद्र बनाया।

१ देखें 'व्रजभारती', वर्ष १७ अक ४ मे श्री प्रभुदयाल मित्तल का लेख 'व्रज की धार्मिक और सास्कृतिक सवृद्धि का सिंहावलोकन'

२ 'हमारे विचार मे श्री निम्बार्काचार्य का समय विक्रम ८वी शताब्दी से अर्वाचीन नही हो सकता।' डा० नारायणदत्त शर्मा, 'निम्बार्क सप्रदाय और उसके कृष्णभक्त कवि', पृष्ठ १५

३ डा० सत्येन्द्र का कथन है, निम्बार्क सप्रदाय वैष्णव आदोलन का एक विकास स्तभ है, क्योकि श्रीकृष्ण के साथ राधा तत्त्व की प्रतिष्ठा के महत्त्वपूर्ण प्रयास द्वारा उसने जीवन को मधुर एव सरस बनाने मे बडा काम किया है।" (निम्बार्क सप्रदाय और उसके कृष्णभक्त कवि, भूमिका, पृष्ठ १२)

निम्बार्काचार्य के उपरात माध्व संप्रदाय के श्री माधवेन्द्रपुरी ब्रज पधारे। यह महानुभाव चैतन्यदेव के दीक्षागुरु ईश्वरपुरी जी के गुरु व दडी सन्यासी थे। यद्यपि माधवेन्द्रपुरी निम्बार्काचार्य की भाति स्थायी रूप से यहां नही वसे, परतु ब्रज से उनका निरतर सपर्क रहा। उन्होने ही गिरिराज से देवदमन की वह विख्यात प्रतिमा प्रगट की थी जो पुष्टि सप्रदाय मे श्रीनाथ जी के नाम से प्रथम पूज्य और वैष्णव-जगत के आकर्षण का केद्र वनी हुई इस समय नाथद्वारा मे विराजमान है। माधवेन्द्रपुरी ने माध्व संप्रदाय मे राधा भाव का प्रवर्तन किया ऐसा माना जाता है। सभवत. उन्होने यह प्रेरणा निम्बार्क सप्रदाय की ब्रजभक्ति से ही ग्रहण की। माधवेन्द्रपुरी जी स्वय वगाली थे और वगाल से वह जयदेव और चडीदास की परपरा लेकर यहा आये थे। वह उक्त कवियो की रचनाओ को सस्वर गाकर यहा (ब्रज मे) अपनी भक्ति का प्रचार करते थे अत ब्रज के भक्ति-आदोलन से बंगाल के परकीया भाव की राधा-भक्ति का सगम करना श्री माधवेन्द्रपुरी जी की ही देन मानी जायेगी। रास रगमच पर जयदेव की परंपरा का जो प्रभाव है उसका वीजवपन यहा माधवेन्द्रपुरी जी ने ही किया जो बाद मे चैतन्यदेव और उनके षण्ठ गोस्वामी मडल द्वारा पोषित होकर पल्लवित हुआ। इसी वीच ब्रज मे महात्मा शकरदेव ने भी अपने विशाल परिकर सहित ब्रजयात्रा की थी, जिन्होने यहा से जाकर उडीसा मे प्रसिद्ध 'अकिया नाट्य परपरा' को जन्म दिया।

चैतन्यदेव के ब्रज आगमन से पूर्व महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रज पधारे थे। आचार्य वल्लभ को संवत १५४९ वि० की फाल्गुन शुक्ला ११ गुरुवार को ब्रज जाने की अत प्रेरणा हुई थी और तभी वह ब्रज को चल पडे थे। वल्लभाचार्य का आचार्य रूप सवत १५५० वि० मे ब्रज मे ही प्रस्फुटित हुआ। श्रावण शुक्ला ११ स० १५५० वि० को उन्होने सर्वप्रथम गोकुल के ठकुरानी घाट पर भागवत का पारायण किया था और उसी दिन से पुष्टि संप्रदाय के समर्पण मत्र की दीक्षा देना आरभ किया था। इस दिन दामोदरदास हरसानी उनके प्रथम शिष्य वने। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी के ब्रज आगमन से यहा के भक्ति आदोलन मे जो नवीन चेतना आई वह वडी महत्वपूर्ण है। उन्होने ब्रज मे गोवर्धन के साथ गोकुल को भी अपने भक्ति आदोलन और निवास का प्रमुख केंद्र वनाया। वर्तमान गोकुल के सस्थापक वल्लभाचार्य ही माने जाते हैं, परतु क्योकि रास वृदावन क्षेत्र की ही वस्तु है, अत गोकुल का रास मंच की स्थापना मे कोई सक्रिय योग नही रहा, परतु रास के स्वरूप-निर्धारण मे वल्लभ सप्रदाय की वडी महत्वपूर्ण भूमिका है। वल्लभ सप्रदाय ने गोवर्धन के निकट परासोली (चन्द्रसरोवर) को महारास स्थल की मान्यता प्रदान की। यही जतीपुरा गाव को इस संप्रदाय का प्रधान केंद्र बनाकर यहा आचार्य वल्लभ ने सवत १५५६ वि०

मे भगवान श्रीनाथ जी के भव्य मदिर का निर्माण कराया, जहा अष्टछाप के आठ कवियो को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सवत १६०२ वि० मे कीर्तन सेवा प्रदान की थी ।

वर्तमान रास लीलाओ के कलेवर के निर्माण मे अष्टछाप के कवियो की भूमिका वेजोड़ है । रास रगमच के लिए व्रजभाषा के माध्यम से कृष्णचरित के माधुर्य और सौंदर्य की जैसी सफल और सरस अभिव्यक्ति महाकवि सूर और उनके सहयोगियो ने की वह इस मच के लिए सजीवनी वूटी ही वन गयी, इसमे दो मत नही हो सकते । प्रिया-प्रियतम की रसकेलि के साथ कृष्ण की वाल लीलाओ की रास मे जो संयोजना है वह भी पुष्टि सप्रदाय के भक्ति भाव से निर्मित वातावरण की ही देन हे । यदि निम्व और माध्व सप्रदाय ने रास को रासेश्वरी राधा प्रदान की है तो वल्लभ सप्रदाय ने उसमे ममता और वात्सल्य की साक्षात मूर्ति माता जसोदा की प्रतिष्ठा की है, जिनके विना यह मच वात्सल्य-भक्ति की वह मार्मिक अभिव्यक्ति करने की क्षमता प्राप्त नही कर पाता जो आज उसका अपना एक अनूठा आकर्षण हे ।

चैतन्यदेव व्रजयात्रा को सवत १५७३ वि० मे पधारे थे । वर्तमान वृदावन उस समय भी घनघोर जगल था । 'चैतन्य चरितामृत' से ज्ञात होता है कि वृदावन की शोभा पर चैतन्यदेव ऐसे विमुग्ध हुए कि वे वृक्षो से लिपट-लिपट कर वहा कृष्ण के विरह मे मूर्छित होकर गिर पड़ते थे । कालीदह की नीली यमुना की तरगो मे तो वे कूद ही पडे थे, तव उनके सहयोगियो ने वड़ी कठिनाई से नदी के प्रवाह से उन्हे निकाल कर उनकी प्राण-रक्षा की थी ।

यहा से लौटकर उन्होने अपने छह प्रमुख शिष्यो को व्रज के उद्धार की प्रेरणा देकर स्थायी रूप से व्रज-वास करने के लिए भेजा । श्री रूप गोस्वामी (स०१५७४ वि०), श्री सनातन गोस्वामी (स०१५७६ वि०), श्री गोपाल भट्ट (स०१५८८ वि०), श्री कृष्णदास कविराज (स० १५९०वि०), श्री रघुनाथ गोस्वामी (स० १५९९ वि०) और श्री जीव गोस्वामी (स० १५७८ वि० मे) वृदावन आकर वस गये ।

वर्तमान वृदावन और राधाकुड इन गोस्वामियो की व्रजभक्ति के मुख्य केंद्र है । वर्तमान वृदावन मे सर्वप्रथम मदिरो की स्थापना इसी सप्रदाय के कारण हुई । इस सप्रदाय ने ही व्रज की रसभक्ति का वीजवपन किया जिसके परिणामस्वरूप वृदावन की 'डाल-डाल और पात-पात पर राधे-राधे होय' का सयोग जुटा । इसी भावना ने वाद मे वृदावन को रास का सर्वमान्य केंद्र वनने का गौरव प्रदान किया ।

राधावल्लभीय सप्रदाय के लिए राधा-भक्ति की दिव्य पृष्ठभूमि वृदावन मे उक्त गोस्वामी मडल ने ही स्थापित की जिससे वृदावन कृष्णभक्ति

के अंतर्गत गुह्य रसभक्ति का केंद्र बना। इस रसभक्ति के तीन अनन्य रसिकाचार्य माने जाते है—महाप्रभु हित हरिवश (राधावल्लभीय सप्रदाय के सस्थापक), स्वामी हरिदास जी (प्रसिद्ध सगीतज्ञ व सखी सप्रदाय के प्रवर्तक) और श्री हरीराम व्यास (जो हित हरिवश जी के शिष्य होने के साथ-साथ अनन्य सखा भी थे), वृदावन के ये तीनो रासिकाचार्य समकालीन थे और उनकी गोष्ठी 'रसिकत्रयी' या 'हरित्रयी' के नाम से विख्यात थी। रास रंगमंच की स्थापना मे इन तीनो महानुभावो का अनुपम योग है और आज ब्रज मे वृदावन रास का जो सर्वमान्य केंद्र है उसकी आधारशिला इस 'रसिकत्रयी' द्वारा ही रखी गयी। इस रसिकत्रयी के कर्णधार श्री महाप्रभु हित हरिवश जी, राधावल्लभ जी के विग्रह के साथ स० १५९० वि० मे वृदावन आकर बसे थे। व्यासजी ने स० १५९१ वि० मे पहली वृदावन-यात्रा की थी और बाद मे ओरछा नरेश की राजपुरोहिती को छोडकर वे सवत १६०० मे स्थायी रूप से वृदावन आकर बस गये थे। स्वामी हरिदास जी ने निधिवन मे अपना स्थायी निवास कब बनाया यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता परंतु सम्राट अकबर स० १६२० वि० मे छद्म वेश मे उनसे मिलने आये थे। इससे प्रकट होता है कि स०१६०० वि० के आसपास ही वे भी वृदावन आ बसे थे और सवत १६२७ मे वे इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि सम्राट अकबर भी उनके दर्शनो के लालच से तानसेन का तबूरा उठाए उनके दर्शनो के लिए वृदावन आने को बाध्य हुए। इस प्रकार वृदावन स० १६०० वि० के आसपास 'रसभक्ति' के प्रमुख केंद्र के रूप मे विकसित हुआ और यह रसभक्ति ही बाद मे रास रगमंच की आत्मा बनकर उसके रोम-रोम मे रम गयी, जिससे 'रसाना समूहो रास.' सिद्ध हुआ।

परतु वर्तमान वृदावन गोवर्धन क्षेत्र तथा गोकुल के अतिरिक्त ब्रजभक्ति का एक महत्वपूर्ण केंद्र और था। यह क्षेत्र था बरसाना। रास का इस क्षेत्र से भी बड़ा घनिष्ठ सबध रहा है। एक मत के अनुसार तो वर्तमान रास का उदय ही इस क्षेत्र से माना जाता है क्योकि घमडदेव जी का रासलीला का क्षेत्र करहला गाव भी बरसाना के ही निकट है। रास के प्रमुख आचार्य श्री नारायणभट्ट जी की निवासभूमि ऊचा गाव भी यही है। भट्ट जी का जन्म सवत १५८८ विक्रमी[4] मे हुआ था और वे किशोर वय मे ही ब्रज मे आ गये थे। ब्रज के वर्तमान स्वरूप के निर्माण व रास रगमच की स्थापना मे भट्ट जी का बडा महत्वपूर्ण स्थान है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। रास के वर्तमान रूप का निर्धारण, रासलीला स्थानो की शोध तथा ब्रज मे रास-मडलो की स्थापना का कार्य भट्ट जी ने ही संपन्न किया था।

४ 'ब्रजभारती', वर्ष १९ अंक २ : "श्री नारायणभट्ट गोस्वामी", लेखक डा० भवेश पचौरी।

यह थी वह पृष्ठभूमि जिसमे व्रजभूमि से वर्तमान रास उदित हुआ। यह रास रगमच उक्त भक्ति-आदोलन की ही एक कलात्मक उपलब्धि है जिसे कृष्णोपासक भक्ताचार्यों ने स्थापित किया। रास रगमच की स्थापना मे 'भक्ति सप्रदाय' के सभी आचार्यों का एक ही उद्देश्य था और वह था भगवान की लीलाओ की अपने नेत्रो के समक्ष आत्मसुखार्थ प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करना, उसके रस मे डूबना तथा भक्त-समाज को भी उसमे डुबोना। रास उनके इस उद्देश्य की पूर्ति का एक माध्यम था, क्योकि रास के सस्थापक सभी भक्त आचार्य बडे सुरुचि-सपन्न थे और कलात्मकता उनके रोम-रोम मे व्याप्त थी, इसलिए रास के इस मच को उच्च कलात्मक भावभूमि इस युग मे सहज ही स्वयं उपलब्ध हो गयी।

भक्त आचार्य 'रास-रस' को परम गुह्य और पवित्र मानते थे। रास मे कृष्ण बनने वाला पात्र उनकी दृष्टि मे कोई अभिनेता नही, साक्षात लीला पुरुषोत्तम ही होते थे। इस दृष्टि से रास भक्ति-युग से आज तक कभी केवल सस्ते लोकरजन की वस्तु नहीं रहा। यह तो लोकोत्तर पावन निकुज लीला की सरस और गुह्य अभिव्यक्ति के प्रत्यक्ष साक्षात्कार का माध्यम था। इसलिए रास-लीला को उसके सस्थापको ने कभी लोक-मच नही माना। यह वैष्णवीय भक्ति का जीवत रगमच है।

८

भक्ति-युग में रास का पुनर्गठन

साक्ष्य सामग्री

भक्ति-युग मे रास का पुनर्गठन कब और किनके द्वारा हुआ इस सबंध मे बहुत विवाद है। ऐसा कोई प्रामाणिक लिखित साक्ष्य नही, जिसके आधार पर निश्चित रूप से इस सबध मे कुछ कहा जा सके। परवर्ती काल मे ब्रज के भक्ति-सप्रदायो मे रास सबधी जो उल्लेख हुए है, उनमे लेखको ने अपने-अपने सप्रदाय के आचार्यों को ही रास के आरभकर्ता होने का श्रेय देने का यत्न किया है। उधर रासधारियो मे कुछ अनुश्रुतिया भी परपरा से प्रचलित है और उनकी प्रामाणिकता मे रासधारियो का अटूट विश्वास है। रास पर करहला के रासधारी राधाकृष्ण दास जी की एकमात्र पुस्तक 'रास-सर्वस्व' अवश्य छपी थी, परतु वह भी अब अप्राप्य है। इस पुस्तक मे राधाकृष्ण जी ने आरभ मे रासलीला का इतिहास लिखा है और बाद मे कुछ रासलीलाए सकलित की है। रास के आरभ का जो ब्योरा उन्होने दिया है उसका आधार पूर्वजो से सुनी हुई कुछ बातें है। इस ग्रथ के अनेक संवत अशुद्ध है। ऐसी दशा मे इस ग्रथ को प्रामाणिक सामग्री के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। इसलिए रास के सबध मे तर्कसगत आधार पर प्रामाणिकता से कुछ कहना एक कठिन कार्य है फिर भी प्राप्त सामग्री के आधार पर हम यहा इस संबध मे विचार करने की चेष्टा करेंगे।

'आयने अकबरी' का उल्लेख

अबुल फजल ने अपने ग्रथ 'आयने अकबरी' मे, जो १५९७ ई० (अर्थात सवत १६५४ वि०) की रचना है, गायको का वर्गीकरण करते हुए कीर्तनकारो की एक परपरा का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि 'कीर्तनकार ब्राह्मण, जिनके वाद्य-यत्र प्राचीन युगीन जैसे थे, सुदर आकृति के बच्चो को स्त्री रूप मे सजाते थे और उनसे श्रीकृष्ण की स्तुति तथा उनकी लीलाओ

का गायन कराते थे।[1]

इस उल्लेख से यह प्रकट होता है कि व्रज के ब्राह्मणो ने कीर्तन मे कुछ नाटकीयता का विधान करने के लिए पहले कुछ सुदर वालको की गोपियो के रूप मे झाकी सजाने का विधान किया और यही परंपरा वाद मे रास के उदय का आधार वनी।

वालकों की रास मच पर मान्यता

अवुल फजल के इस विवरण मे पहली वार वालको द्वारा स्त्री-वेश धारण करने का उल्लेख मिलता है, जिसे भक्ति-युग के आचार्यों ने वाद मे रास मे मान्यता प्रदान की। इससे पहले रास मे छोटे वच्चो के भाग लेने का उल्लेख कही नही मिलता। रास पूर्व काल मे वयस्क नर-नारियो द्वारा ही सपन्न होते थे।[2] इस सवध मे एक तर्क यह दिया गया है कि इस युग मे वालको को गोपी और कृष्ण वनाने के लिए इसलिए चुना गया क्योकि कृष्ण और गोपियो ने वचपन मे ही रासलीलाए की थी।[3] इस सवध मे डा० हाइन का मत है कि रास मे वालको को स्वरूप वनाने की यह प्रथा शाक्त प्रभाव की सूचक है जहां कन्या लागुराओ के पूजन की प्रथा थी। उमी ने वैष्णवो पर यह प्रभाव डाला।[4]

परतु हमारा मत है कि वालको को मच पर स्वरूपो के रूप मे मान्यता देने का मुख्य कारण तत्कालीन राजनीतिक स्थिति थी जहा शासक वर्ग द्वारा हिंदू नारी के अपहरण व शीलभग की घटनाए सामान्य रूप से दैनिक जीवन का अग वन चुकी थी। ऐसी स्थिति मे नारी को घर के भीतर घूघट मे ढक दिए जाने के उपरात उनके स्थान पर लडको को मच पर लाना ही एकमात्र

1 Kirtaniyas are Brahmins whose instruments are such as were in use ancients They dress up smoothfaced boys as women and make them perform singing the praise of krishna and reciting his acts —Yadunath Sarkar (Vol III p 272)

२ इस तथ्य का प्रतिपादन डा० हाइन ने सप्रमाण किया है। देखें 'दी मिरेकिल प्लेज आफ मथुरा', पृष्ठ २६५

3 A V W Jackson 'Children on the stage of Hindu Drama. The looker on 5' (1897)

4 'It is our belief that the representation of deities by children was a practice of the saktas of north eastern India and that is entered the vaishnava stage as an influence from tham' (The Miracle Plays of Mathura, page 266)

ऐसा विकल्प था जिसके द्वारा इस कला-परंपरा को सुरक्षित चलाया जा सकता था। इसीलिए रास के पुनर्गठन मे धर्माचार्यों ने रास की पावनता और धार्मिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए ब्राह्मण बालको को ही इस मच पर स्वरूप बनाने को मान्यता देकर तत्कालीन स्थितियो से विवेकपूर्वक समझौता कर लिया था। अतः भक्ति-युग मे रास से सबधित जो भी अनुश्रुतिया उपलब्ध होती है उन सभी मे ब्रज के ब्राह्मण बालको के ही स्वरूप बनने का उल्लेख मिलता है।

रासारंभ संबंधी अनुश्रुति

रासधारियो मे एक अनुश्रुति प्रचलित है जिसके अनुसार रास का आरभ सबसे पहले मथुरा के विश्रातिघाट पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने किया। कहा जाता है कि आचार्य वल्लभ ने मथुरा के माथुर चतुर्वेदियो के आठ बालक माग कर उनके द्वारा रास आरभ किया। यह रास श्रीमद्भागवत के आधार पर सस्कृत श्लोको के माध्यम से किया गया। रासधारियो का कथन है कि जब यह रास प्रारभ हुआ तो आकाश से एक मुकुट उतरा, जिसे भगवान कृष्ण के स्वरूप को धारण कराया गया। इस प्रकार रास बडी धूम और उत्साह से प्रारभ हुआ परतु इस महारास मे भगवान कृष्ण के अतर्धान होने का प्रसग आने पर कृष्ण बनने वाला बालक सचमुच ही अतर्धान हो गया और बाद मे उसे खोजते हुए गोपी बनने वाले बालक भी स्वय खोज के विषय बन गए। जब इन बालकों का कही कोई पता न लगा तो उनके परिवार के लोग बालको को प्राप्त करने के लिए आयोजको से विग्रह करने पर उतारू हो गए। उस समय आचार्य वल्लभ ने उन्हे बडी कठिनाई से शात किया। उन्होने उन्हे बालको की खोज के लिए आंख बंद करके श्री यमुना जी मे गोता लगाने का परामर्श दिया। बच्चो के अभिभावको ने जब यमुना मे गोता लगाया तो वहा उन्हे अपने बालक भगवान की निकुंज-लीला मे संलग्न और बडे ही प्रसन्न दिखलायी दिये। इस प्रकार बालको के माता-पिता तो किसी प्रकार शात हो गए परतु रंग मे भग हो जाने के कारण यह रास वही अधूरा समाप्त हो गया।[५]

यदि यह अनुश्रुति सत्य है तो विश्रातिघाट पर हुआ यह रास स्वय अपने आप मे एक असफल प्रयत्न था। रास-सर्वस्वकार श्री राधाकृष्ण रासधारी ने 'रास-सर्वस्व' मे भी इस घटना का उल्लेख किया है परतु वहा उन्होने श्री वल्लभाचार्य जी के नाम का स्पष्ट उल्लेख न करके उन्हे 'विष्णु स्वामि मत के

५ देखिये 'ब्रजभारती', वर्ष १ अक ४, पृष्ठ १२ पर श्री लाड़िलीशरण जी रासधारी का लेख।

पोषक आचार्य' कहा है। हा, स्वामी हरिदास जी के इस असफल रास मे सहयोग देने का उन्होने स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते है

तब स्वामी हरिदास कियौ शृगार प्रिया कौ,
श्री आचारज कियौ स्वय मोहन रसिया कौ।

स्वामी हरिदास जी ने इस रास मे राधिका बनने वाले बालक का शृंगार (रूपसज्जा) किया और आचार्य जी ने मोहन को सजाया था। राधावल्लभीय विद्वानो का मत हैं कि 'विष्णु स्वामी मत के पोषक' यह आचार्य वल्लभाचार्य जी नही वरन महाप्रभु हित हरिवश जी थे। वे हित हरिवश जी को ही रास का आरभकर्ता कहते हैं परतु जैसा हम आगे विचार करेंगे, हमारे मत से यह घटना हित हरिवंश जी के वृ दावन आगमन से पूर्व की रही होगी।

रास के इस प्रकार असफल हो जाने पर महाप्रभु ने श्री घमडदेव जी को आज्ञा दी कि रास के कार्य को अब वे सभालें और उनकी बात मानकर घमडदेव जी ने करहला गाव (बरसाने के निकट) के उदयकरन और खेमकरन नामक दो ब्राह्मणो की सहायता से ब्रजवासी ब्राह्मण बालको को प्रशिक्षित करके बाद मे रास का आरंभ किया।

करहला-वासियो की कथा

उधर करहला गाव के निवासियो से हमने जब इस संबध मे पूछताछ की तो उन्होने भी घमडदेव जी के द्वारा रास आरभ किये जाने की संपुष्टि की परतु उन्होने रास के आरभ की कथा दूसरे ढग से कही।

करहला गाव के निवासियो का कथन है कि घमडदेव जी भगवान कृष्ण की लीलाओ के प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा से करहला मे भजन करते थे। वे वहां प्रतिदिन सरोवर से गीली मिट्टी निकाल कर लाते थे और उनसे अपनी भावना के अनुसार राधा-कृष्ण व सखियो की विभिन्न मुद्राओ मे नृत्य करती मूर्तिया बनाते थे। उन मूर्तियो का बडे चाव से वे दिन भर नाना प्रकार से शृगार करते और शाम को उन्हे पुन सरोवर मे विसर्जित कर देते थे। उन्हे भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन की बडी लालसा थी इसलिए मूर्तिया बनाने और उनकी झाकिया सजाने मे उन्हे सुख तो मिलता था. परतु हरि दर्शन की प्यास प्रतिदिन ही तीव्रतर होती जाती थी।

एक दिन भगवान कृष्ण ने स्वप्न मे उन्हे दर्शन दिए। प्रभु को अपने सामने पाकर घमंडदेव गद्‌गद हो गये, उन्होने भगवान से स्वप्न मे प्रार्थना की, कि वे कभी भी उनके नेत्रो से दूर न हो। उनका ऐसा भाव देखकर भगवान ने उन्हे आज्ञा दी कि तुम ब्रज से ब्रजवासी बालको को मागकर रास आरभ

करो। रास के समय उन वालको के रूप मे, मैं स्वयं ही प्रकट होकर तुम्हे प्रत्यक्ष दर्शन दिया करूगा।

भगवान की इस आज्ञा को पाकर घमडदेव जी ने रास आरभ किया और रास मे नृत्य करते हुए ब्राह्मण वालको मे भगवान कृष्ण की झाकी पाकर वे धन्य हो गए।

घमडदेव जी के प्रथम रास मे भगवान कृष्ण को जो मुकुट धारण कराया गया था, वह मुकुट अभी तक करहला मे रखा वतलाया जाता है। एक छोटी सी कोठरी मे इस मुकुट को देव विग्रह के समान रखा जाता है और उसके दर्शन यात्रीगण बडे भक्तिभाव से करते है। यह मुकुट शायद पक्षियो के पंखो से वनाया गया था जो अब बहुत ही जीर्ण दशा मे बिखरा हुआ सा रखा है। इस मुकुट के सबध मे यह धारणा है कि वह प्रतिदिन एक तिल घटता जाता है और जिस दिन इस मुकुट का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा उसी दिन रास-लीला की परपरा भी समाप्त हो जायेगी। हमने जब इस मुकुट के दर्शन किये तो हमे यह मुकुट भगवान कृष्ण का मुकुट जैसा प्रतीत नही हुआ। वह कुछ पखो का समूह मात्र है जो चारो ओर से काच मे बद था।

इस प्रकार उक्त दोनो अनुश्रुतियो मे पहली अनुश्रुति आचार्य वल्लभ को तथा दूसरी अनुश्रुति श्री घमडदेव जी को रास का संस्थापक बतलाती है। यहा ध्यान देने की बात यह है कि पहली अनुश्रुति मे भी घमडदेव जी का उल्लेख है परंतु उसमे महत्ता वल्लभाचार्य जी की ही है। रासधारियो मे यही मान्यता है कि रास का प्रारभ आचार्य वल्लभ की आज्ञा से घमडदेव जी ने किया था।

रास के अन्य संस्थापक

रास के आरभकर्ता के रूप मे तीसरा महत्वपूर्ण नाम महाप्रभु हित हरि-वश जी का लिया जाता है। डा० विजयेन्द्र स्नातक व राधावल्लभीय साहित्य के अध्यवसायी अन्वेषक श्री किशोरीशरण जी 'अलि' का ऐसा ही आग्रह है।

उधर रास की स्थापना का श्रेय कुछ महानुभाव नारायणभट्ट जी को देते है। इस मत का प्र तिपादन स्वर्गीय बाबा कृष्णदास जी ने वडे आग्रहपूर्वक किया था। ग्राउस महोदय ने भी अपने 'मथुरा मेमोयर' मे नारायणभट्ट जी को रासलीला का सस्थापक कहा है।[६]

६. 'It was desciple Narain Bhatt, who first established the Banjatra and Rasleela'

इस प्रकार वर्तमान राम व रासलीला के संस्थापक कौन थे इस संबंध मे विभिन्न मत हैं। इन मतो के अनुसार रासलीला के संस्थापक के रूप मे निम्नलिखित नाम सामने आते हैं

(१) महाप्रभु वल्लभाचार्य
(२) स्वामी हरिदास जी
(३) श्री घमडदेव जी
(४) श्री हित हरिवशाचार्य जी
(५) श्री नारायणभट्ट जी

जहा तक रास की स्थापना और विकास का संबंध है इस बात मे कोई सदेह नही कि रास रगमच के वर्तमान रूप के संस्थापक ये सभी महानुभाव थे और व्रज की इस सास्कृतिक नाट्य-विधा को पुष्ट करने मे इन सभी की भूमिका वडी महत्वपूर्ण रही है। यही नही, हित हरिवश जी के सहयोगी श्री हरिराम जी व्यास, हरिदास जी के शिष्य श्री विट्ठलविपुल जी तथा अन्य कई रास रंगमच के अनन्य रसिक उस युग मे विद्यमान थे और उनकी असीम भक्ति का इस मच के निर्माण मे वडा योगदान रहा। वास्तव मे रास रगमंच व्रज के किसी एक व्यक्ति विशेष या एक संप्रदाय विशेष की देन नही कहा जा सकता, यह साप्रदायिकता की परिधि से ऊपर व्रज-भक्ति-आदोलन की समवेत रागात्मक और कलात्मक उपलब्धि थी, जिसे सभी सप्रदायो, आचार्यों और भक्त कवियो ने कुछ न कुछ दिया और उसके विकास से वे स्वय भी विकसित हुए। अतः रास का श्रीगणेश किसने किया यह प्रश्न गौण हो जाता है परतु रास का इति-हास जानने के लिए इस संबंध मे तथ्यो से परिचित तो होना ही पडेगा।

व्रज की रस-भक्ति

व्रज-भक्ति मे वृदावन की रस-भक्ति अपना विशिष्ट स्थान रखती है और इस वृदावनी रस-भक्ति की स्रष्टा रसिकत्रयी या हरित्रयी मानी जाती है। इस रसिकत्रयी मे स्वामी हरिदास जी, महाप्रभु हित हरिवश जी व श्री हरिराम जी व्यास ये तीन अनन्य रसिक सम्मिलित थे। स्वामी हरिदास जी का सखी संप्रदाय और हित हरिवश जी का राधावल्लभीय सप्रदाय इसीलिए राधिका को विशेष महत्व देता है। स्वामी हरिदास जी भक्त सप्रदाय मे ललिता सखी के अवतार माने जाते हैं और उन्हे भक्त-समाज से उनके जीवन-काल मे ही रसिकाचार्य की उपाधि प्राप्त हो गयी थी। श्री हरिवश जी हिताचार्य कहलाते थे और स्वामी हरिदास जी रसिकाचार्य। अत जैसा राधा-कृष्ण रासधारी ने 'रास-सर्वस्व' मे लिखा है यह असंभव नही लगता कि रास को अनुकरणात्मक

(मचीय) रूप देने का विचार सर्व प्रथम हरिदास जी के कलासेवी मस्तिष्क मे ही आया हो और वल्लभाचार्य जी के ब्रजागमन के बाद इस अनन्य संगीत साधक रसिक विरक्त कलाकार की आत्मा ने रास को मचीय रूप देने की योजना मे वल्लभाचार्य जैसे समर्थ व्यक्तित्व से सहयोग मागा हो।

वल्लभाचार्य जी का व्रजागमन और रास

जैसा हम पहले कह चुके हैं महाप्रभु वल्लभाचार्य को व्रज जाने की प्रेरणा संवत १५४९ की फाल्गुन शुक्ला ११ को हुई थी। यहा आकर उन्होने सर्वप्रथम मथुरा के विश्रांति घाट पर यमुना स्नान किया और भगवान केशव के दर्शन किए। इसी समय से वल्लभाचार्य जी का ब्रज से अटूट सबध स्थापित हुआ। वल्लभाचार्य जी के व्रज मे आते ही यहा के भक्ति आदोलन के प्रमुख स्तभ बन गये। उन्होने माधवेन्द्रपुरी जी के द्वारा प्रकट की गयी प्रतिमा 'देव दमन' का नवीन नामकरण करके (श्रीनाथ जी) उनका भी वैभव बढाया और आचार्य जी के प्रभाव से ही स० १५५६ वि० मे गोवर्धन पर पूरनमल खत्री ने उनका विशाल मंदिर वनवाना आरभ कर दिया जो बाद मे अष्टछाप की अष्ट मधुर मुरलियो से एकसाथ निनादित होकर व्रज-भक्ति का सुमेरु सिद्ध हुआ।

ऐसी दशा मे यदि वल्लभाचार्य जी का रास से सवध होना सही माना जाय तो रास का यह प्रथम प्रयोग सवत १५५०-६० वि० के आस-पास हुआ यह मानना होगा। इसके कारण निम्न है .

(१) अनुश्रुति के अनुसार विश्राति घाट का यह रास भागवत के आधार पर हुआ था, अतः यह रास वल्लभाचार्य जी के व्रज आगमन के आरभिक चरण मे ही हुआ होगा क्योकि इसके बाद यदि रास आरंभ होता तो सूरदास आदि अनेक समर्थ कवियो ने व्रज मे रास-संवधी जो साहित्य लिखा उसका उपयोग इस रास मे अवश्य होता।

(२) रास के लिए मथुरा के विश्राति घाट का चयन भी यही सिद्ध करता है कि रास वल्लभाचार्य जी के ब्रजागमन के तुरत वाद ही हुआ क्योकि वाद मे वल्लभाचार्य जी का आकर्पण गोवर्धन (जतीपुरा) और गोकुल के प्रति अधिक हो गया था। यही दोनो स्थल व्रज मे उनके प्रमुख कार्यक्षेत्र वने, परतु इन स्थलो को अपनी भावना के अनुसार रूप देने मे आचार्य जी को अवश्य ही समय लगा और तब तक प्रारंभ मे मथुरा ही उनका कार्य-क्षेत्र रहा। वर्तमान वृदावन भी इसके वाद ही महाप्रभु चैतन्यदेव के आगमन के अनतर (सवत १५७३ वि० के वाद) रसभक्ति का केंद्र वना। चैतन्यदेव के आगमन तक तो वह हिंस्र पशुओ से भरा एक घनघोर वन ही था। चैतन्यदेव के शिष्य षष्ठ गोस्वामी तथा हरिदास जी और हित हरिवशाचार्य आदि के आगमन के वाद ही वृदावन

भक्तो की निवास-भूमि और भक्ति का केंद्र बना।

अतः संभावना यही प्रतीत होती है कि स्वामी हरिदास जी ने वल्लभाचार्य जी के समक्ष उनके ब्रज आगमन के तुरंत बाद ही भेंट की होगी और अपनी कलात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप ही रास रंगमंच की स्थापना की संभावनाओ पर विचार-विनिमय किया होगा और उनसे सहयोग चाहा होगा तथा कृष्ण-भक्ति के प्रचार के लिए कला के इस सशक्त माध्यम की महत्ता और स्वामी हरिदास जी जैसे मेधावी कला के आचार्य की योग्यता का समुचित उपयोग करने की दृष्टि से दूरदर्शी आचार्य वल्लभ ने अपने प्रभाव का उपयोग करके रास को आरंभ करना श्रेयष्कर समझा होगा।

परंतु दुर्भाग्य से रास का यह प्रथम महत्वपूर्ण प्रयोग सफल नही हो सका। उधर वल्लभाचार्य जी को अन्य कार्यो मे इतना अवकाश नही रहा होगा कि वे आगे भी निरंतर इस प्रयोग म अपने को खपा पाते। साथ ही बालको के अतर्धान हो जाने की घटना के कारण भी मथुरा नगर का वातावरण रास के प्रयोगो को आगे चालू रखने योग्य नही रह गया था, इसलिए वल्लभाचार्य जी ने रास के रगमच के विकास का कार्य घमडदेव जी को अपना नैतिक समर्थन देकर मथुरा से दूर करहला के एकात क्षेत्र मे चालू रखने की प्रेरणा दी हो तो आश्चर्य की बात नही प्रतीत होती। यहा यह भी स्मरणीय है कि उस युग मे सिकदर लोदी का शासन था और मथुरा उसका मुख्य केंद्र था। हो सकता है कि मथुरा के रास से बालको के गायब होने मे आचार्य जी को किसी षड्यंत्र की गध आयी हो और आगे यहा खुले आम इस प्रकार के परीक्षण उचित न समझ कर ही उन्होने घमडदेव जी को शासको की दृष्टि से दूर रास की स्थापना के लिए करहला के एकात व शात वातावरण मे कार्य करने का परामर्श दिया हो।

वल्लभाचार्य जी व हरिदास जी के रास से सबधित होने की यह अनुश्रुति उतनी ही पुरानी है जितनी कि वर्तमान रास की परपरा। अतः रास परपरा की इस सर्वमान्य अनुश्रुति को, जो रासधारियो के लिए इतिहास से भी अधिक महत्वपूर्ण है, केवल कपोल-कल्पना मानने का हमे कोई कारण प्रतीत नही होता, फिर भी कुछ विद्वानो ने इस अनुश्रुति को जिन कारणो से अविश्वसनीय माना है, हमे उन पर भी विचार करना ही चाहिए।

अनुश्रुति की समीक्षा

(१) श्री किशोरीशरण जी 'अलि' का कथन है कि भक्तमाल आदि ग्रथो के अतिरिक्त सप्रदाय कल्पद्रुम, सप्रदाय प्रदीप, वल्लभ दिग्विजय, वल्लभ चरित्र, वल्लभाख्यान, निजवार्ता, वशावली और कल्लोल आदि पुष्टिमार्गीय ग्रथो

मे आचार्यचरण का जीवन-चरित्र विस्तार के साथ वर्णित किया गया है, किंतु उनके द्वारा मथुरा या वृदावन मे रासलीला अनुकरण किये जाने का कोई संकेत नही मिलता। 'भक्तमाल' मे नाभादास जी ने भी रास के साथ वल्लभाचार्य जी का कोई संबध नही जोडा है।

भक्तमाल और रास

जहा तक 'भक्तमाल' की बात है उसमे नाभादास जी ने अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन सभी आचार्यों और भक्तो पर बडी प्रामाणिकता और निष्पक्षता से छप्पय लिखे हैं और इस ग्रंथ के टीकाकारो ने भी बडी तटस्थता से मूल ग्रंथकार के उद्देश्य को निभाया है। रास के अनेक रसिको की 'भक्तमाल' में चर्चा है परतु रास के आरभकर्ता के रूप मे 'भक्तमाल' मे किसी भी आचार्य का नाम नही लिया गया है। हा, रास के रसिको का तथा रास-परपरा मे विभिन्न व्यक्तियो के योगदान की वहा स्पष्ट चर्चा है। यह बात साधारण दृष्टि से कुछ अटपटी और आश्चर्य की सी अवश्य प्रतीत होती है परंतु यदि थोड़ा गहराई से सोचा जाय तो नाभादास जी की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

'भक्तमाल' का उद्देश्य भक्तो की माला (प्रशस्ति) उपस्थित करना था, रास की परपरा अथवा किसी परंपरा विशेष का परिचय देना नही। फिर 'भक्तमाल' मे उस युग के बहुमुखी प्रतिभा-सपन्न प्रतिनिधि भक्तो के ही विवरण है, ग्रंथ मे सब भक्तो के नामो की सूची बनाना भी नाभादास जी को अभीष्ट न था। ऐसी दशा मे रास का आरभकर्ता कलाकार नाभादास जी को प्रभावित न कर पाया हो या वे उसे जानते ही न हो तो उन्हे उसका उल्लेख न करने का दोषी नही माना जा सकता। यह भी सभव है कि नाभादास जी ने स्वयं भी यह उचित न समझा हो कि रास की परंपरा का आरंभकर्ता कोई एक व्यक्ति ही बतलाया जाय, क्योकि रास उस समय तक सबके सहयोग से स्थापित एक विकासमान मच था। 'भक्तमाल' का उद्देश्य रास पर ग्रंथ लिखना नही था। इसलिए भक्तमालकार के समक्ष रास के जो रसिक आये उनकी रसिकता का उल्लेख करने मे उन्होने कोई कोताहाई नही की, परंतु रास के सस्थापक की खोज-खबर लेने का भी उन्होने कोई यत्न नही किया है।

यदि रास के आरभकर्ता के रूप मे किसी का नाम 'भक्तमाल' मे नही है तो उसके लिए जहा नाभादास जी को दोष नही दिया जा सकता है वहा 'भक्तमाल' मे रास-भक्तो के जो उल्लेख है उनके मनमाने अर्थ करके किसी को रास का आरभकर्ता भी नही कहा जा सकता। जहा तक 'भक्तमाल' की बात है हमे ईमानदारी से यह मान लेना चाहिए कि उसमे रास के आरभकर्ता के सबध मे कोई उल्लेख नही है, अत रास के आरभकर्ता का निर्णय करने मे यह ग्रंथ

हमारी सहायता नही कर सकता ।

वल्लभ सप्रदाय और रासारभ

जहा तक वल्लभाचार्य जी के जीवन-चरित्रो की वात है, हमें यह समझ लेना होगा कि वे सब ग्रथ उनके सप्रदाय के व्यक्तियो के लिखे हुए हैं । इन सव लेखको का हृदय वल्लभाचार्य जी के प्रति अगाध श्रद्धा से भरा था और वल्लभ-चरित्र लिखने का उन सभी का स्पष्ट उद्देश्य वल्लभाचार्य जी की सफलताओ की चर्चा करके उनकी महत्ता का ही नही वरन् उनके ईश्वरत्व का प्रतिपादन भी था । ऐसी दशा मे रास की इस घटना का उल्लेख उन ग्रथो मे कदापि संभव नही था, क्योकि यह घटना उनकी एक असफलता की ही कथा थी। ऐसी दशा मे इस प्रसग मे महाप्रभु की चर्चा हमारे विचार से पुष्टि सप्रदाय के लेखको द्वारा संभव नही थी ।

आचार्य वल्लभ कोई कार्य करे जो सफल न हो तथा उनके अनुगत ही उनकी चर्चा भी करें, भला यह कैसे समव था ? हां, यदि किसी कलाकार ने उस युग मे वल्लभाचार्य जी का चरित्र लिखा होता तो वह उनके इस प्रयोग की गरिमा व महत्ता को अवश्य हृदयगम कर सकता था और उनके इस प्रयोग का महत्व स्वीकार करके उसका मूल्याकन कर सकता था । संभवतः असफलता की उस कहानी को छिपाने के लिए अनुश्रुति के कथनकर्ताओ ने उसे भी अलौकिकता के आवरण मे ढकने की चेष्टा की है । आकाश से मुकुट का उतरना, तथा अलोप वालको का यमुना के जल मे नित्य-लीला मे निमग्न दिखलाई देना आदि प्रसग सभवतः इसीलिए इस अनुश्रुति के साथ (अपनी महत्ता प्रतिपादन के लिए) रासधारियो द्वारा जोड दिए गए हैं ।

हमारा तो यह भी अनुमान है कि रास की इस घटना से मथुरा मे जो एक विरोधी वातावरण वन गया होगा उसके शमन के लिए ही कदाचित आचार्य-चरण ने मथुरा से हट कर जतीपुरा और गोकुल को अपने स्थायी केंद्रो के लिए चुना ।

पुष्टि सप्रदाय के आरमिक वार्ता-साहित्य मे भी रास के प्रदर्शन से वचने की भावना पाई जाती है जैसा कि चतुर्भुजदास जी के वार्ता प्रसग मे उल्लेख है । हमे तो इसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि आरभ मे पुष्टि संप्रदाय संभवत. इसीलिए अवतरित रास का भक्त होकर भी अनुकरणात्मक रास (मंचीय रास) से कुछ कटा रहा, क्योंकि उनकी दृष्टि से उक्त घटना कदाचित आचार्यचरण के लिए यशदायिनी नही थी। अनुकरणात्मक रास और राधा भाव का महत्त्व वल्लभ सप्रदाय मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय मे ही वढा था।

कुछ महानुभाव इस आधार पर भी वल्लभाचार्य जी का रास से सबध स्वीकार करते हुए झिझकते है कि उनके विचार से पुष्टि सप्रदाय रास की मंचीय भावना के उतना निकट नही जितना कि सखी सप्रदाय (हरिदास जी का) तथा राधावल्लभीय संप्रदाय (हित हरिवश जी का) है।

इस सबध मे हमारा विनम्र निवेदन है कि भक्तियुग के आचार्य इतने सकीर्ण नही थे, जितनी सकीर्णता मे बाद मे इन सप्रदायो ने स्वयं अपने आप को आवद्ध कर लिया। जैसा कि हम पहले अध्यायो मे उल्लेख कर चुके हैं राधा भावना का वीज तो व्रज मे निम्वार्काचार्य के साथ ही पड गया था। उसे ही यहा आकर माध्व गौडेश्वर सप्रदाय के षण्ठ गोस्वामियो ने तथा हरिदास जी व हित हरिवश जी ने अपनी अपनी भावना के अनुसार सिद्धातो मे ढाला और विकसित तथा पल्लवित किया। राधा और कृष्ण की ये अलौकिक युगल-भक्ति और रास का मच उसी व्रज की रज से उद्भूत है जिससे व्रज के आचार्यो के सिद्धात उदित हुए हैं। ये सब सिद्धात ब्रजभूमि की माधुरी की ही देन हैं। वे न तैलगाना से आये न देवबंद की इस्लामी सस्कृति से। हा, चैतन्यदेव ने वगाल मे मधुर-भक्ति की भावना अवश्य ही पहले से भर दी थी, परतु उनके षण्ठ गोस्वामियो ने भी उस पौधे को यही मधुर यमुना-जल से सीचकर अपना वट-वृक्ष बनाया था। ऐसी दशा मे यदि रास राधावल्लभीय सिद्धातो के अधिक निकट हो तव भी केवल उसी आधार पर यह कैसे मान लिया जाय कि इसके जनक हित हरिवश जी ही थे। दूसरे प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि रास से प्रभावित व्रज के वातावरण ने उन्हे रस-भक्ति की यह भावना प्रदान की। कदाचित कुछ महानुभावो को हमारा यह कथन कटु लगे, परतु तथ्य यही प्रतीत होता है, क्योकि भक्ति युग मे तो रास का केवल पुनर्गठन हुआ था क्योकि रास की परपरा तो भक्त आचार्यो के उदय से भी सहस्रो वर्ष पूर्व की है।

इस अनुश्रुति पर हमने यहा इसलिए इतने विस्तार से चर्चा की क्योकि इससे यह प्रकट होता है कि भक्ति आदोलन का केंद्र वनने के साथ-साथ ही व्रज मे रास के गठन के प्रयोग भी लगभग संवत् १५५०-५५ वि० के आस-पास प्रारंभ हो गए थे, परतु वे प्रयोग मात्र ही रहे, उनको रूप लेने मे समय लगा होगा। ये प्रयोग मथुरा से दूर करहला गाव मे आरभ हुए।

घमंडदेव कौन थे ?

करहला मे हुए इन प्रयोगो के सूत्रधार थे श्री घमडदेव जी। अव यहा प्रश्न उठता है कि यह घमडदेव जी कौन थे ? व्रजभाषा साहित्य मे घमंडदेव जी के उल्लेख इस प्रकार है :

(१) एक थे निम्बार्क संप्रदाय के आचार्य उद्धव घमंडदेवाचार्य।

(२) एक थे वृंदावन के वंशीवट के निकट निवास करने तथा रास में घुमड़ने वाले घमंडी जी जिनका उल्लेख ध्रुवदास जी की 'भक्तनामावली' मे है।

(३) और एक थे घमडदेव जी जिनकी करहला मे समाधि है।

सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि यह तीनो घमडदेव ही एक व्यक्ति है या घमडदेव नाम के तीन अलग-अलग व्यक्ति हुए है। पहले हमे इस सबध मे स्पष्ट हो लेना चाहिए।

निम्बार्क संप्रदाय के आचार्य उद्धव घमडदेवाचार्य और रास

हरिव्यास देवाचार्य जी के १२ शिष्यो मे उद्धव घमडदेव जी का नाम आता है। निम्बार्क सप्रदाय के महानुभाव इन्ही उद्धव घमंडदेवाचार्य से रासलीला का सबध जोडते है। निम्बार्क संप्रदाय के शोधकर्ता डा० नारायणदत्त शर्मा ने इन घमडदेवाचार्य के विषय मे अपने शोध-प्रबंध मे जो विवरण दिया है उसके अनुसार इनकी जन्म-तिथि और स्थिति काल का कोई ब्योरा सप्रदाय मे प्राप्त नही है। हा, इनका जन्म भीमटोडा (जयपुर) के पास दुवरदू मे हुआ था तथा जिला रोहतक के 'कुडल' नामक स्थान पर इनकी समाधि है। इन महानुभाव का कागला गाव (जिला रोहतक) मुख्य स्थान था जहां इनके गुरु हरिव्यास-देवाचार्य जी भी कुछ समय के लिए पधारे और विराजे थे। हरिव्यासदेवाचार्य के साथ धर्म-प्रचार के लिए घमडदेव जी प्रायः यात्राओ पर रहते थे।

'निम्वार्क प्रभा'[७] नामक एक साप्रदायिक ग्रथ के अनुसार एक दिन रास विहारी और रासेश्वरी को ध्यान मे देखते हुए उन्होने उनकी रासलीला का प्रत्यक्ष अनुभव किया। कृपामयी श्री राधा और मगलदाता श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकड़ कर उनसे अनुरोध किया कि मेरी पूर्व रासलीलाओ का पृथ्वी पर फिर से अनुकरण करो। कालातर मे अपने गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर घमंडदेव जी ब्रज के करहला ग्राम मे निवास करने लगे। वही पर उन्होने १२ वर्ष से कम आयु वाले ब्रजवासी बालको को लेकर रासलीला अनुकरण का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया।

ऐसा लगता है कि 'निम्वार्क प्रभा' मे यह कथा रासधारियो मे प्रचलित इस अनुश्रुति को ध्यान मे रखकर गढ ली गई है कि श्री घमडदेव ने करहला मे रासारभ किया, अन्यथा उद्धव घमडदेवाचार्य का करहला से कोई सबध किसी प्राचीन प्रमाण से सिद्ध नही होता। खेद है कि डा० नारायणदत्त शर्मा ने

७ 'निम्वार्क प्रभा', बाबा हसदास, पृष्ठ ११३

इस कथन की बिना ही परीक्षा किए इसे उद्धृत कर दिया है। स्वय निम्बार्क सप्रदाय मे भी उक्त घमडदेव जी के करहला से रासारभ करने के सबध में मतैक्य नही है। इसी सप्रदाय के पत्र 'सर्वेश्वर' के 'वृदावन धामाक' मे वृदावन-के कवि गोपालराय का एक कथन उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार रास-लीला अनुकरण का सुख श्री वृदावन से ही आरंभ हुआ। उसका स्थान वे सेवाकुज के निकट मानते है।[८]

डा० नारायणदत्त शर्मा ने घमंडदेव जी सबंधी सब उल्लेखो को भी उद्धव घमडदेवाचार्य से सबधित कर दिया है और यह विचार करने की चेष्टा नही की कि घमडदेव जी एक ही व्यक्ति थे अथवा भक्तियुग मे कई घमडदेव विद्यमान थे। उन्होने 'भक्तनामावली' के इस दोहे

घमडी रस मे घुमडि रह्यौ, वृदावन निज धाम।
बसीबट तट वास किय, गाये स्यामा स्याम ॥[९]

को भी उद्धव घमडदेवाचार्य के लिए ही मानकर अपने ग्रंथ मे लिख दिया है कि 'इनका समय ध्रुवदास से पहले होना चाहिए।' परतु डा० शर्मा ने घमडदेव जी के स्थानो, यात्राओ तथा वृदावन मे घमंडदेव जी के जिन मंदिरो का विवरण दिया है उनका वशीवट से कोई सबध नही बैठता। ध्रुवदास के दोहे मे जिन घमडदेव जी का विवरण है वह तो वशीधर की वशीमाधुरी मे घुमड़ने वाले कोई ऐसे महात्मा प्रतीत होते हैं जो वृदावन को निजधाम मानकर वहा रम गए थे। उनका साप्रदायिक आचार्यत्व और यात्राओ के वैभव तथा शिष्य-परपरा से कोई संबध जुडता प्रतीत नही होता, अन्यथा ध्रुवदास जी अवश्य ही इसका कुछ आभास अपने दोहे मे देते। हमारे विचार से वशीवट के निकट बसने वाले घमडी जी आचार्य उद्धव घमडदेवाचार्य से भिन्न थे जो रस-भक्ति मे निमग्न कोई साधु रहे होगे। वे उक्त घमडदेवाचार्य के परवर्ती थे।

उद्धव घमडदेवाचार्य द्वारा करहला जाकर रासारभ करने की बात भी हमे नही जचती। करहला मे जिन घमडदेव जी ने रासलीलानुकरण आरंभ किया करहला-निवासियो के अनुसार वे घमडदेव जी करहला गाव ही के निवासी थे और उनका शरीरात भी करहला मे ही हुआ। उन घमडदेव जी की समाधि भी करहला गाव मे ही वहा के प्राचीन रासमडल के साथ ही बनी है, अत. वह घमडदेव जी इन उद्धव घमडदेवाचार्य से निश्चय ही पृथक व्यक्ति थे जिनकी कि समाधि जिला रोहतक के 'कुडल' गाव मे है।

८ 'सर्वेश्वर', वृदावन धामाक, पृष्ठ २२६
९ 'बयालास लीला', पृष्ठ ३० (ध्रुवदास कृत)

से सुसज्जित करने का कार्य स्वामी हरिदास जी ने किया, इस संबंध मे दो मत नही हो सकते। वल्लभाचार्य वाली अनुश्रुति, राधा कृष्णदास जी के 'रास सर्वस्व' तथा सभी सप्रदायो और रासधारियो की मान्य परपराओ मे रास के साथ स्वामी हरिदास जी का नाम निर्विवाद रूप से गुफित है। साथ ही यदि रासमच के वर्तमान रूप को परखा जाय तो उसके संगीत के मचीय विधान पर भी स्वामी हरिदास जी की छाप बहुत उभरी है। यहा तक कि रास का प्रारंभ ही ध्रुपद गायन से होता है, जिसके स्वामी जी स्वय सम्राट थे।

रास के आरभ का समय भी लगभग वही है जो स्वामी हरिदास जी के वृदावन-वास का समय है। 'निजमत सिद्धात' के अनुसार स्वामी जी का जन्म सवत् १५३५ वि० मे हुआ। एक अनुश्रुति के अनुसार वे लगभग २५ वर्ष की आयु मे वृदावन मे आकर वस गये थे। इस प्रकार वृंदावन मे उनका स्थायी निवास-काल सवत् १५६० वि० के आसपास है। इसलिए वर्तमान रासलीला अनुकरण का आरभ १५५० के पूर्व कदापि नही हुआ यह निर्विवाद रूप से माना जाना चाहिए। साथ ही इस रास को अपना रूप ग्रहण करते-करते १०-१५ वर्ष अवश्य लगे। इस प्रकार रासारभ का समय १५५०-६५ के वीच मानना ही समीचीन है और लगभग इसी समय से भक्ति साहित्य मे रासलीलाओ के अभिनयात्मक रूप की चर्चा के सूत्र भी उपलब्ध है।

रास और आचार्य हित हरिवंश जी

आचार्य हित हरिवश जी संवत् १५९० वि० मे वृंदावन पधारे थे। जव वे वृदावन आकर वसे उससे पूर्व ही हरिदास जी यहा निधिवन मे आकर वस चुके थे और रस-भक्ति की आधारशिला यहा रखी जा चुकी थी जो हिताचार्य के वृदावन आने के उपरांत हरित्रयी (स्वामी हरिदास जी, हित हरिवंश जी और उनके शिष्य श्री हरिराम व्यास) द्वारा विकसित होकर सपुष्ट हुई। रास का आरभ भी करहला से इस वीच हो चुका था, ऐसी दशा मे डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह मत कि आचार्य हित हरिवश जी ने रासारंभ किया,[11] स्वीकार करने योग्य नही ठहरता।

हित हरिवश जी द्वारा ही रास के अनुकरणात्मक रूप का आरभ हुआ, इस मान्यता की पुष्टि मे श्री किशोरीशरण 'अलि' किन्ही जै श्रीकृष्ण के एक ग्रथ का यह उद्धरण प्रस्तुत करते हैं :

११. 'राधावल्लभ सप्रदाय . सिद्धात और साहित्य', पृष्ठ २९०

थापन थापक श्री हरिवंश, सब मिलि कीनो तिलक प्रसश ।
सेव्यनाम सेवा सुखमूल, सदाचार सपति अनुकूल ।
कार्तिक वदि द्वितीया को रास, मंडल वेष स्वरूप प्रकाश ।[१२]

श्री अलि जी का कहना है कि हरिवश जी ने कार्तिक कृष्ण २ को वृदावन मे रास प्रारभ किया । यह कार्तिक कृष्ण २ कौन सी है यह अलि जी को स्वयं पता नही लग सका इसलिए वह कहते है, 'रास सवत् १५६० वि० के लगभग प्रारभ हुआ होगा । स० १६०६ वि० के बाद तो इसलिए नही कि स० १६०६ वि० मे महाप्रभु हिताचार्य अंतर्हित हो चुके थे और १५६० वि० के पश्चात् इसलिए कि सं० १५६० वि० मे हिताचार्य का वृदावन आगमन काल है ।'

हम अलि जी के इस मत से पूरी तरह सहमत है कि श्री हित हरिवश जी ने अपने वृंदावन आगमन के उपरात वहा (वृदावन मे) उक्त संवतो के वीच किसी कार्तिक कृष्णा द्वितीया को रास अवश्य प्रारभ किया परतु इससे यह सिद्ध नही होता कि उन्होने रास रगमंच की कोई नई परपरा स्थापित की । उन्होंने करहला गांव मे जो रास रंगमच की परंपरा स्थापित थी उमे ही अपनी रस-भक्ति का एक अंग स्वीकार करके रस-भक्ति के केंद्र वृदावन मे स्थापित किया । इस उल्लेख का हमे यही अभिप्राय समीचीन लगता है ।

'थापन थापक' का अर्थ है 'स्थापना के संस्थापक' अर्थात् जो रासमच स्थापित था हरिवश जी ने किसी कार्तिक कृष्णा द्वितीया को वृदावन मे उसी को संस्थापित किया । उस समय सभी उपस्थित समाज ने भगवान के स्वरूपो के तिलक किया और रासमंच की प्रशसा की, यही इन पक्तियो का स्पष्ट अर्थ है ।

रासधारियो की परंपरा और मौखिक इतिहास यह बतलाता है कि रास का आरंभिक केंद्र करहला था । परतु उसके वाद वृदावन रास का प्रवल गढ बन गया और भक्ति युग से आज तक वृदावन ही रास का व्रज मे सर्वप्रधान केद्र रहा है । वृंदावन का रास के साथ इतना गहरा सवध हो गया कि करहला के महन्त-हवेली वाले रासधारी भी बाद मे वृंदावन आकर वसे । रास की मचीय परंपरा के साथ वृंदावन का यह अनन्य सवध हित हरिवश जी और हरित्रयी के कारण ही हुआ ।

वृदावन के चैन घाट पर पहला रास-मंडल हित हरिवश जी ने ही स्थापित करके वहा नियमित रूप से रास की व्यवस्था की तथा रास के इस अनुकरणात्मक रूप को उन्होने अपने संप्रदाय मे प्रमुखता प्रदान करके न केवल

१२ 'ब्रजभारती', वर्ष १७, अंक १०-११-१२, पृष्ठ ५३.

प्राकृति दपति लीला माँही, परिचारक कोउ प्रवसति नाही।
रहै पास तेहि अवसर दासी, जो स्वामिनि की कृपा निवासी॥
प्रभु के भक्त अनेक विधाना, उज्ज्वल सख्य दास्य रस नाना।
तिन कहँ सुख उपजे जेहि भाँती, प्रभु पद में मन रह दिन राती॥
अस विचारि हरि की ललित, लीलन की अनुहारि।
रसिक नरायन भट्ट ने, ग्रथित कियौ ससार॥
जेहि प्रकार रहि प्रेम दृढ़, निखिल भगति जिय होइ।
निज निज रुचि हरि भाव कर, सुख पावैं सब कोइ॥

भट्ट जी के मत मे ससारी जीव जब तक रास विलास मे सम्मिलित होने का अधिकारी नही जब तक उसे सखी भाव तथा रासेश्वरी राधा रानी की कृपा सिद्धि न हो। परतु जनसाधारण इस असाधारण स्थिति को प्राप्त नही कर सकते इसलिए वे रास के अधिकारी नही, परतु सभी प्रकार के भक्तो को जो शात, सख्य या दास्य भाव से भगवान को भजते हैं, कृष्णलीलाओ का रस मिलना चाहिए, यह विचार करके उन्होंने रास मे भगवान की ब्रजलीलाओ का अभिनय भी जोड दिया।

जब से रास के साथ यह लीला अभिनय जुड़ा तभी से रास के दो भाग हो गए: (१) नित्यरास, (२) रासलीला। आज भी रास के मंच पर यही परंपरा विद्यमान है कि पहले नित्यरास होकर थोडा विश्राम होता है जिसमें समाजी भक्ति-रस के पदादि का गायन करते हैं और तब बाद मे कोई एक ब्रजलीला प्रारंभ होती है। कहा जा सकता है कि भट्ट जी ने इस प्रकार रासक व नाट्य रासक की दोनो पुरानी परपराओ को वर्तमान रास मे एकसाथ गूँथ दिया।

रास मे नाटकीयता की यह स्थापना रास की लोकप्रियता बढाने मे बड़ी सहायक हुई और कृष्णलीलाओ मे व्याप्त सरसता और विभिन्न रसो और स्थितियो के समावेश ने रास के प्रेमियो और दर्शको का क्षेत्र बहुत व्यापक बना दिया। यदि रास के साथ यह ललित लीलाए न जुडी होती तो रास का मंच कदापि वह लोकप्रियता प्राप्त न कर पाता जो उसे प्राप्त हुई है।

इस प्रकार भट्ट जी ने रास को एक बडा ही मौलिक मोड देकर इस मच को एक नये कलात्मक आधार पर स्थित कर दिया। यही नही, रास के लिए उन्होने जन्मलीला, दानलीला, मानलीला, मगरोकनी लीला, परस्पर गारी लीला, मटकी फोडनी लीला, हास-परिहास लीला आदि लीलाओ की स्वय रचना भी की और उनका अभिनय कराया।[१४]

१४ 'ब्रजभारती' के वर्ष १६ अक २ मे श्री भवेश पचौरी का लेख "श्री नारायण भट्ट गोस्वामी", पृष्ठ १६

नृत्य और संगीत

भट्ट जी ने दूसरा काम किया रास के नृत्यो और संगीत को विकसित करने का। स्वय भट्ट जी बड़े कुशल गायक थे। एक बार स्वयं स्वामी हरिदास जी इनसे भेट करने बरसाना गए थे तब स्वामी जी के आग्रह पर भट्ट जी ने उन्हे सप्तस्वर वीणा पर भागवत के कुछ अंश गाकर सुनाये थे।[१५] ऐसी दशा मे भट्ट जी के इस कलात्मक संसर्ग का रास के संगीत पर प्रभाव पडना अवश्यभावी था।

रास के नृत्यो को रूप देने का काम भट्ट जी ने वल्लभ नर्तक को सौपा था। वल्लभ अपने युग का बडा प्रसिद्ध दरवारी नर्तक था जो राज-सेवा से अवकाश लेकर व्रज मे जा बसा था। नारायण भट्ट जी ने इसी वल्लभ नर्तक को रास-नृत्यो को रूप देने का कार्य सौपा, जिसे उसने बडी कुशलता से पूरा किया। वल्लभ के नृत्यो के कारण रास मे रस की वर्षा होने लगती थी यह तथ्य नाभादास जी ने अपनी 'भक्तमाल' मे स्वीकार किया है। वे लिखते है .

नृत्य गान गुन निपुन, रास में रस बरसावत ।
नव लीला ललितादि वलित, दंपतिहि रिझावत ॥
अति उदार विस्तार, सुजस व्रज मडल राजत।
महा महोच्छव करत, वहुत सवही सुख साजत ॥
श्री नारायण भट्ट प्रभु, परम प्रीति रस वस किये।
व्रजवल्लभ वल्लभ परम, दुरलभ सुख नैनन दिये ॥

इस प्रकार भट्ट जी ने अपनी सूझबूझ से रास के विकास का यह अतिम चरण पूरा करके उसे एक स्थायी रूप प्रदान कर दिया। इस दृष्टि से वे रास-लीला के मंच के आचार्य ही थे।

रास-मडलों की स्थापना

भट्ट जी ने जहां रास को व्यवस्थित कलात्मक आधार देकर उसे व्रज-वासियो के अंतर्मन मे स्थापित किया और उसे सच्चे अर्थों मे व्रज-भक्ति का मंच वनाने की योजना बनाई वहा उन्होने व्रज क्षेत्र की शोध करके भगवान कृष्ण ने कहा कौन सी लीला की थी इसका भी निर्णय किया और कृष्णलीला से सवधित प्रमुख स्थालो पर पक्के मंडलाकार रासमडल स्थापित करके पूरे व्रज मे रासलीला को गाव-गांव पहुचाया। कहा जाता है कि इन रासमडलो का व्यय

१५. 'व्रजभारती' के वर्ष १६ अक २ मे श्री भवेश पचौरी का लेख "श्री नारायण भट्ट गोस्वामी", पृष्ठ १७

सम्राट अकबर के अर्थ सचिव राजा टोडरमल ने वहन किया था, जो उनके नवरत्नो मे से थे। भट्ट जी द्वारा व्रज मे स्थान-स्थान पर रासमंडल स्थापित करने की चर्चा 'भक्तनामावली' मे ध्रुवदास जी ने[१६] तथा 'भक्तमाल' की टीका मे प्रियादास जी ने[१७] की है।

भट्ट जी ने यह रासमडल कहा-कहा स्थापित कराये इसका ब्योरा ठीक-ठीक ज्ञात नही होता, परंतु परवर्ती कवि जगतनन्द ने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'व्रज वस्तु वर्णन' मे व्रजक्षेत्र की प्राचीन वस्तुओ की शोध करके उनका विवरण प्रस्तुत किया है। उसने व्रज के प्राचीन ३३ रासमंडलो का निम्न प्रकार उल्लेख किया है ·

वृदावन मे पाँच हैं, क्रीडत व्रज मे ईस।
व्रज मे मडल रास के, जगतनन्द तेतीस ॥

द्वै मडल हैं कामवन, नन्दगाँव मे एक।
दोइ करहला बीच है, दोइ दानगढ टेक ॥

एक साँकरीखोर मे, इक परवत मे मान।
एक मानगढ देखिये, द्वै विलासगढ जान ॥

गहवर वन मे एक है, अरु सकेतहि चार।
एक पिसाये जाववट, दोइ लखो उर धारि ॥

एक कोकिला विपिन मे, तीन जु ऊँचे गाँव।
सिला खिसलनी एक है, एक गिर टीलेनाउँ ॥

एक सुनहरा बीच है, कदमखडि मधि एक।
इहै पुरातन जानिये, नूतन भये अनेक ॥

इस प्रकार इन प्राचीन ३३ रासमंडलो मे से वृदावन के ५ रासमंडलों को छोडकर (जो वहा हित हरिवंश जी तथा हरित्रयी के प्रभाव से स्थापित हुए) शेष २८ रासमडल व्रज मे नारायण भट्ट जी ने ही स्थापित किए ऐसा प्रतीत होता है क्योकि वे सभी रासमडल नारायण भट्ट जी के कार्यक्षेत्र में ऊंचे गाव के ही चतुर्दिक स्थित हैं।

१६. भट्ट नाराइन अति सरस, व्रजमडल सों हेतु।
ठौर-ठौर रचना करी, निकट जान सकेत ॥—ध्रुवदास : 'भक्तनामावली'

१७. ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रगट किये।
जिये यो रसिक जन कोटि सुख पाये हैं ॥—प्रियादास 'भक्तमाल टीका'

बूढ़ी लीलाओं का प्रचलन

इन सब के साथ नारायण भट्ट जी ने एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य और किया और वह था बरसाने और उससे संलग्न गावो मे बूढी लीलाओ का प्रचलन। बरसाने के पर्वत से राधिकाजी की प्रतिमा का प्राकट्य उन्होने सवत १६०४ वि० मे किया था। उसी के बाद बरसाने का वैभव बढा और वह राधा भक्ति के केंद्र के रूप मे विकसित हुआ। राधा अष्टमी पर राधारानी का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाने की परंपरा तभी स्थापित हुई। राधा जन्मोत्सव बरसाने मे कई दिन तक मनाया जाता है और इस अवसर पर भट्ट जी द्वारा स्थापित निकटवर्ती रास-मंडलो पर भट्ट जी द्वारा निर्धारित रासलीलाए निरतर होती है। इन रासलीलाओ का समापन अत मे साकरीखोर मे मटकी फूटने की लीला के साथ होता है। यह महोत्सव लगभग एक सप्ताह होता है और दूर-दूर से कृष्णभक्त इस अवसर पर बरसाने पधारते है। इस प्रकार ब्रज मे राधा अष्टमी के साथ रासोत्सव को भी संबद्ध करके भट्ट जी ने रास के प्रचार और उसकी ओर जन-जन को आकर्षित करने की एक स्थायी व्यवस्था बाध दी,[१८] परतु अब यह रासोत्सव केवल परपरा पालन मात्र रह गया है। यदि इस उत्सव मे होने वाले रास का कलात्मक स्तर ऊचा उठाया जा सके तो ब्रज का यह उत्सव धार्मिक जनता के साथ-साथ साहित्यिक और सास्कृतिक रुचि के व्यक्तियो के लिए भी एक दुर्लभ आकर्षण का केंद्र बन सकता है।

इस प्रकार रास के लिए नारायण भट्ट जी की सेवा बडी ही महत्वपूर्ण है। उन्होने उस मंच को, जो अपनी शैशवावस्था मे था, अपनी सूझबूझ और साधना से विकसित किया और उसे परिपुष्ट बनाया। जैसा कि ग्राउस महोदय ने कहा है इस दृष्टि से भट्ट जी निश्चय ही रासलीलाओ के सरक्षक और रासमच के सस्थापक ही थे।

उपसहार

उक्त विवेचन से हम इस तथ्य पर पहुचते है कि भक्ति युग मे ब्रज के वर्तमान रास रंगमंच की स्थापना सं० १५५०-६५ वि० के बीच हुई। श्री वल्लभाचार्य जी व स्वामी हरिदास जी ने रासमच की स्थापना की पहल की

१८. भट्ट जी द्वारा प्रारभ किए गए इस रासोत्सव को डा० नार्विन हाइन ने महारास समझने की भूल की है। उन्होने इसीलिए अपने ग्रथ 'दि मिरेकिल प्लेज आफ मथुरा' के पृष्ठ २२९ पर लिखा है—

"He was particularly famous for his performance of the great-mahotsava or the Krishnarasmahotsava, known in the terminology of present day as the Maharas'

परंतु वह सफल नहीं हुआ। बाद में करहला के श्री घमण्डदेव ने इस मंच को जन्म दिया। यह घमण्डदेव जी निम्बार्क संप्रदाय के उद्धव घमण्डदेवाचार्य से भिन्न तथा उनके परवर्ती थे।

हित हरिवंश जी के वृंदावन पधारने पर उनकी प्रेरणा से रास वृंदावन में स्थापित हुआ और वह ब्रज की रस-भक्ति का एक अनन्य अंग बना दिया गया। स्वामी हरिदास जी ने इसी समय उनके संगीत को उत्कृष्टता प्रदान की। वृंदावन इस युग से रास का मुख्य केंद्र बन गया।

नारायण भट्ट जी ने ब्रज आकर इस मंच के साथ वन लीलाओं को भी जोड़कर इस मंच में नाटकीयता का समावेश किया और वल्लभ नर्तक ने इनके नृत्यों का निर्माण किया। भट्ट जी ने ब्रज में रासमण्डलों की तथा छूटी लीलाओं की स्थापना करके रास का व्यापक प्रचार किया और इसे सच्चे रूप में ब्रज के सांस्कृतिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बना दिया। इस प्रकार रास के विकास का यह क्रम लगभग संवत् १५५० वि० से लेकर संवत् १७०० वि० तक[19] निरंतर चलता रहा। इस १५० वर्ष के समय में रास के विकास, उसकी महत्ता की वृद्धि और उसके स्वरूप-निर्धारण का कार्य उक्त आचार्यों द्वारा निरंतर किया जाता रहा। इस बीच रास के लिए सजीव साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा जाता रहा और भक्त कवि अपनी अभिनव अनुभूतियों और भावनाओं के अनुरूप नित्य नवीन रास लीलाओं की रचना कर करके रास रंगमंच पर अपनी इच्छानुसार भगवान को नचाते रहे और अभिनयानन्द से छक-छककर धन्य होते रहे। श्रीकृष्णलीला का आस्वादन कराने के माध्यम के रूप में रास ब्रज ही नहीं, संपूर्ण देश के आकर्षण का केंद्र बन गया।

इस प्रकार निम्बार्क संप्रदाय ने राधा-भक्ति का जो अंकुर ब्रज की इस भूमि में बोया वही गौड़िया भक्तों (षष्ठ गोस्वामी) रसिकाचार्य स्वामी हरिदास और हित हरिवंश जी के राधावल्लभीय संप्रदाय की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में फूट कर ऐसा वट वृक्ष बना कि उसकी अक्षय शीतल छाया ने समस्त ब्रज को तो आच्छादित किया ही, साथ ही साथ दूर दूर से पीड़ित मानव भी उस छाया की शीतलता से शांति प्राप्त करने के लिए ब्रज भूमि की ओर लपक पड़ा और भक्ति की इस झोंक में जो भी उस समय आया उसी का रासमंच के माध्यम से यहां स्वयं प्रिया-प्रियतम ने प्रत्यक्ष होकर स्वागत किया और अपनी लीला माधुरी से अभिभूत करके उसे ब्रज की इस भक्ति में दीक्षित करके सभी भौतिक तापों से मुक्त कर दिया। यही कारण है कि भक्ति युग से आज तक यह रास रंगमंच पूरे देश में कृष्ण-भक्त समाज के निरंतर आकर्षण का केंद्र बना हुआ है।

१९. नारायण भट्ट जी के स्वर्गवास का यही समय है।
—'ब्रजभारती', वर्ष १९, अंक २, पृष्ठ १७.

९

ब्रज के रास का विकास

वृंदावन मे रास-मंडल की स्थापना और नित्य-रास का प्रारंभ

पहले कहा जा चुका है कि व्रज का वर्तमान रास करहला से उदित हुआ और वहां से वृंदावन आकर उसने रस-भक्ति के सरस सरोवर मे अवगाहन करके दिव्यता प्राप्त की। हिताचार्य संवत् १५९० मे वृंदावन पधारे थे और १६०९ मे उनका स्वर्गवास हुआ था। इस प्रकार वह वृंदावन मे केवल १९ वर्ष ही रहे परतु इस अल्प काल मे ही वे रास और रास रंगमच को वृंदावन की रज के रोम-रोम मे रमा गए। इसका प्रमुख कारण यह था कि उनकी रस-भक्ति रास की भावना का जहा प्रवल सवल थी वहा रासमच स्वय उनकी रस-भक्ति की अनुभूति का एक वड़ा समर्थ माध्यम था। यही कारण है कि वृदावन मे वसते ही हिताचार्य ने चैन घाट पर रास मंडल की स्थापना को प्राथमिकता दी।[1] यह रास उस समय वृदावन की रज से (कच्चा) बनाया गया था जो वाद मे सं० १६४१ वि० मे गो० वनचद्र जी के शिष्य भगवानदास सोनी ने पक्का कराया।[2]

श्री किशोरीशरण 'अलि' का मत है कि यह रास-मडल अधिक से अधिक संवत् १५९२ वि० तक वन कर तैयार हो गया था क्योंकि हित हरिवश जी के वृदावन चले आने के वाद ही उनके वाल्यकाल के मित्र छवीलदास उनके वियोग मे दुखी होकर उनसे मिलने वृदावन आये थे और तब हित हरिवश जी ने उन्हे इस रास-मडल पर रास के दर्शन करने भेजा था।

१. मडल चैन घाट पर कीनों। रास केलि रस रसिकन दीनो—उत्तमदास कृत, 'श्री हरिवश चरित'

२ 'व्रजभारती' वर्ष १७, अक ७-८-९ मे श्री किशोरीशरण 'अलि' का लेख "रासलीला अनुकरण का उदय और उसकी परपरा"

ताहि कही मंडल ह्वै आवहु, तब तुम प्रभु कौं दरसन पावहु ।
आइ दूरि ते धुनि उन सुनी, ताल मृदंग मुरलिका धुनी ।
सखी सहित दम्पति मंडल पर, चौंकि चक्यो लगि गिर्यौ तुरत धर ।
—'श्री हरिवंश-चरित'

छबीलदास का वृंदावन वास का काल श्री किशोरी शरण 'अलि' संवत् १५९२ वि० के आसपास मानते हैं । ऐसी दशा मे वृंदावन मे रास की स्थापना हिताचार्य ने या तो संवत् १५९१ वि० की कार्तिक सुदी कृष्णा द्वितीया को कर दी होगी या अधिक से अधिक १५९२ वि० की कार्तिक कृष्णा द्वितीया से वृंदावन मे चैनघाट के इस रास-मंडल पर 'नित्य-रास' क्रम आरंभ हुआ ।[3]

संवत् १५९२ वि० के आसपास कार्तिक मास (जो भगवान के महारास करने का भी मास है) से चैनघाट पर प्रतिदिन नियमित रूप से रास प्रारंभ हो गया जो काफी समय तक स्थायी रूप से चलता रहा और रसिकवृंद वहां रस-भक्ति का प्रसाद प्राप्त करने लगे ।[4]

रस-भक्ति के आधार पर रास का गठन

रास की यह परंपरा जो वृंदावन मे चैनघाट पर स्थापित हुई वह रसिकत्रयी के नेतृत्व मे यहां के रस-भक्ति की भावना के अनुरूप विकसित हुई और वर्तमान रास मे 'नित्य-रास' के नाम से जो प्रारंभिक नृत्य और गायन का अंश संयुक्त है उसने अपना यह वर्तमान रूप यहीं विकसित किया जो रस-भक्ति के सिद्धांतो से एकदम मेल खाता है । रासधारियों को रसिकों की यह नित्य-रास की देन बड़ी महत्वपूर्ण थी, जिसे उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक हित हरिवंश जी का प्रसाद मानकर स्वीकार किया और संभवतः यही कारण है कि रासधारी आज भी जब नित्य-रास के आरंभ मे राधा-कृष्ण की आरती का गायन करते हैं तब आरती के तुरत बाद ही वे निम्न चार पंक्तियों का भी गायन करते हैं जो संभवत रास के कर्णधारों ने राधा-कृष्ण के साथ-साथ रस-भक्ति के आचार्य हित हरिवंश जी के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए रास के क्रम मे जोड़ दी हैं । वे पंक्तियां हैं :

नमो नमो जै श्री हरिवंस ।
रसिकन नैन बैन कुल-मंडल, लीला मान सरोवर हंस ।

३. कार्तिक वदि द्वितीया को रास । मंडल वेश स्वरूप प्रकास ॥ 'जैमरण'

४ चैनघाट पर रच्यो जु मंडल । हम नित रास रमत हैं इहि थल ॥
जहां जहां दृष्टि चितावै ठौर । प्रकट करैं रसिकन सिरमौर ॥
—'हित परिकर वदन' पत्रिका

(नमो जु) श्री वृदावन जै श्री माधुरी, रास-विलास प्रसस ।
आगम अगम अगोचर राधे, चरन सरोज व्यास हरिवस ।[५]

रास की स्थायी परपरा

इस प्रकार वृदावन के चैनघाट पर हरिवश जी द्वारा स्थापित रास मडल पर व्रज मे प्रतिदिन 'नित्य-रास' किए जाने की परपरा स्थापित की गई और प्रिया-प्रियतम के नूपुरो का रोर रसिक भक्तो के सरस कठ से फूटने वाले रागो से सयुक्त होकर जन-जन को अपनी ओर आकृष्ट करने लगा। इससे पूर्व का नियमित रूप से दैनिक रास का तथा रास-मडल की स्थापना का कोई उल्लेख हमे कही उपलब्ध नही हुआ। अत यही मानना उचित है कि वृदावन के चैनघाट पर वर्तमान नित्य-रास ने अपना वर्तमान रूप रसिको की छत्रछाया मे ग्रहण किया, क्योकि रस-भक्ति के आचार्यो ने ही अवतरित रास के स्थान पर नित्य-रास को महत्ता प्रदान की और वृदावन को रास की नित्य-भूमि के रूप मे मान्यता प्रदान की। इन आचार्यो के मत से वर्तमान वृदावन भूलोक के वृदावन का ही पृथ्वी पर अवतरित प्रतिरूप है। इसी आधार पर चैनघाट पर रास-मडल स्थापित करके उन्होने वहा दैनिक रास-प्रदर्शन की व्यवस्था की। तब से आज तक वृदावन मे दैनिक रास की यह परपरा यथावत बनी हुई है। आज भी वृदावन मे टोपीवाली कुज आदि स्थलो पर प्राय· प्रतिदिन ही रास होते है। जब भी जो रास-मडली वृदावन मे रहती हैं, वह अपनी ओर से इन मे से किसी भी स्थल पर रास अवश्य करती है और वहां से इन मडलियो को नाम मात्र की (बहुत साधारण सी) भेंट प्रसाद प्राप्त होता है। खेद की बात है कि देश की स्वतत्रता के उपरात रास की इस दैनिक परपरा को बहुत बडा झटका लगा है। अब रजवाडो के समाप्त हो जाने के कारण वृदावन मे विभिन्न नरेशो द्वारा स्थापित मदिरो मे होने वाले रास का क्रम टूट गया है। जब राजा लोग शक्ति और साधन-सपन्न थे तब इन राज्यो द्वारा स्थापित मदिरो मे अन्य प्रबध के साथ दैनिक रास का भी प्रबध रहता था और रियासतो के इन मदिरो मे जो मडलिया रास करती थी उन्हे मदिर की ओर से नियमित पारितोषिक मिलता था। इस प्रोत्साहन का फल यह था कि वृदावन मे रास-मडलियो का प्राय. जमाव रहता था और ५-६ मडलिया प्रतिदिन वहा घुघरुओ की रुनुक-झुनुक करती रहती थी, परतु अब तो इन सभी मडलियो को खाली दिनो मे आजीविकोपार्जन के लिए वृदावन से बाहर जाना पडता है। कभी-

५ सभवत: यह शब्द 'अवतस' होना चाहिए क्योकि हरिवश जी के पिता व्यास जी के नाम से विख्यात थे, परतु रासधारी इस शब्द को हरिवस ही बोलते हैं।

कभी ऐसा भी हो जाता है कि वृंदावन मे कोई भी रास-मडली नही होती, परतु ऐसी स्थिति मे भी यहां के वयोवृद्ध रासधारी श्री दामोदर स्वामी अपनी ओर से ही वंशीवट पर रास करके वृंदावन मे दैनिक रास की इस प्राचीन परपरा को वनाए हुए थे परतु हाल मे उनका भी देहात हो गया है। श्री दामोदर स्वामी ही एक ऐसे स्वामी थे जिनके स्वरूप प्रतिदिन वृंदावन मे वंशीवट पर (वारहो मास) रास अवश्य करते थे, चाहें स्थिति कैसी भी क्यो न हो। खेद है कि स्वामी जी के स्वर्गवास के कारण वंशीवट का वह रास भी अव नही होता। इस प्रकार रसिकत्रयी ने वृंदावन मे नित्य-रास की जिस परपरा की नीव चैंनघाट पर रखी थी वह परपरा वशीवट के रास के वद हो जाने के वाद भी अभी टोपीकुज पर प्रतिदिन चल रही है। वृंदावन मे जो भी मडली उपस्थित होती है वह वहा इस क्रम का निर्वाह अभी भी करती है। द्वापर मे भगवान कृष्ण ने अवतार धारण करके पूरे व्रज मे लीलाए की थी। अत॰ पूरा व्रजमंडल जहां भगवान कृष्ण के अवतरित रास की भूमि है वहा वृंदावन को कृष्ण-भक्त उनके नित्य-रास की भूमि मानते है। इस चर्चा को आगे वढाने से पूर्व हमे सक्षेप मे अवतरित रास और नित्य-रास को समझ लेना आवश्यक है।

अवतरित रास

अवतरित रास वह रास है जो भगवान कृष्ण ने द्वापर युग मे अवतार धारण करके व्रजभूमि पर किया था। इसका श्रीगणेश वृंदावन के यमुना पुलिन पर महारास लीला के रूप मे शरद पूर्णिमा के दिन हुआ था। भागवत पुराण इस अवतरित रास का आधार ग्रंथ है। यह रास भगवान कृष्ण की इच्छानुसार सचालित हुआ। वही इसके प्रधान नेता थे।

नित्य-रास

नित्य-रास का श्रीकृष्ण के अवतार धारण करने से कोई सीधा सवध नही है। भगवान कृष्ण सदा है और सदा रहेगे। गोलोक धाम मे वे नित्य निवास करते है और वहा प्रियतम कृष्ण प्रिया राधा की इच्छानुसार नित्य ही रास मे तल्लीन रहते हैं। जहां राधा-कृष्ण और सखी परिकर एकत्रित हो जाते है वही यह रास प्रारभ हो जाता है। इसके लिए केवल प्रिया-प्रियतम की रमणेच्छा ही पर्याप्त है। कृष्ण की प्रार्थना पर राधा जव रास के लिए स्वीकृति दे देती हैं तभी सखी रास का आयोजन कर देती हैं और रास के सव उपकरण प्रिया-प्रियतम की इच्छापूर्ति के लिए एकत्रित हो जाते हैं और वैसा ही वातावरण उद्‌भूत हो जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण का रुझान इसी रास की ओरहै।

दोनो रासो मे भेद

इस प्रकार अवतरित रास और नित्य-रास आपस मे एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं। इनके भेद को भक्त-आचार्यो के अनुसार मोटे रूप मे कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१) देश-काल और समय की दृष्टि से

अवतरित रास भगवान कृष्ण की रमणेच्छा के परिणामस्वरूप शरद पूर्णिमा को एक निश्चित दिन प्रारभ हुआ, परतु नित्य-रास सदा से होता चला आया है और सदा ही होता रहेगा। वह किमी परिस्थिति या देश-काल की गति से अप्रभावित और व्यवधान रहित है। यह रास प्रिया-प्रियतम की इच्छा पर कही भी और किसी भी समय किसी भी स्थिति मे हो सकता है, इसलिए जिस समय जहा भी यह रास हो उसी के अनुसार रागो का गायन तथा उसी प्रकार का वातावरण इस रास मे स्वीकार्य होते है। इस रास के नृत्य-गायन व सगीत सभी राधा-कृष्ण के तन-मन और प्राणो के सम्मिलित स्पंदन से प्रभाववान होकर उनके रोम-रोम को गतिशील बना देते हैं, जबकि अवतरित रास मे ऐसी उनमुक्तता सभव नही लगती।

(२) अधिष्ठाता की दृष्टि से

अवतरित रास के अधिष्ठाता भगवान कृष्ण है। जब उनकी रास करने की इच्छा होती है तो उन्हे मुरली नाद करके गोपिकाओ को बुलाना पडता है क्योकि वह लौकिक वधन मे वधी होने के कारण हर समय उनके निकट नही रह पाती, परतु नित्य-रास की अधिष्ठात्री कृष्ण नही राधिका है। वे रास रासेश्वरी है। वे कृष्ण के अनुकूल रहे और रास मडल मे पधार कर उन्हे नित्य-रास के रस का आस्वादन कराये इसके लिए कृष्ण सदा लालायित रहते है। रास रासेश्वरी की सेवा मे सब सखी परिकर तथा स्वय श्यामसुदर सदैव उपस्थित रहकर उनका रुख जोहते है।

(३) गोपियो की स्थिति की दृष्टि से

अवतरित रास मे गोपिया राधा से पृथक भी अपना व्यक्तित्व रखती प्रतीत होती है। राधा की प्रमुखता स्वीकार करते हुए भी वे वहा उनकी सपत्नी के रूप मे रास मे सहयोग करती है। यही कारण है कि महारास मे गोपियो को संतुष्ट करने तथा प्रत्येक गोपी का मन रखने के लिए कृष्ण को अनेक रूपो मे प्रकट होना पड़ा था, परतु नित्य-रास मे गोपिया राधा-कृष्ण दोनो की ही सहचरी व सेविका है। वे प्रति क्षण उनकी रुचि को पहचान कर

उसे पूर्ण करती है । यहा वे प्रिया प्रियतम को सुखी देखकर ही अपने को सुखी मानती है और उनके किंचित दुख की आशका मात्र से वे कातर हो उठती हैं । इस रास मे प्रिया-प्रियतम की रुचि के अनुरूप आचरण करके ही उनको सुख और सतुष्टि होती है । प्रिया-प्रियतम का खिन्न होना देखते ही वे विह्वल हो उठती है । इस रास मे उनकी अपनी कोई इच्छा या महत्वाकाक्षा नहीं । वे इस रस-क्रीडा मे प्रिया-प्रियतम के सुख मे भागीदार होकर ही परमानद की अनुभूति प्राप्त करती हैं ।

(४) रस की दृष्टि से

अवतरित रास मे मिलन, वियोग, अतर्धान, गर्व, मान आदि की स्थिति आ सकती है और इस प्रकार शृगार के अतिरिक्त अन्य रसो को भी वहा उद्दीपन के रूप मे स्थान मिल सकता है, परतु नित्य-रास केवल शृगार (और वह भी केवल सयोग शृगार) की ही निर्बाध रसधारा का सदैव प्रवहमान स्रोत है । यहा तो मिलना ही मिलना है, बिछुडने की कोई सभावना ही नही हो सकती । सयोग शृगार की सरस भूमिका पर ही नित्य-रास अडिग रूप से स्थित है ।

(५) दर्शको के प्रवेश की दृष्टि से

नित्य-रास मे राधा-कृष्ण तथा गोपियो के अतिरिक्त सभी का प्रवेश निषिद्ध है । शिव, नारद, सनकादिक भी वहा प्रवेश नही पा सकते केवल राधा रानी की कृपा होने पर ही कोई अनन्य रसिक वहा पहुच सकते है जबकि अवतरित रास मे वे सभी जन प्रवेश पा सकते है जिन्होने गोपी भाव को अपनी आत्मा मे बसा लिया हो ।

राधा की महत्ता

इस प्रकार रसिको द्वारा वृदावन मे नित्य-रास की भावना के उदय के साथ ही राधा भी रास की अधिष्ठात्री के रूप मे उदित हुई, जबकि करहला के पूर्ववर्ती रास मे कृष्ण ही प्रधान थे । यद्यपि आज यह जानने का कोई साधन नही जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वृदावन मे रास के विकास से पूर्व घमडदेव जी द्वारा स्थापित करहला के रास का क्या रूप था, परतु करहला मे जो मुकुट मदिर है उसमे केवल पखो का एक ही मुकुट है जो कृष्ण का कहा जाता है । राधा के मुकुट तक को वहा कृष्ण के मुकुट के साथ स्थान नही मिला । इससे यही प्रकट होता है कि रास मे राधा को रासेश्वरी के रूप मे मान्यता बाद मे वृदावन की रस-भक्ति से ही मिली ।

करहला और वृंदावनी परपराओं का समन्वय

हमारा अनुमान यह है कि रास के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण के कारण ही वृदावन के रसिको ने करहला क्षेत्र की रास परपरा के प्रति उदासीनता बरती और हरिवश जी के जीवनकाल मे वृदावन मे उसे मान्यता नही मिली। रास को वृदावन मे जो रूप दिया गया वह हिताचार्य और हरिदास जी की भक्ति-भावना के अनुरूप एक विशिष्ट भाव-भूमि पर आधारित था। इस मौलिकता के कारण ही हित हरिवश जी को वृदावन के रसिको ने इस रास का संस्थापक घोषित किया, क्योकि वे रास के पूर्ववर्ती करहला वाले रूप के समर्थक न थे। कृष्ण के अवतरित राम के मचीय रूप को वृदावन मे हिताचार्य के बाद ही मान्यता मिली जबकि वहा रास के समन्वित रूप का सयुक्त रूप से विकास हुआ। रसिको द्वारा निर्मित नित्य-रास का यह रूप भी हिताचार्य के स्वर्गवास के उपरात बदलने लगा, जैसा कि व्यासवाणी के उद्धरणो से झलकता है। लगता है कि कुछ समय बाद लोक-रुचि के दबाव ने रासधारियो को प्रभावित किया और इसके फलस्वरूप अवतरित राम और नित्य-रास का मचीय समन्वय प्रारभ हो गया। रास के इस समन्वय के नेता थे श्री नारायण भट्ट गोस्वामी। उन्होने करहला और वृदावन के दोनो रासो का अपनी योग्यता से समन्वय करके उसे पूरे व्रज और व्रजभक्ति का मच बना डाला। भट्ट जी के नेतृत्व मे यह समन्वय स्वय ऐसे स्वाभाविक रूप से हुआ कि उससे व्यास जी जैसे अनन्य रसिको को तो अवश्य ही खेद हुआ परतु साधारण कृष्णभक्तो ने उसका स्वागत ही किया। इस समन्वय मे वल्लभ जैसे समर्थ नर्तक, तथा राम सर्वस्वकार (श्री राधा-कृष्णदास जी) की सूचना के अनुसार वहा के रासधारी रामराय और कल्याणराय इस कार्य मे भट्ट जी के प्रमुख सहयोगी थे।

हिताचार्य जी के उपरात जब वृदावन और करहला की रासमडलिया परस्पर एक दूसरे के निकट आईं तो रास का यह समन्वय प्रारभ हो गया। जिस मडली मे जिसे जो अच्छा लगा उसे उसने दूसरी से ग्रहण कर लिया और इस प्रकार रास की ये दोनो परपराएं कालातर मे एक हो गईं। आज भी रासधारियो को एक-दूसरे से सीखने या ग्रहण करने मे कभी कोई सकोच नही होता, क्योकि अब उनका मुख्य उद्देश्य साप्रदायिक आस्थाओ का प्रचार नही, वरन अपनी लोकप्रियता तथा मंचीय प्रभावोत्पादकता का विकास करना है जिससे उन्हे अधिक यश व अर्थ प्राप्त हो सके। इसी दृष्टिकोण से रासमडलियो के स्वामी अपनी-अपनी रुचि और योग्यताओ के अनुसार रास को उठाते या गिराते हुए निरंतर चलाते आ रहे हैं।

नारायण भट्ट जी के नेतृत्व मे करहला और वृदावन के रास का जो

समन्वय हुआ उसमे नित्य-रास का स्वरूप वृदावन की रस-भक्ति के अनुरूप ही रहा क्योकि रास मे राधा की प्रधानता शृगार-रस के उद्रेक मे कृष्ण के नायकत्व की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक थी। इससे नित्य-रास का आकर्षण बढा। रास मे होने वाली लीलाओ को भी बाद मे सभी रासधारी समान रूप से करने लगे, चाहे वे वृदावन मे विकसित हुई हो या करहला मे। लीलाओ मे उनकी कथा के गठन के अनुरूप कही कृष्ण की तथा कही राधा की महत्ता स्वयमेव हो गई और रासधारियो ने श्यामा-श्याम को एक प्राण दो देह मानकर बाल लीला (जिनमे कृष्ण प्रधान थे) तथा शृगार रस की लीलाए (जिनमे राधा प्रधान थी) समान रुचि से करना आरभ किया। इस समन्वय से रास के दर्शको का विस्तार हुआ और रास मच के कथानको की सख्या भी बढी। विविध रसो के कथानको के मच पर आ जाने से नाटकीयता का भी विकास हुआ।

परतु रास के इस समन्वय के उपरात भी इन दोनो प्रकार की मडलियो मे कृष्ण के मुकुट मे अतर बना रहा। करहला के वल्लभ सप्रदायी रासधारी कृष्ण के मुकुट का झुकाव दायी ओर रखते थे, परतु वृदावन के रसिक संप्रदायो से प्रभावित रासधारी श्री कृष्ण के मुकुट का झुकाव बायी ओर (श्री राधा के चरणो की ओर) रखने लगे। राधा भावना क्योकि मूलत: निम्बार्क सप्रदाय की देन है इसलिए यह बायी ओर मुकुट का झुकाव रखने वाली मडली निम्बार्कीय कहलाने लगी। कालातर मे मुकुट का यह अंतर ही इन दोनो वर्ग के रासधारियो मे भारी वितडावाद का कारण बना और यह झगडा न्यायालय तक जा पहुंचा जो रासमच के कलाकारो मे पारस्परिक वैमनस्य का कारण बन गया।

दाया और बाया मुकुट

प्रारभ मे जब करहला मे रास का उदय हुआ उस समय कृष्ण को मयूरपखो का मुकुट ही धारण कराया गया था। करहला मे परो के उस मुकुट के जो अवशेष सुरक्षित है वह स्वय इसके प्रमाण है कि यह मुकुट उस समय सभवत: दायी ओर ही झुका रहा होगा। क्योकि—

(१) करहला के रासधारी रास मे दायी ओर झुका मुकुट ही धारण कराते रहे है। उनके अनुसार रास का परपरागत मुकुट यही है।

(२) वल्लभाचार्य जी का रास मे एक अनुश्रुति द्वारा जो सबंध जुडा माना जाता है उससे भी रास के मुकुट का दायी ओर ही झुका होना प्रतीत होता है, क्योकि वल्लभ सप्रदाय के देश-प्रसिद्ध श्रीनाथ जी के मदिर मे तथा अन्य पुष्टि सप्रदायी मदिरो मे भी यही दायी लटक का मुकुट धारण होता है। अष्टछाप के मुकुट के वर्णनो से भी मुकुट का दायी ओर झुका होना ही ध्वनित होता है।

परंतु हित हरिवश जी के नेतृत्व मे वृदावन मे रास का जो विकास हुआ उसमे रसिको ने रास मे जो मुकुट धारण कराने की परपरा डाली वह मुकुट सभवत. वायी ओर झुका हुआ था। इन रसिको ने रासेश्वरी का पद राधा को दिया था अत' उनकी भावना के अनुसार रास मे रासेश्वरी राधा के अनुगत उनके रसिक प्रियतम के मुकुट की लटक भी अपनी प्राण प्रियतमा राधा के चरणो की ओर ही झुकी रहे—यही इन अनन्य रसिको को प्रिय था।

श्री नारायण भट्ट के यत्न से रास मच का जो समन्वित स्वरूप खडा हुआ उसमे दोनो ही मुकुटो को प्राप्त मान्यता थी। मडली अपनी-अपनी भावना के अनुसार प्रिया-प्रियतम का श्रृंगार करती रही। उस समय इन मंडलियो मे मुकुट के मामले मे कोई अंतर्विरोध होने का प्रमाण उपलब्ध नही होता। कालातर मे जैसे-जैसे वल्लभ संप्रदाय की ब्रज-यात्राओ का प्रसार-प्रचार वढा रासलीला प्रदर्शन भी इन यात्राओ का एक अनिवार्य अग वन गया। वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो के साथ प्राय करहला के रासधारी ही ब्रजयात्रा करते थे, क्योकि तव रास का नेतृत्व उन्ही के पास था और इस यात्रा से उन्हे अच्छी-खासी आय होती थी। करहला के रासधारियो ने यात्रा पर अपना यह अधिकार बनाये रखने के लिए वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियो से और अधिक घनिष्ठता स्थापित कर ली और उनमे से कुछ मडलियो ने वल्लभ संप्रदाय के मुख्य ठाकुर श्रीनाथ जी का मुकुट भी रास-मडली के लिए प्राप्त कर लिया। भगवान श्रीनाथ जी का यह प्रसादी मुकुट विशेष अवसरो पर रास मे कृष्ण के स्वरूप को धारण कराया जाता है और जव रास मे कृष्ण के स्वरूप श्रीनाथ जी का मुकुट धारण करते है तो इस मुकुट के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान व्यक्त करने के लिए पुष्टि सप्रदाय के गोस्वामी और तिलकायतश्री भी खड़े होकर ही रास देखते हैं।

श्रीनाथ जी का यह मुकुट रास-मडलियो के लिए सम्मानसूचक समझा गया और इस मुकुट से युक्त रास-मंडली को धनाढ्य वल्लभ सप्रदायी वैष्णवो से लाभ भी अधिक होने लगा। धीरे-धीरे वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियो मे यह विचार भी वल पकड़ गया कि वल्लभ सप्रदाय द्वारा आयोजित ब्रजयात्रा मे वही मडली रास करे जिसे श्रीनाथ जी का मुकुट प्राप्त हो। इस प्रकार से वायी लटक के मुकुट वाली रास-मंडली ब्रजयात्रा के अधिकार से वचित हो गई। ऐसे रासधारियो मे धीरे-धीरे दायें मुकुट वालो का विरोध उभरा। परिणाम यह हुआ कि वायें मुकुट के पक्षपाती रास-मडली के स्वामियो ने वरसाने मे राधा अष्टमी के अवसर पर होने वाली वूढी लीलाओ को अपनी शक्ति-परीक्षा का केंद्र वनाया। रास का नेतृत्व नारायण भट्ट जी ने स्वयं करहला के रास-

धारियो को ही प्रदान किया था जो उनके सहयोगी थे, अतः वरसाने मे वूढी लीलाओ के अवसर पर भी प्राय. करहला की रास-मडलिया ही रास करती थी, परतु करहला के रासधारियो के विरोध के लिए निम्वार्कीय राम-मडलियो ने यह प्रचार किया कि राधा-रानी की नगरी मे तो राधा के चरणो की ओर झुके मुकुट से ही रास हो सकता है, अतः या तो करहला वाले अपना मुकुट वदलें अन्यथा वरसाने का रास निम्वार्कीय मंडलिया ही करेंगी। वरसाना राधा-भक्ति का व्रज मे मुख्य केंद्र है अत यह माग इस क्षेत्र मे लोकप्रियता प्राप्त कर गई।

मुकुट का मुकदमा

जव यह मामला वढा और समझौते की कोई सभावना न रही तो मामला न्यायालय मे पहुंचा। दोनो ही पक्षो ने धर्मशास्त्रियो और साहित्य के प्राचीन उल्लेखो के आधार पर न्यायालय मे अपने मुकुटो की प्रामाणिकता सिद्ध करने की चेष्टा की, परंतु अग्रेजी शासन मे न्यायाधीशो को भारतीय धर्म और कला के इन आतरिक पर्त्तो के अतर्तम मे पैठकर ऐसे तथ्यो के निरूपण की क्या आवश्कता थी? अत. न्यायाधीश ने दोनो पक्षो को सुनकर यह निर्णय दिया कि रास का मुकुट न तो दायी ओर झुकाया जाय न बायी ओर, वह एकदम सीधा कर दिया जाय, परतु इस निर्णय से कोई भी पक्ष सतुष्ट न हो सका। फल यह हुआ कि व्रजयात्रा पर दायें मुकुट वालो का एकाधिकार हो गया और वे वल्लभ कुली कहे जाने लगे और वरसाने की वूढी लीलाए तव से वायें मुकुट वाली निम्वार्कीय मडलिया करने लगी। इस झगडे से राम-मडलियो को कोई लाभ न होकर व्यर्थ के मतभेद ही उभरे और इससे उस भावना को ठेस लगी जो नारायण भट्ट जी जैसे भक्त आचार्यो ने रास के समन्वय द्वारा निर्मित की थी। साथ ही इस झगडे ने वरसाने की वूढी लीलाओ मे रास के कलात्मक स्तर की भी भारी हानि की।

इसे समय की गति का ही प्रभाव कहा जायेगा कि आज वरसाना के उस क्षेत्र मे जहा नारायण भट्ट जी ने रास-मडलो की स्थापना करके वूढी लीलाओ का आरभ किया था और करहला-वासियो को राम के कर्णधार के रूप मे आगे वढाया था वहा से कालातर मे उनका आधिपत्य उठ गया। इधर धीरे-धीरे करहला और उनकी परपरा के रासधारी प्रमुख रूप से वृदावन मे आकर वस गये और रस-भक्ति का जनक वृदावन आज दाये मुकुट वालो का मुख्य केंद्र है। वायें मुकुट का प्रभाव अपनी ही भूमि वृदावन मे आज दायें मुकुट की अपेक्षा गौण है।

रासमच पर समाजी की प्रतिष्ठा

हिताचार्य की रास के मच को तीसरी देन थी, उसमे समाजी की प्रतिष्ठापना जैसा कि व्यास वाणी से प्रकट होता है, प्रारभ मे रास मे अपने आपको पूर्णत लीन करके उससे प्राप्त आनद की अनुभूति मे अपने आपको डुबा देने के अभिप्राय से राधा-कृष्ण के नृत्य के समय रास मे उनके समक्ष नृत्य के अनुरूप पद गायन का क्रम स्वामी हरिदास जी और हित हरिवश जी ने स्वय प्रारभ किया। व्यास जी भी इसमे सहयोग देते थे।[६] रास मे नृत्यो के अनुरूप पदो का गायन और वह भी हरिदास जी और हरिवश जी जैसे सिद्ध गायको के द्वारा होना इससे बडा गौरव और आकर्षण रास के लिए क्या हो सकता था ? जिन दर्शको ने अपने नेत्रो से वह दृश्य देखा होगा उनका सौभाग्य अतुलनीय माना जाना चाहिए। इन भक्तो द्वारा रास मे समाज गायन की जो परपाटी चली, उसने इसकी नाटकीयता को बडा बल दिया और वह बाद मे रास का एक अनिवार्य अग ही बन गई। समाजी का रासमच पर जो महत्वपूर्ण योगदान है उसकी चर्चा हम आगे करेगे।

रास के विकास का द्वितीय चरण

इस भाति करहला से उदित रास हरिवश जी के जीवन काल मे (सवत १६०६ वि० तक) अपने विकास का प्रथम चरण पूर्ण करके भक्ति क्षेत्र मे अपनी महत्वपूर्ण कलात्मक स्थिति को सुधार और सवार चुका था। ब्रज का यह रास जब अपने विकास का प्रथम चरण पूर्ण कर रहा था तभी सवत १६०२ वि० मे श्री नारायण भट्ट जी ब्रज पधारे थे। जैसा कि व्यास जी के उल्लेखो से स्पष्ट है जब हरिवश जी के अवसान के बाद वृदावन के रास मे शिथिलता आ गई[७] तब भट्ट जी ने रास को नवीन नेतृत्व प्रदान करके उसे रस-भक्ति के साथ-साथ ब्रज-भक्ति के मच के रूप मे समग्रता प्रदान की। भट्ट जी ने रास के सबध मे जो महत्वपूर्ण कार्य किये उनका उल्लेख किया जा चुका है।

६ हरिदासी हरिवशी गामे व्यास चिराग दिखावै—व्यास वाणी।

७ व्यास जहा प्रभु के भजन, होते रास-विलास।
ते कामिनी बस ह्वै रहे, ऊत पितर के दास ॥ साखी १० ॥
तथा—
व्यास रसिक सब चलि बसे, नीरस रहे कुबस।
बग ठग की सगति भई, परिहरि गये जु हस ॥
अथवा—
रास-विलास जहाँ होते, तहँ मलयागीरि लगायौ।
—व्यासवाणी, पद ५४७ ॥

भट्ट जी ने अपनी दूरदर्शिता से यह जान लिया था कि रास को केवल 'नित्य-रास' (नृत्य और गायन) तक ही सीमित रखना उसे एकागी बना देगा और कालातर मे विविधता के अभाव मे उसका आकर्षण जाता रहेगा। इसी-लिए उन्होने नित्य-रास के क्रम के साथ रास मे कृष्ण की ब्रजलीलाओ की अवतारणा करके उसे व्यापक नाटकीय आधार प्रदान किया। भगवान कृष्ण की द्वापर की लीलाओ का मचीकरण रास के नाटकीय विकास की सर्वप्रमुख उपलब्धि थी। नित्य-रास और अवतरित रास की लीलाओ के इस समन्वित रूप के उदय ने इस मंच को समग्र ब्रज-भक्ति के आकर्षण का केंद्र बना दिया।

भट्ट जी की महत्वपूर्ण देन

रास को सवारने, सजाने, उसे व्यापक बनाने तथा स्थान-स्थान पर रास मडल स्थापित करा कर रास को ब्रज के जनजीवन मे गहरा पैठा देने का स्तुत्य कार्य भट्ट जी के प्रयत्न का ही फल है जिससे रास ब्रज के रोम-रोम मे रम गया। वृंदावन और करहला के रास केंद्रो के समन्वय के साथ भट्ट जी ने नित्य-रास तथा अवतरित रास की भावना का भी समन्वय करके रास को सपूर्णता प्रदान की और उसके नृत्य, संगीत और अभिनय तीनो ही रूपो को उभार कर उसे उच्च कलात्मक स्तर प्रदान किया। इस प्रकार ब्रज का रासमच आज जिस रूप मे हमारे सामने है वह भट्ट जी की ही देन है। भट्ट जी के बाद ब्रज मे कोई ऐसा समर्थ आचार्य नही हुआ जिसने रास पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी छाप छोडी हो। नारायण भट्ट जी वर्तमान रासमच के निर्माता व आचार्य थे। उनके द्वारा रास का व्यापक प्रचार हुआ था जिसके फलस्वरूप स्थान-स्थान पर रास मंडलियो का गठन हुआ। इस व्यावसायिक रास परंपरा का उदय हो जाने पर भट्ट जी के बाद रास की बागडोर इस नवोदित रासधारी वर्ग के हाथ मे आ गई। वही इस परपरा को तब से आज तक अपनी शक्ति, सामर्थ्य और विवेक के अनुसार उठाते और गिराते हुए चलते चले आ रहे है।

रास के प्रयोजन

इस प्रकार घमडदेव जी से रास के उदय का जो क्रम आरंभ हुआ उसका विकास नारायण भट्ट जी के समय तक निरतर होता रहा। यह रास कृष्ण-भक्ति के सहज प्रचार और प्रसार का मुख्य साधन बना। रास की स्थापना के राधा-कृष्ण रासधारी ने पाच प्रयोजन बतलाये हैं। उनका कथन है कि घमडदेव जी ने रास का प्रारभ पाच प्रयोजनो से किया था जो इस प्रकार है

(१) विषय विदूषितचित्तानामनेकोद्योगवुद्धनामन्त करणानि भावा द्विवपयकानुकरणदर्शनेन शुद्धानि भवन्तीति प्रथम प्रयोजनम्।। १।।

(२) स्त्रीशूद्राणामप्यनावासेन पुरुषार्थचतुष्टयं भवत्विति द्वितीय प्रयोजनम् ॥ २ ॥

(३) अनेकसा धनैर्योगादिभिवद्दर्शनार्थ पतमानानामपि दुर्लभ सुख सुलभ भव्यत्विति तृतीय प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

(४) युगहेतुकविपरीतिकालेनजातानराजसताम सबुद्धीनासात्विक बुद्धि-जनन चतुर्थ प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

(५) स्वत. शुद्धैरपि ब्रजवासिभिरेव स्वभरणं त्रैलोक्य पवित्र चैतद्द्वारेण सम्मानीयमिति पचम प्रयोजनम् ॥ ५ ॥

—'राससर्वस्व', पृष्ठ ३०

इस प्रकार यह रास चित्त को शुद्ध करने वाला है, स्त्रियो और शूद्रो को अनायास पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्त कराने वाला है, विभिन्न योगादि कठिन साधनो से भी असाध्य भगवत् सान्निध्य को सहज में ही सुलभ कराने वाला है तथा तामसी व राजसी वृत्तियो को सात्विक बनाने वाला है। साथ ही साथ यह ब्रजवासियो (रासमंडली के कार्यकर्ताओ) की उदरपूर्ति का साधन है और त्रैलोक्य को पवित्र करने वाला है।

१०
रास की दार्शनिक पृष्ठभूमि, उसके पात्र और गायक

हम आरभ मे यह देख चुके है कि गोपाल कृष्ण ने अपने यौवन के आरभ मे आभीर युवतियो के साथ उन्मुक्त क्रीडा करने की भावना से रास का आयोजन किया था। आभीर-सस्कृति मे इस प्रकार का खेल उनकी सस्कृति के स्वभावानुरूप था, क्योकि वहा का वातावरण मर्यादा के उन कगारो मे बधा नही था, जिनमे आर्य जाति का जीवन-क्रम आवद्ध था। अतः वहा रास-नृत्य एक लौकिक उत्सव था जिसमे किसी प्रकार की आध्यात्मिकता या दार्शनिकता का अभाव था, परंतु कालातर मे जब आभीर और आर्य जातिया परस्पर एक हो गई और श्रीकृष्ण सपूर्ण भारतीय समाज के लीला पुरुषोत्तम ही नही परब्रह्म परमात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित हो गए तब भारतीय विचारको और दार्शनिको को आभीर-सस्कृति के उस रूप की नवीन व्याख्या की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिसका नारी-स्वातत्र्य समाज मे विशृखलता उत्पन्न करने का माध्यम वन सकता था। ऐसी दशा मे रास को मानवेतर अलौकिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करना उन्हे वहुत आवश्यक प्रतीत हुआ जिससे वह जन-जन की श्रद्धा व आस्था का केंद्र वने। इसलिए देश के भक्त-दार्शनिको ने रासलीला को परमेश्वर की अलौकिक क्रीड़ा की भावना से संयुक्त करके उसे दर्शन की नवीन भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया, जिसमे रास के दर्शक इस रासक्रीडा के पूरे आनद का आस्वादन करके उसके रस से अभिभूत तो हो, परतु स्वय कृष्ण वनकर कभी इस प्रकार की क्रीडा मे प्रवृत्त होकर समाज के नैतिक स्तर मे कोई व्यवधान डालने की भावना भी हृदय मे न लावें। वे रास की भावना को पूर्ण लीला पुरुषोत्तम अलौकिक आदि पुरुष की लीला के रूप मे श्रद्धा और भक्ति से ही ग्रहण करें इसलिए रास की विशद दार्शनिक व्याख्या हमारे विचारको ने की है। यह व्याख्या वडी प्रभावकारी तो है ही साथ ही इसने रासमच

को पावनता की एक उच्चस्तरीय पृष्ठभूमि पर भी प्रतिष्ठित किया है। कुछ भक्त आचार्यों ने रास को कामजयी लीला के रूप मे अपनी उपासना का अंग ही बना लिया है।

जैसा पहले कहा गया है मंच पर रास का प्रदर्शन दो भागो मे होता है · (१) नित्य-रास, (२) लीलानुकरण। इन दोनो के मचीय रूपो की दार्शनिक और आध्यात्मिक व्याख्या हमारे विचारको और आचार्यो ने की है, जिसके अनुमार रास का उद्देश्य मनोरजन या इद्रियो की तुष्टि नही वरन् आत्मानद की अनुभूति है। रास के मंच को 'रास' ही क्यो कहा गया इसका भी आचार्यो ने विभिन्न प्रकार से विवेचन किया है, जो हमारी दृष्टि से रास के नाट्य समीक्षको की ऊहापोह से अधिक सही है। यहा हम रास के इसी दार्शनिक रूप की सक्षिप्त चर्चा करना चाहते है, क्योकि रास ही एकमात्र ऐसा मंच है जिसे हमारे दार्शनिको और विचारको ने अपने चिंतन मे स्थान देकर उसे असाधारण महत्त्व दिया है।

रास का नामकरण

रास की दार्शनिक व्यवस्थाओ की चर्चा करने से पहले हमे यह जान लेना चाहिए कि इस मंच को रास क्यो कहा जाता है। डा० कंकड के मतानुसार रास का अर्थ है बीच-बीच मे जोर-जोर से चिल्ला उठने की ध्वनि। उक्त ककड महोदय के अनुसार इसी आधार पर इन नृत्यो को रास कहा गया है। उनका कहना है कि चिल्लाने की यह ध्वनि सभी आदिवासियो के नृत्यो मे पाई जाती है।

हमारा विचार है कि उक्त डाक्टर महोदय को कदाचित कभी रास देखने का सुयोग नही मिला, इसीलिए वे ऐसी कल्पना कर सके। रास के नृत्य अधिकतर मडलाकार होते हुए भी आदिवासियो के नृत्यो से भिन्न है। रास मे बीच मे चिल्लाने की भी कोई परपरा नही है। भावातिरेक मे दर्शक या सखिया कभी-कभी 'धन्य है' या 'बलिहारी महाराज' अवश्य कह देती है परतु ऐसा भी चिल्लाकर नही, बडे गद्गद स्वर मे भक्तिपूर्ण भाव से कहा जाता है।

इस सबध मे एक मत डा० दशरथ ओझा का है। वे अपने हिंदी नाटक उद्भव व विकास' मे पृष्ठ ७५-७६ पर लिखते है—'रास शब्द सस्कृत भाषा का नही है, प्रत्युत देशी भाषा का है जो सस्कृत बन गया और देशी नाट्यकलाओ को, जो रास नाम से प्रसिद्ध था, रास के नाम से ही सस्कृत ग्रथो मे उद्धृत कर दिया है। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी मिलता है कि 'रासो' और 'रासक' नाम से राजस्थानी मे भी इसका प्रयोग मिलता है और यह रास जिसका विशेष सबध गोपियो से है, ग्वालो मे प्रचलित कोई

देशीय नाटक हो सकता है जो मस्कृत नाटक से अपहृत नही माना जा सकता।'

कहने की आवश्यकता नही कि ओझा जी का यह मत भी नितात भ्रामक है। रास केवल राजस्थान मे ही नही, भारत के अनेक जनपदो मे अपनी सत्ता और परपरा वनाए हुए है। फिर राजस्थान मे प्रचलित 'रासक' शब्द नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ईसा की प्रथम शताब्दी मे ही अपने ग्रंथ मे रास के लिए प्रयुक्त कर चुके हैं। कदाचित नाट्यशास्त्र पर ग्रथ रचना करते समय ओझा जी ने भरत के उपरूपको के भेदो पर दृष्टिपात नही किया।

हमारे भक्त आचार्यो ने रास शब्द की व्याख्या मे कहा है 'रासाना समूहो रास' ब्रज के रासधारियो को भी रास की यही व्याख्या मान्य है। ऐसी दशा मे जिस नाट्य विधा का मूल उद्देश्य रस की परिपूर्ण अवतारणा करना हो वही मच रास है। रास की यही व्यास्या हमे समीचीन प्रतीत होती है। 'तल्लक्षणम्' मे कहा गया है, 'रास क्रीडा रस रुपा क्रीडा'

रास की आध्यात्मिक व आधिभौतिक स्थिति

इस प्रकार रास का मूल उद्देश्य है रस की परिपूर्णता से रास के दर्शको को अभिभूत करना, परतु रास को काव्यशास्त्र के नव रसो के पूर्ण परिपाक का माध्यम मान लेने मात्र से ही हमारे भक्त आचार्यो को सतोष नही हुआ। उन्होने रास के इस रस मे भी अलौकिकता के दर्शन किए हैं। उन्होने रास के इस व्यापार को वडे व्यापक भावात्मक रूपक के रूप मे निरूपित किया है। इस सवध मे डा० विजयेंद्र स्नातक का कहना है कि "माधुर्य भक्तिनिष्ठ वैष्णव सप्रदायो मे श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओ का वर्णन भगवान के सौंदर्य शक्ति और शील को व्यक्त करने के लिए स्वीकार किया गया है। इन लीलाओ का आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनो प्रकार से अर्थ करके भक्तजन भगवान के स्वरूप को हृदयगम करते है। इनमे रासलीलाओ का स्थान आध्यात्मिक महत्त्व की दृष्टि से मूर्धन्य समझा जाता है। रासलीला भावना के साथ-साथ लौकिक धरातल पर अनुकरणात्मक होकर दृश्य-लीला का रूप धारण करती है, अत उसके प्रभाव की परिधि अन्य लीलाओ की अपेक्षा व्यापक हो जाती है।"

रासलीला क्या है ?

पुराणो और भक्ति-साहित्य मे रासलीला की इस व्यापक परिधि की अनेक प्रकार वडे विस्तार से चर्चा हुई है। यहा हम उस प्रसंग का विस्तार नही करना चाहते परंतु इस भावभूमि का परिचय प्रत्येक रास-प्रेमी के लिए आवश्यक है, क्योकि विना इस भावभूमि को समझे रास के मंच के मूल उद्देश्य

और लीलाओ की भावना को सही रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता।

साधारण दर्शक शृंगार-रस की किसी लीला या नृत्य को देखकर उसे कामकेलि या प्रेम-लीला समझ सकता है, परतु यदि वह इन लीलाओ के आध्यात्मिक धरातल से परिचित है तो वह कभी ऐसी भूल नही कर सकेगा। इस संबध मे डा० स्नातक का कथन है कि "रास लीला के मर्म को समझने के लिए उसके तात्त्विक आशय की अवहेलना नही की जा सकती। वैष्णव भक्तो ने इस लीला को ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग की सारणि माना है। शृंगार या कामचेष्टा का आधार उसमे गृहीत ही नही हुआ। यहा रासलीला मे उपास्य काम विजित है। इसलिए इसके द्वारा विजय रूप फल-प्राप्ति मानी जाती है।" इस सबध में भागवतकार का कथन है ·

विक्रीडित व्रजवधूमिरिद च विष्णो',
श्रद्धान्वितो नुपुत्यादय वर्णयिच्च।
भक्ति परा भगवर्ति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्च पहिनोत्यचिरेण धीर ॥

इस श्लोक के अनुसार भगवान कृष्ण की व्रजलीलाओ के साथ की गई क्रीडाओ के श्रवण या कीर्तन मात्र से पराभक्ति की प्राप्ति होती है और व्यक्ति मानसिक काम-रोग से मुक्त हो जाता है। राधावल्लभीय सप्रदाय ने इसीलिए रास को 'कामजयी लीला' माना है। वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी टीका मे रास प्रकरण मे रासलीला को 'मुक्त जीवो का ब्रह्मानंद से उद्धार करके, उन्हे भजनानद देने वाली कहा है। ये लीलाए 'रसो वै स' है। रस की समूह होने के कारण ही यह रास कही जाती है। परतु इम रस की विशेपता यह हे कि 'रास क्रीडाया मनसो रमद्गम नतु देहस्य'—इन लीलाओ मे मन मे रसोद्रेक होता है देह से (इद्रियो मे) नही।

डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार वल्लभ सप्रदाय मे रास के तीन रूप माने जाते है।

(१) नित्य-रास—यह रास भगवान कृष्ण के नित्यधाम गोलोक मे और निजधाम व्रज के वृदावन मे प्रतिदिन होता है इसलिए इसे नित्य-रास कहा जाता है। इस रास मे भगवान श्रीकृष्ण अपनी आनद प्रसारिणी शक्तियो के साथ नित्य रस-मग्न रहते है। उनकी यह क्रीडा अनादि और अनत है।

(२) अवतरित रास या नैमित्तिक रास—यह रास भगवान के व्रज मे अवतार लेने पर यहा विशेप निमित्त से किया गया। रास के साथ की जाने वाली लीलाओ से इस रास का अधिक सबध है।

(३) अनुकरणात्मक रास—इस रास के दो भेद किए गए हैं: (अ) भावनात्मक या मानसिक, (ब) देहात्मक। भावनात्मक रास में भक्त मन में ही रास की कल्पना करता है और रास के वर्णनों के पठन और चिंतन में आत्म-विभोर होकर उसमें सुधि-बुधि भूल जाता है। देहात्मक रास में अभिप्राय रास के सचीय रूप से है जिसमें दर्शक प्रत्यक्ष रास को अपने नेत्रों के समक्ष देखकर उसमें रसमग्न हो जाता है। वल्लभ संप्रदाय का अधिक झुकाव आरंभ से भावात्मक रास पर रहा जबकि राधावल्लभीय संप्रदाय में अनुकरणात्मक रास का वर्णन और महत्त्व सर्वाधिक है। इस संबंध में श्री किशोरीशरण 'अलि' का कथन है:

"महाप्रभु श्री हित हरिवंश जी श्री राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। राधा-कृष्ण की मधुर उपासना के सर्जित क्षेत्र में उन्होंने 'वृंदावन-रस' की स्थापना करके एक अभिनव उपासना को जन्म दिया था।

श्रीमद् हिताचार्य और उनके अनुयायियों ने इस रास-साहित्य की विपुल मात्रा में सृष्टि की है जिसमें 'नित्य-रास' श्री राधा प्राधान्य, और सखी भाव के सुंदर चित्र मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि महाप्रभु गो० हित हरिवंश नित्य-रास की उपासना के उद्भावक थे।

रास के प्रतीकार्थ

ब्रजभक्ति के व्याख्याकारों में रास के संबंध में जितना मौलिक चिंतन किया है उतना कृष्णलीला के किसी अन्य अंग पर नहीं हुआ। भक्ति-क्षेत्र के सभी दार्शनिकों और विचारकों ने रास को अलौकिक मानकर उसे प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा और परमात्मा की क्रीड़ा माना है। अनेक विद्वानों ने रास के प्रतीकार्थ प्रस्तुत किए हैं। उनमें से कुछ प्रमुख मत इस प्रकार हैं—

(१) कुछ विद्वान 'गो' शब्द का अर्थ इंद्रिय मानकर गोप या गोपी का अर्थ 'इंद्रियों की रक्षा करने वाला' कथन करते हैं। वे कृष्ण को प्रतीक मानते हैं जो वंशी द्वारा गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। वंशी से कृष्ण की ओर आकृष्ट गोपी फिर नृत्य में मग्न होकर उसकी तरंगों से तरंगित कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करती हैं। यह रास जैसे-जैसे उत्कृष्ट होता है वैसे-वैसे ही आत्म-ज्योति (कृष्ण) प्रसर होती है और इंद्रियां (गोपियां) अपना अहंकार (आग्रह) छोड़कर आत्मा (कृष्ण) से तादात्म्य स्थापित करके एकरूप हो जाती हैं, यही महारास है। इस प्रकार रास का चरमोत्कर्ष है आत्मा का पूर्णानंद में लीन हो जाना।[1]

१ भारतीय साधना और सूर-साहित्य डा० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ २०८

(२) योगियो ने इसी प्रकार रास की व्याख्या अपने प्रतीको से की है। इस अर्थ मे भगवान कृष्ण की वशी-ध्वनि ही अनाहद नाद है, अनेको नाड़िया ही गोपिका और कुडलिनी श्रीराधा है। मस्तिष्क मे स्थित अष्टदल कमल ही इस मान्यता के अनुसार वह वृदावन धाम है जहा आत्मा का परमात्मा से सुखमय सम्मिलन होता है। इस सम्मिलन मे जीवात्मा की समस्त शक्तिया ईश्वरीय सपर्क से अभिभूत सुरम्य रास मे नृत्य रत है।

(३) इसी प्रकार ज्ञानमार्गियो ने रास मे 'तत्त्वमसि' के तत्त्व प्रतीकार्थ से पाये हैं—इस मत से भगवान कृष्ण 'तत्' पदार्थ है और गोपिया 'त्व' पदार्थ हैं। इन दोनो तत्त्वो का ही मश्लेषण रास है। यह जीव और ब्रह्म का अद्भुत सयोग है।[2]

(४) वेदो मे सूर्य को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। वेदातर पौराणिक युग मे सूर्य का प्रतिरूप विष्णु को प्राप्त हुआ और विष्णु के अवतार रूप मे भक्ति-साहित्य मे विष्णु जैसी ही मान्यता भगवान कृष्ण को प्राप्त हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक युग मे जो नाम या विशेषण सूर्य के लिए प्रयुक्त हुए वे ही भक्तियुग मे कृष्ण के पर्यायवाची हो गए। रास के प्रसग मे इसीलिए एक रूपक मे भगवान कृष्ण को सूर्य और गोपियो को उनकी किरण माना गया है। सूर्य की किरणें सूर्य का ही अग है और वे सूर्य मे से ही बाहर निकलती हैं। जिस प्रकार सूर्य किरणो के सहित विश्व के चारो ओर फिरते हैं उसी भाति चराचर को सुख देने के लिए रास है जिसमे कृष्ण (सूर्य) अपनी किरणो (गोपियो) को अनेक रूपो मे बखेर कर प्राणियो का कल्याण करते हैं।[3]

(५) ठीक इसी भाव का एक दूसरा रूपक भी है जिसमे भगवान कृष्ण को वेदस्वरूप (साक्षात ब्रह्म) और गोपियो को वेद की ऋचा कहा गया है।[4] यह रास गीता के 'एकोह बहुस्याम' का ही विस्तार है। साथ ही जैसे शब्द का अर्थ से नित्य सबध है वैसे ही ऋचा और वेद (भगवान) का भी नित्य सबध है। यही नित्य-रास है, जिसमे वेद ब्रह्म स्वय अपनी ऋचा गोपियो के साथ जगत के कल्याणार्थ रमण करके अपनी लीलाओ से रसिको को रसानद प्रदान करता है।

कामजयी लीला

इस भाति रास और रासलीलाओ की प्रतीकात्मक ढग से विद्वानो ने अनेक रूपो मे व्याख्या की है। ब्रज मे कृष्णभक्ति को लेकर जो संप्रदाय चले वे सभी

२. श्री करपात्री जी श्री भगवत्तत्त्व, पृष्ठ २१८

३. देखिए पोद्दार अभिनदन ग्रथ मे गोवर्धनलाल हरगोविंद भट्ट का लेख, पृष्ठ ३९६-९७

४. गोपी वेद की ऋचा—सूरदास

निम्वार्काचार्य का निम्वार्क सप्रदाय, महाप्रभु चैतन्य का माध्व गौडेश्वर मप्रदाय, वल्लभ का पुष्टि सप्रदाय, स्वामी हरिदास जी का सखी मप्रदाय और हित हरिवश जी का राधावल्लभीय सप्रदाय, रास के प्रति पूर्णत आस्थावान है, यह दूसरी वात है कि कुछ सप्रदायो मे रास के भावनात्मक रूप पर अधिक वल दिया है तो किसी मे अनुकरणात्मक पर। सखी मप्रदाय और राधावल्लभीय संप्रदाय रास के मचीय रूप पर आरभ से ही वडी श्रद्धा रखते रहे है, वह उनकी उपासना का एक प्रमुख अग है। उसके प्रचार और प्रसार मे इन सप्रदायो का योग भी आरभ मे अन्य सप्रदायो की अपेक्षा अधिक रहा। उसका कारण यही था कि इन दोनो सप्रदायो मे राधा की विशेप स्थिति ने उनकी उपासना मे रास को प्रमुखता प्रदान कर दी। सभवत: राधावल्लभीय सप्रदाय को राम को कामजयी लीला स्वीकार करने की प्रेरणा भागवत तथा गर्ग-सहिता से प्राप्त हुई है। गर्ग-सहिता मे महारास के प्रसग मे रास मे भगवान कृष्ण द्वारा काम की पराजय का रोचक वर्णन हुआ हे जिसका साराश निम्न प्रकार है ·

कामदेव, ब्रह्मा और शिव मे अपना युद्ध समाप्त करके विष्णु से युद्ध करने की इच्छा प्रकट करता है। वह विष्णु से खुले मैदान मे युद्ध करने को रणदान मागता है क्योकि समाधि रूपी दुर्ग मे कामदेव पूरी तरह खुलकर अपनी सेना का सदुपयोग नही कर पाता। विष्णु भगवान काम का यह रण-निमत्रण स्वीकार करके उसे द्वापर मे कृष्णावतार के समय युद्ध करने की स्वीकृति दे देते है।

कृष्णावतार मे कृष्ण के कमनीय कलेवर पर वचपन से ही गोपियो को मोहित देखकर काम प्रसन्न हो उठता है और शरदपूर्णिमा की रात को अपने अनुकूल मानकर वह कृष्ण से युद्ध को प्रस्तुत होता है। प्रकृति भी उसके सैन्य दल को पूर्ण सहयोग देती है, यहा तक कि काम के आदेश से प्रकृति ने विश्व ब्रह्माड के सुधाकर का सार लेकर एक दूसरा चंद्रमा ही निर्मित कर डाला और उस चद्र को स्वय लक्ष्मी ने अपने मुखमडल की श्री प्रदान कर दी। इस प्रकार पूरी तैयारी से अपनी सेना के साथ आकर कामदेव ने घेरा डाल दिया और काम के प्रभाव से उद्दीपक उस श्वेत शुभ्र चादनी से ब्रजभूमि के वालुका-प्रदेश मे अमृत का सागर लहलहा उठा। मल्लिका की भीनी गध से व्रज-प्रदेश का कोना-कोना महक उठा।

ऐसे मादक वातावरण को देखकर योगिराज भगवान कृष्ण को काम से की हुई अपनी पूर्व प्रतिज्ञा याद आई और उसे पूर्ण करने के लिए उन्होने अपनी प्यारी मुरलिका को अधरो पर धारण किया। भगवान के मुरली घोष मे आह्वान के विश्वविमोहक मंत्र फूट पड़े जिन्हे सुनकर गोपिया अपने आवेग को नही रोक सकी और समस्त परिवार और गुरुजनो की अवज्ञा और अवहेलना करके,

मर्यादा के समस्त कगारो को तोडकर यमुना पुलिन पर जा पहुची। इस प्रकार कृष्ण को अपने व्यूह मे फंसा देखकर काम कोने मे खडा मुस्कराने लगा। उसका उल्लास प्रतिक्षण बढ रहा था। उसे अपने विश्वजयी होने की साध पूर्ण होती दीखने लगी।

भगवान ने मन्मथ के इस अह को समझा। उन्होंने काम को अपने मनोराज के किसी भी स्थान पर आसीन होने की छूट दे दी और फिर पहले उन गोपियों की ओर दृष्टि फेरी जिनको अपने घर से निकलने का साहस नही हुआ था या जो प्रयत्न करने पर भी किमी प्रकार लौकिक बाधाओ से मुक्त होकर यमुना तट पर नही पहुच सकी थी। वे गोपिया नेत्र मूदकर कृष्ण के रूपमाधुर्य का ध्यान करने लगी और ध्यान मे ही भगवान उनके समक्ष प्रकट हो गये। उन्होने बडे आवेग से उनका आलिंगन किया जिससे उन्हे अनुपम सुख और शाति मिली तथा उनके पूर्व सस्कार भस्मसात हो गए। इन गोपियो ने पाप और पुण्य कर्मो से वने शरीरो का परित्याग कर दिया और भगवान की लीला मे अप्राकृत देह से भाग लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली।

इधर वन मे आई हुई गोपियो के प्रेम को भगवान ने परखा और रीझकर कृष्ण ने शृंगार-सूचक भाव-भगिमाओ से उन्हे रमण करने का सकेत दिया। यह देखकर काम अपनी विजय-आशा से पुलकित हो उठा और गोपिकाओ पर कामोद्दीपक शस्त्रो का खुलकर प्रयोग करने लगा जिससे वे पूर्णत. विमोहित हो उठी। उधर भगवान ने यह देखकर काम के शस्त्रो से ही काम को पराजित करने का निश्चय किया। वे अपनी भाव-भंगिमाओ और चेष्टाओ द्वारा गोपियो के अनुकूल आचरण करने लगे। काम का उत्साह यह देखकर और भी बढ गया। उसने पवन से सहायता लेकर समस्त वातावरण को दिव्य गध और वालुका को भी मनोरम वना डाला और फिर काम अपनी सपूर्ण शक्ति के साथ मन का मंथन करने के उद्देश्य से भगवान के हृदय का कोना-कोना झाकने लगा परतु भगवान के समस्त मन-प्रदेश मे काम को अपने टिकने के लिए कही अणु भर भी रिक्त स्थान नही मिल सका। यह प्रदेश योगमाया से पूर्णत. आप्त था। यह देखकर निराश काम ने गोपियो के हृदय-प्रदेश को मथने का विचार किया, परतु वहा उसकी और भी बुरी दशा हुई। गोपियो के हृदय-प्रदेश मे उज्ज्वल रस की निर्मल धारा के वेग भरे प्रवाह मे तो उसे अपने सभी सेनापति बहते दिखलाई देने लगे। वे सव स्वत. त्राहि-त्राहि कर रहे थे, मन्मथ की सहायता करने की सामर्थ्य उनमे नही थी। मनसिज ने वड़ी निराशा से देखा कि उसकी राजधानी मन-प्रदेश पर कृष्ण का ही पूर्णाधिकार था।

तभी योगिराज कृष्ण ने अनेक रूप धारण करके प्रत्येक गोपी के साथ क्रीडा आरभ की और काम यह देखकर विस्मित रह गया कि उस क्रीड़ा मे

काम कलाएं परिचारक के रूप मे विपक्ष की ही सेवा करने लगी। तब काम को अपनी असहाय स्थिति का भान हुआ और अत मे वह उभयपक्षी अपने अर्द्ध-मित्र विरह की शरण मे गया। तब विरह ने काम की सहायता करने की चेष्टा भी की परतु रास से भगवान के अन्तर्धान हो जाने के उपरात गोपियो ने जो तन्मयता की स्थिति प्राप्त की उसमे वे स्वय ही कृष्ण रूप हो गई और काम की यह चाल यहा भी सफल नही हो सकी। रास मे वह ससैन्य बुरी तरह कृष्ण से पराजित हुआ। तभी तो श्रीमद्भागवत की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी ने कहा है

ब्रह्मादिजयसरूढदर्पकन्दर्पतपेहा।
जयाति श्रीपतिर्गोपी रासमण्डल मण्डन ।

इस प्रकार रासलीला को हमारे दार्शनिको ने कामजयी लीला के रूप मे वडी तर्कपूर्ण विवेचना के साथ प्रतिष्ठित कर दिया है। इसीलिए हरिदास जी के रसिक संप्रदाय मे तो भक्त अपना पुरुषत्व भूलकर स्वय सखी ही हो जाता है। इन भक्तो की प्रेमलक्षणा भक्ति की पुष्टि का रास सवसे सवल माध्यम है क्योकि रास का प्रयोजन ही इन भक्तो के अनुसार कृष्ण द्वारा राधा को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहना है।

जैसे-जैसे ब्रज मे रास का प्रचार वढा ब्रज के सभी भक्ति-संप्रदाय रास के रस से अभिभूत हो गए। आज ब्रज के सभी कृष्णभक्त सप्रदाय रास के मचीय रूप मे पूरी तरह आस्थावान हैं। सभवत इसका कारण यही है कि विना रास के भौतिक स्वरूप से नैकट्य स्थापित किए भावनात्मक रास का केवल कल्पना के आधार पर ही पूर्ण आस्वादन नही किया जा सकता, यह मर्म यहा वहुत पहले समझ लिया गया था। इस संवंध मे स्कंदपुराण मे शाडिल्य ऋषि का राजा परीक्षित और राजा ब्रजनाभ से हुआ सवाद उल्लेखनीय है।

इस सवाद मे शांडिल्य ऋषि ने उक्त नरेशो को ब्रज की व्यापकता समझाते हुए उसे ब्रह्मरूप वतलाया है। इस ब्रज मे भगवान कृष्ण देहधारी आत्माराम कहे गये हैं। इन श्रीकृष्ण परमात्मा की आत्मा है श्रीराधा। श्रीराधा को प्रसन्न करने के लिए रस और तम गुणो की सृष्टि करके कृष्ण रास-लीला रचाते हैं। यह लीला दो प्रकार की वतलाई गई है . (१) वास्तवी, (२) व्यावहारिकी।

वास्तवी लीला सव जीवो के हृदय मे होती है, परन्तु व्यावहारिकी लीला देखे विना वास्तवी लीला को भी समझा नही जा सकता। साथ ही वास्तवी लीला को समझे विना व्यावहारिकी लीला के रस का भी पवित्र भाव से आस्वादन

नही किया जा सकता । इन दोनो लीलाओ का पारस्परिक गहरा सबध है ।[५]

ब्रज के वैष्णव सप्रदायो का दृष्टिकोण

ब्रज के वैष्णव आचार्यो ने अपने रास संबधी चितन मे इसीलिए उक्त वास्तवी और व्यावहारिकी दोनो ही लीलाओ को मान्यता दी है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वास्तवी व व्यावहारिकी दोनो ही लीलाओ की भावना एक दूसरे की पूरक है । अत. ब्रजभाषा काव्य के सभी भक्त कवियो की वाणी मे रास के उक्त दोनो ही रूप किसी न किसी रूप मे उपलब्ध हैं, परतु अपने सप्रदाय के दृष्टिकोण के अनुसार कुछ कवियो ने वास्तवी रास को प्रमुखता दी है तथा कुछ कवियो ने मुख्य रूप से व्यावहारिकी रास का ही वर्णन किया है, परतु ब्रज के किसी भी भक्त कवि ने रास को प्राकृत लीला नही माना है। जैसा भगवत रसिक जी ने कहा है—रास की भावना प्राप्त करने के लिए किसी भी रसिक को पहले भावना की पाच सीढिया पार करनी होती है तब कही जाकर वह रास की छठी सीढी पर चढने का अधिकारी होता है। जब भक्त पाचवी सीढी पर जाता है तो उसे अपने देह की सुधि भूल जाती है और तभी वह रास की छठी सीढी (अवस्था) तक पहुच पाता है ।

भक्तो की इस भावना को प्राप्त करके रास-दर्शन करने वाले के लिए (जिसे देह की सुधि ही न हो) रासलीला मे कामवासना रह नही सकती । रास मे उन्मुक्त शृगार विहार की लौकिकता का कोई महत्त्व नही है। वह आदि से अत तक आध्यात्मिकता की पावनता के वातावरण से ओतप्रोत है, ब्रज के भक्ति-सप्रदायो की यह मान्यता है कि 'ब्रज के गोप समाज को अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराने के उद्देश्य से कृष्ण ने यह रास रचा था ।'[६]

ब्रज के राधावल्लभीय सप्रदाय के अनुसार भगवान कृष्ण ने प्रेमतत्त्व (हित) के विकास के लिए रासलीला की थी। डा० विजयेन्द्र स्नातक लिखते है

"इस लीला मे एक ही 'श्रीतत्त्व' श्रीकृष्ण और गोपी रूप मे आविर्भूत हुआ है। यह शुद्ध, अनवरत, निरतिशय आनदपूर्ण प्रेमलीला थी इसीलिए प्रेम के लौकिक रूप को सम्मुख रखकर शृगारमयी लीला भावनाओ का प्रस्फुटन इस लीला (रासलीला) का आवश्यक तत्त्व बना। केवल यही ध्यान रखना चाहिए कि निर्विशेष प्रेम-रस का आलबन जब लौकिक नायक-नायिका न होकर

५ कल्याण रासलीला, वर्ष ६, अगस्त १९३१, पृष्ठ १७७

६ 'रासलीला एक परिचय', पृष्ठ ६१ पर डा० विजयेन्द्र स्नातक का लेख "रास का स्वरूप और महत्त्व"।

स्वय भगवान होते हैं तब वह परम पवित्र माना जाता है। लौकिक दृष्टि मे वर्णित होने के कारण उसमे नायक-नायिका का आरोप कर लिया जाता है और उसके बाद वह स्वकीया-परकीयात्व का भी आधार स्वय हो जाता है। वस्तुतः ये गोपिया जिनका रासलीला मे वर्णन है, स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष ही थी, किंतु सासारिक दृष्टि मे उन्हे स्वकीया-परकीया भेद द्वारा वर्णित किया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण को ही परमाराध्य एव पति मानने के कारण यथार्थ मे सभी नायिकाए (गोपिया) स्वकीया ही थी, किंतु यदि उनमे से कुछ को अन्य पुरुषो के साथ विवाहिता माना जाय तो परकीयात्व भी माना जा सकता है।"[7]

परतु ये गोपिया चाहे स्वकीया रही हो या परकीया, वे सभी काम वासना से विमुक्त थी। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है 'जहा काम तह राम नहिं, जहा राम नहिं काम' के अनुसार बिना काम भावना के विगलित हुए यह सभव न था कि ये गोपिया कृष्ण जैसे अलौकिक नायक का सान्निध्य प्राप्त कर पाती। वैष्णव भक्तो ने इसीलिए काम और प्रेम को एक-दूसरे से स्पष्ट रूप से पृथक करके देखा है।

प्रेम और काम

हमारे यहा भगवान को 'सच्चिदानद' कहा गया है। वास्तव मे सत् और चित् मे कोई अंतर नही, क्योकि बिना सत्ता के उसका भान नही हो सकता और जिसका भान होता है उसकी सत्ता होना अवश्यंभावी है। सच्चिद के समान आनद भी प्रपच का कारण है। आनंद दो प्रकार का माना जा सकता है। जिस आनद की सृष्टि किसी उत्तम आलंबन के द्वारा उद्भूत हो वह प्रेम है और जो निकृष्ट पदार्थों के आलबन से होता है वह काम या मोह कहा जाता है। मधुसूदन स्वामी का कथन है :

भगवान परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामति पुष्कलाम् ॥

इस प्रकार भगवान स्वय रस स्वरूप है। जिसका चित्त उस रसरूप मे तन्मय हो जाता है वह स्वय रसमय बन जाता है। 'रासलीला रहस्य' मे करपात्री जी ने प्रेम और काम का शास्त्रीय विवेचन करते हुए कहा है-

"प्रेमी के द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदाविच्छिन्न चैतन्य है वही

७. 'रासलीला एक परिचय', पृष्ठ ६८

प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुचने पर लावा पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अत.-करण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलबन सात्त्विक हैं, इसलिए जिस समय तदविच्छिन्न चैतन्य की द्रुतचित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकाविच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है तथा काम दुख और अपुण्य स्वरूप है।"

गोपियो का प्रेम

ब्रज के भक्ति-साहित्य मे ब्रज-गोपियो को भगवान कृष्ण की अनन्य प्रेमिका माना गया है। सूरदास जी का कथन है कि 'गोपी प्रेम की ध्वजा' है। अत प्रेम की ध्वजा गोपिया काम-वासना से विमुक्त है। यह ठीक है कि आरभ मे गोपिया कृष्ण के रूप लावण्य पर मुग्ध होकर काम के वशवर्ती होकर कृष्ण के निकट आई थी, परतु भगवान कृष्ण के सान्निध्य की महिमा ने उनके काम को शुद्ध प्रेम मे परिवर्तित कर दिया। नन्ददास ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है

गरवादिक जे रहे, काम के अग आहि वे।
सुद्ध प्रेम के अग नाहिं, जानहिं प्राकृत जे॥

गोपियो के प्रेम को ब्रज के भक्त-कवियो ने स्वकीया प्रेम माना है परतु जयदेव से प्रभावित चैतन्य सप्रदाय मे उनको परकीया प्रेम की आदर्श के रूप मे ग्रहण किया गया है। स्वकीया और परकीया भावो का गोपियो के प्रेम मे समन्वय करते हुए करपात्री जी का कहना है · "स्वकीया नायिका को नायक का सहवास सुलभ होता है, किंतु परकीया मे स्नेह की अधिकता रहती है। कई प्रकार की लौकिक वैदिक अडचनो के कारण वह स्वतत्रतापूर्वक अपने प्रियतम से नही मिल सकती, इसलिए उस व्यवधान के समय उसके हृदय मे जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेम की निरतर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिए कुछ महानुभावो ने स्वकीया नायिकाओ मे भी परकीया भाव माना है, अर्थात् स्वकीया होने पर भी उसका प्रेम परकीयाओ का-सा था। वस्तुत तो सभी ब्रजागनाए स्वकीया ही थी, क्योकि उनके परम पति भगवान श्रीकृष्ण ही थे, परतु उनमे से कई अन्य पुरुषो के साथ विवाहिता थी और कई अविवाहिता।[८]

८. करपात्री जी : 'रास लीला रहस्य', पृष्ठ २८२

श्रीमद्भागवत मे गोपियो के प्रेम को 'जार' प्रेम कहा गया है और उसे उचित माना गया है। इस 'जार बुद्धयापि सहिता' का विश्लेषण करते हुए करपात्री जी का कथन है कि "उस जार बुद्धि ने यह (प्रेम) गुण हो गया है कि जिस प्रकार जार के प्रति परकीया नायिका का स्वकीया की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही इन्हे भी भगवान के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इसमे उपासको को बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटिपूर्ण होने पर भी उन्हे भगवत्कृपा की आशा बनी रहती है और प्रेम के मार्ग मे आशा बहुत बड़ा अवलंबन है, क्योकि जीव आशा होने पर ही प्रयत्नशील हो सकता है। इस प्रकार भगवान ने अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका दोनो की प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखला कर प्रेम-मार्ग को सबके लिए सुलभ कर दिया है।"[1]

इस प्रकार गोपियो के भगवान कृष्ण से संबंध की अनेक विचारको ने अनेक रूपो मे व्याख्या की है। एक मत के अनुसार गोपिया परकीया नही स्वकीया ही थी, परंतु उन्होने परकीया भाव मे कृष्ण को ग्रहण किया। इस दृष्टिकोण के अनुसार परकीया होना अलग बात है और परकीया भाव रखना एकदम अलग बात। इस परकीया भाव की विशेषता यह है कि इस परकीया भाव मे प्रियतम के निरंतर चिंतन के साथ उससे किसी भी प्रकार मिलने की उत्कट अभिलाषा बनी रहती है और उसके दोषो की ओर प्रेमिका की दृष्टि नही जाती। साथ ही स्वकीया अपने पति से सकाम प्रेम करती है, वह उससे संतान, सुख और अपने जीवन को सुखी और संपन्न बनाने की आशा रखती है, परंतु परकीया इन सबसे ऊपर उठकर केवल प्रेमावेग मे डूबी हुई ऐसे प्रियतम से केवल निःस्वार्थ प्रेम करती है। वह उसे आत्मसमर्पण करके संतुष्ट हो जाती है। गोपियो के कृष्ण-प्रेम मे यह सभी तत्त्व विद्यमान है इसीलिए वे सर्वोत्तम भक्त मानी गई हैं।

रास का जीवन-दर्शन

प्रेम लक्षणा भक्ति मत के अनुसार भगवान कृष्ण सदा राधिका को प्रसन्न रखने के लिए प्रयत्नशील रहते है। अत. रासलीला का इस मत के अनुसार एकमात्र उद्देश्य राधा को प्रसन्न करना है और उसी प्रयत्न मे भगवान गोपियो के सहयोग से आमोद का विस्तार करते हैं जो लोक-कल्याण की भावना से परिपूर्ण है।

इस भांति ब्रज के भक्ति-साहित्य मे रास का महत्त्व अक्षुण्ण है। पुराणो

१. करपात्री जी : 'श्रीभगवत्तत्व'

मे रास का जो रूप व्याप्त है उससे प्रेरणा पाकर रास का एक अलग ही जीवन-दर्शन (विद्वानो के इस संबध मे निरतर चिंतन से) स्थापित हो गया है। विद्वानो का यह चिंतन रास की आध्यात्मिक व्याख्या, उसके स्वरूप, उसके अंग, उपाग आदि सभी स्तरो को छूता है। इस दर्शन के प्रकाश मे ही व्रज के भक्त-कवियो ने रास-साहित्य का सृजन किया है। जिस कवि का रास के जिस रूप से अधिक लगाव हुआ है उसी के वर्णन मे उसकी वृत्तिया अधिक रमी है। यदि कुछ भक्तो ने नित्य-रास का वर्णन किया है तो कुछ का अवतरित रास पर अधिक अनुराग है जो भगवान कृष्ण के गोलोक से भूलोक पर अवतरित होने के फलस्वरूप व्रज के वृदावन मे हुआ। भक्तो ने इस अवतरित रास की अलग सत्ता न मानकर उसे गोलोक के नित्य-रास का ही भूलोक पर प्रकट रूपातर माना है। जब भगवान व्रज मे प्रकट हुए उससे पूर्व ही गोलोक उनके अवतार की भूमिका सपादन करने के लिए स्वय भूलोक मे व्रज के रूप मे अवतरित हुआ और गोलोक का वृदावन भी उसी के साथ व्रज का वृदावन वनकर वहा गोवर्धन व यमुना सहित अवतरित होकर गोलोकाधिपति कृष्ण के व्रज मे रचाये जाने वाले इस अवतरित रास का क्षेत्र वना। इस सवध मे महामहोपाध्याय पडित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का कथन है कि "गोलोक मे राधा रूपाह्लादिनी शक्ति से युक्त आनदमय भगवान कृष्ण का द्विगुण रूप सदा विराजमान रहता है। वे जब भक्तो पर अनुग्रह करके भूलोक मे अवतीर्ण हुए और 'सोमतत्त्व' से अपना सवध प्रदर्शित करने के लिए सोमवश मे ही जव आपने अवतार धारण किया तो उनका प्रिय धाम 'गोलोक' भी भूमडल मे अवतीर्ण हुआ और वहा की वे सर्वोत्पादक गौ भी मूर्ति धारण कर गौ रूप मे यहां आई। यही व्रज-धाम है।[10]

परतु भगवान कृष्ण के साथ गोलोक और गौ ही भूलोक पर नही आई उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा भी अपने समस्त सखी परिकर के साथ यहा अवतरित हुई।

अवतरित रास के पात्र

भगवान कृष्ण के साथ अवतरित रास के इन पात्रो की हमारे पुराणो और भक्ति-साहित्य मे विस्तृत चर्चा है। चैतन्य-सप्रदाय के भक्त-कवियो ने विशेष रूप से व्रजलीला के पात्रो पर प्रकाश डाला है। राधिका और उनके सखी परिकर का 'विदग्धमाधव' आदि ग्रथो मे वडा रोचक वर्णन उपलब्ध है।

रास की भावना और उसकी कल्पना की भव्यता को समझने के लिए भक्तो की राधा और गोपिकाओ सबधी भावना से परिचित होना बडा आवश्यक है, अत सक्षेप मे हम रास के कुछ प्रमुख पात्रो का परिचय उपस्थित करते हैं।

श्रीराधा

श्रीराधा ही रास की अधिष्ठात्री और रासेश्वरी हैं। राधा का सर्व-प्रथम स्पष्ट उल्लेख ब्रह्मवैवर्त पुराण मे मिलता है यह हम यथास्थान कह चुके हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे कृष्ण के साथ उनके अवतरण व उनकी विस्तृत लीलाओ का सागोपाग वर्णन हुआ है। इस पुराण मे राधा का आदि से अत तक पूरा चरित्र उपलब्ध है। इस पुराण का कथन है कि एक बार भगवान कृष्ण के द्वारका से ब्रज आने पर उनके समक्ष श्रीराधा उनके रथ पर आरूढ होकर सदेह ही अन्य ब्रजवासियो के साथ गोलोक गमन कर गई। हम यहा उनके पूरे चरित्र को नही दोहरा सकते, परतु राधा के नामकरण की जो व्याख्या विभिन्न स्थलो पर हुई है उसकी जानकारी यहा देना आवश्यक है, क्योकि राधा-कृष्ण के दोनो स्वरूपो की एकरूपता तथा राधा की महत्ता उनके नाम की व्याख्या मे ही प्रतिपादित हो जाती है। इस महिमा को समझे विना रास के स्वरूप की अलौकिकता को समझना सभव नही है। प्रिया-प्रियतम की अनन्यता के संबध मे 'राधिकोपनिपद्' मे कहा गया है .

कृष्ण आराध्यत इति राधा।
कृष्ण समाधावति सदति राधिका।[11]

'सामरहस्योपनिपद' मे इसी वात को और स्पष्ट किया गया है। यहा कहा गया है

स एवाय पुरुप एवमेव समाराधनातत्परोऽभूत्। तस्मात् एवमेव समारा-धनमकरोत्। अता लोके वेद श्रीराधा गीयते। अनादिरय पुरुप एक स्वास्ति। तदैव रूप द्विधा समाराधनातत्परोऽभूत्। तस्मात् ता राधा रसिकानदा वेदविदो वदन्ति।

इस प्रकार वही पुरुप स्वयं अपनी आराधना को तत्पर हुआ और आराधना की इच्छा होने के कारण उस पुरुप ने स्वय ही अपनी आराधना की इसीलिए वे राधा नाम से लोक और वेद मे प्रसिद्ध हुई। यह अनादि पुरुष एक होकर भी अपनी आराधना के लिए ही अपने दो रूप वनाकर तत्पर हुआ। इसीलिए वेदज्ञ श्रीराधा को रसिकानदरूपा कहते हैं।

११ श्रीकृष्ण इनकी नित्य आराधना करते हैं इसलिए इनका नाम राधा है और श्रीकृष्ण की ये सदा सम्यक् रूप से आराधना करती हैं, इसलिए राधिका नाम से प्रसिद्ध हुई हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण खड मे मोक्षदायिनी होने के कारण भी उन्हे राधा कहा गया है।[१२] राधा भगवान कृष्ण को प्राणो से भी अधिक प्रिय हैं .

प्राणाधिष्ठातृदेवी सा कृष्णस्य परमात्मनः ।
आविर्बभूव प्राणेभ्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥

इसी पुराण मे एक स्थल पर उन्हे 'ममादुर्धस्वरूपात्व मूल प्रकृतीश्वरी' कहलाया गया है। इस प्रकार राधा और कृष्ण प्रकट मे दो-देही होते हुए भी दो नही एक ही है और सभी ब्रज गोपिया राधिका से उदित उन्ही की अश है। राधा को इस प्रकार जान लेने के बाद रासलीला के प्रसंगो मे लौकिकता या कामुकता का कही कोई स्थान नही रह जाता ।

गोपिया

रासलीला मे सम्मिलित होने वाली गोपियो को भी विचारको ने श्रेणीवद्ध किया है। भगवान कृष्ण के साथ गोलोक से अवतरित होकर जो गोपी ब्रज में जन्मी थी, भक्ति-साहित्य मे उन्हे 'नित्यसिद्धा' कहा गया है। ये सब नित्यसिद्धा गोपी गोलोक मे श्रीराधा के रोमकूपो से उत्पन्न है, अत. उन्ही का रूप हैं। परतु इन नित्यसिद्धा गोपियो के अतिरिक्त भी द्वापर युग के अवतरित रास मे अनेक प्रकार की अन्य गोपिकाओ ने भी भाग लिया था। इन गोपियो के नौ वर्ग हैं : (१) श्रुतिरूपा, (वेद की ऋचाए जो वेदरूपा कृष्ण के सगुण होने पर उनके साथ प्रत्यक्ष आनद प्राप्त करने के लिए गोपिया बनी थी), (२) ऋषिरूपा (वे ऋषि जो तप करके भगवान का गोपी रूप मे सान्निध्य पाने के अधिकारी हुए थे), (३) मैथिली (मिथिला की वे नारिया जो रामावतार मे इच्छा करके भी भगवान को पति रूप मे नही पा सकी थी), (४) कौशली, (५) अयोध्यापुर वासिनी, (६) पौलिन्दी, (७) देवनारी, (८) जालन्धरी और (९) नागेन्द्र-कन्या। 'गर्गसहिता' के माधुर्य खड मे इन गोपियो के धर्मो तथा उनके साथ भगवान के इस अवतरित रास-विहार का वर्णन विस्तार से हुआ है।

इन ब्रजलीलाओ मे श्रीराधा की सखियो के उनकी महत्ता के अनुसार पाच वर्ग किए गए है · (१)सखी, (२)नित्य सखी, (३)प्राण सखी, (४)प्रिय सखी, (५) परम श्रेष्ठ सखी। इन सभी सखियो की नामावली व कार्यकलापो की चर्चा सस्कृत के अनेक ग्रंथो मे है, परंतु रास मे विशेष रूप से श्रीराधा की अष्टसखियो की ही मान्यता है जो श्रीराधा के सखी-यूथो की सचालिका हैं।

१२ राधातत्त्व च सासद्धा राकारा दानवाचक ।
धा निर्वाण च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता ॥

यह अष्टसखी ही उक्त ग्रंथो मे वर्णित परमश्रेष्ठ सखी हैं। इन सखियो के नामो मे पृथक-पृथक ग्रथो मे कुछ पृथकता भी मिलती है परन्तु इनके निम्नलिखित नाम ही अधिकाश ग्रथो मे स्वीकृत हैं। इन सखियो मे भी ललिता सर्वप्रमुख हैं। यहा इन अष्टसखियो का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

ललिता

इनकी माता का नाम कही शारदा, कही सत्यकला तथा पिता का नाम कही विशोक और कही सत्यभानु मिलता है। इनकी अंग-काति गोरोचन जैसी, परिधान वस्त्र मयूर पुच्छाभ तथा इनकी कुंज का रग विद्युद्वर्ण कहा गया है। ये विशुद्ध खडिता भाव की मूल स्रोत है जो प्रिया-प्रियतमा की ताम्बूल-अर्पण की सेवा करती हैं। ललिता जी अद्वितीय वीणा-वादिनी हैं और भैरव तथा कलिगडा राग इन्हे बहुत प्यारे हैं। रासलीला मे इनकी आयु सदैव १४ वर्ष ३ मास १२ दिन की किशोरी जैसी रहती है। इनमे सौंदर्य गुण अत्यधिक है, अनंगमंजरी, लवगमंजरी और रूपमंजरी, प्रिया-प्रियतम की नित्य सेवा मे इन की सहायिका हैं तथा रत्नप्रभा, रतिकला, सुभद्रा, मदरेखिका, सुमुखि, धनिष्टा, कलहंसी और कलापिनी इनकी सहयोगिनी सखियां हैं। प्रिया-प्रियतम को हर प्रकार से सुख पहुंचाना ही इनका एकमात्र अभीष्ट है। पुष्पवितान, पुष्पमंडल, पुष्पशैया तथा पुष्पो की किसी भी प्रकार की सज्जा मे यह असाधारण योग्यता रखती हैं। साथ ही यह इद्रजाल की भी पडिता है। ब्रज के रासमच पर यह दूती कर्म मे अग्रगण्य भूमिका सपादन करती है। प्रिया-प्रियतम मे मान हो जाने पर उसे दूर कराना तथा दोनो को युक्तिपूर्वक मिलाना इनका मुख्य कार्य रहता है।

विशाखा

इनकी माता का नाम सुदक्षिणा है। पिता का नाम कही पावन और कही गुणकला या गुणभानु कहा गया है। इनकी अग-काति विद्युत जैसी, परिधान वस्त्र तारावलीप्रभ व कुज का मेघ वर्ण है। यह प्रिया-प्रियतम के श्रीअगो मे अगराग-लेपन की सेवा करती है। इनका भाव स्वाधीन भर्तृका का है। मृदग-वादन मे यह परम पटु है और सारग राग इन्हे बहुत प्रिय है। नित्य-रास मे इनकी आयु सदैव १४ वर्ष २ मास १५ दिन की रहती है। मधुमजरी, गुणमजरी और रगमजरी इनकी सहायिका है और इनके परिकर मे माधवी, मालती, चन्द्ररेखिका, कजरी, हरिणी, चपला, सुरभि, शुभानाना सखिया सम्मिलित है।

इनका जन्म उसी क्षण मे माना जाता है जब भूलोक मे श्रीराधा का जन्म हुआ, यह परम विदुषी तथा हास-परिहास मे बडी कुशल है। प्रिया-प्रियतम

के अगो पर पत्रावली रचना, पुष्पालकरण करना आदि इनकी प्रमुख सेवा है। रासमच पर यह प्रत्येक कार्य मे ललिता सखी की अनन्य सहयोगिनी रहती हैं।

चित्रा

इनकी माता का नाम चर्चिका तथा पिता के नाम चतुर, रुचिकला या रुचिभानु मिलते है। इनकी अगकाति केसर जैसी, परिधान वस्त्र काचप्रभ व कुज का जलक वर्ण है। इनकी मुख्य सेवा प्रिया-प्रियतम की रूपसज्जा करना है। इनका भाव दिवाभिसारिका का है। सितार इनका प्रिय वाद्य है और सकटा राग इन्हे बहुत प्रिय है। रासलीला मे इनकी आयु सदा १५ वर्ष १ मास २६ दिन की रहती है। विमलामजरी, रतिमजरी व भद्रमंजरी इनकी सहायिकाए है और इनके परिकर मे रमालिका, तिलकिनी, शौरसेनी, सुगधिका, रमिला, कामनागरी, नागरी और नागवेलिका सखी सम्मिलित है।

यह ज्योतिष तथा साकेतिक भाषा की पडिता हैं। किसी भी वस्तु को ऊपर से ही देखकर उसका भेद जान लेने मे यह सिद्ध है। वृक्षोपचार, पशुशास्त्र व सर्पमंत्रो की जानकारी होने के साथ यह दूसरे लोको की भाषाए भी जानती हैं। पाकशास्त्र की पारगता होने के साथ-साथ यह अपने परिकर का वृंदावन की कुसुमविहीन औषधियो के पहचानने व खोजने मे भी मार्ग-दर्शन करती हैं।

इदुलेखा

इनकी माता का नाम वेला तथा पिता के नाम सागर, वरकला और वरभानु मिलते है। इनकी अगकाति हरतालिका जैसी, परिधान वस्त्र दाडिम कुसुम वर्ण और कुज का रग शुभ्र कहा गया है। नृत्यकला मे यह पारगत है, अत इनकी मुख्य सेवा नृत्य द्वारा प्रिया-प्रियतम को प्रसन्न रखना है। इनका भाव प्रोषितभर्तृका का है। विहाग राग इन्हे विशेष प्रिय है और मजीरा इनका प्रिय वाद्य है। लीला मे इनकी आयु सदैव १२ वर्ष २ मास १२ दिन की रहती है। इनकी सहायिका है श्यामलामजरी, लीलामजरी और विलासमजरी। इनके यूथ मे तुगभद्रा, रमतुगा, रगवारी, सुमगला, चित्रलेखा, विचित्रागी, मोदिनी, मदनलता सखी है। यह गान विद्या मे पारगत ब्रज की ख्यातिलब्ध गोप सुदरी है।

चपकलता

इनकी माता वाटिका, पिता आराम, चद्रकला या चद्रभानु है। इनकी अगकाति चपक पुष्प जैसी, परिधान वस्त्र का रग नीलकंठ पक्षी जैसा तथा कुज

का वर्ण तप्तसुवर्ण जैसा है। ये प्रिया-प्रियतम की चवर ढुलाने की सेवा वासक-सज्जा भाव से करती हैं। सारगी इनका प्रिय वाद्य है और लीला मे इनकी आयु सदैव १४ वर्ष २ मास १४ दिन रहती है। इनकी सहायिकाएं हैं पालिका-मजरी, विलासमजरी और केलिमजरी। इनके यूथ मे कुरगाक्षी, सुरति, गडला, मणिकुडला, चद्रिका, चंद्रलतिका, कुदाक्षी व सुमदिरा सखी है। यह विविध कलाविद् तथा द्यूत-शास्त्र की पडिता तथा पाक-विद्या और मिट्टी के बर्तन, पत्र-पुष्पादि निर्माण मे दक्ष है। इनकी सगठन शक्ति अधिक प्रखर है जिसके कारण अन्य गोपियो के यूथ इनके समक्ष प्रभावहीन रहते है।

रंगदेवी

इनकी माता का नाम करुणा तथा पिता के नाम आराम, धर्मवेला या धर्मभानु मिलते है। इनकी अगकाति पद्मकिंजल्क जैसी, परिधान वस्त्र जवा कुसुम वर्ण है और इनकी कुज का रग श्याम है। यह प्रिया जी के अलक्तक लगाने की सेवा करती है और इनका भाव उत्कठिता का है। लीला मे इनकी आयु सदा १४ वर्ष २ मास ८ दिन रहती है। शृखलामजरी, कुदमजरी और मदन मजरी इनकी सहायिका है। इनके यूथ मे कलकठी, शशिकला, कमला, मधुरा, इदिरा, कदर्पसुदरी, कामलतिका व प्रेममजरी सम्मिलित है। यह वडी धर्मनिष्ठा है। व्रत-त्यौहार मे वडी निष्ठा रखती है। ऋतु के अनुरूप प्रिया-प्रियतम को गरम या शीतल उपकरण जुटाने वाली सभी दासिया इनके नियत्रण मे ही सेवारत रहती है।

तुगविद्या

इनकी माता मेवा तथा पिता का नाम पौष्कर हे। इनकी अगकाति चद्रकुसुम जैसी, परिधान वस्त्र पीतवर्ण तथा कुज का रग अरुण है। यह प्रिया-प्रियतम की गीत-वाद्य की सेवा करती है। इनका भाव विप्रलभा का है। निकुज लीला मे इनकी आयु सदा १४ वर्ष २ मास २० दिन रहती है। धन्या मजरी, अशोक मजरी और मजुलाली मजरी इनकी सहायिकाए हैं। इनके यूथ मे मजुमेवा, मधुरेक्षणा, तनुमध्या, मधुरस्पदा, गुणचूडा व वरागदा सखी है। ये विद्याओ की आगार तथा सर्वप्रिय सखी है। रसशास्त्र, नीतिशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा समस्त गाधर्वी विद्याओ की ये आचार्या है। सगीत मच, वाद्यमच, रासमच आदि पर जितनी सखिया काम करती है यही उन सबकी निर्देशिका है।

सुदेवी

ये रगदेवी जी की ही जायज वहिन हैं जो सुवर्ण काति वाली है। इनके

वस्त्र प्रवालवर्ण तथा कुज हरिदवर्णी है। ये प्रिया-प्रियतम की जल सेवा करती है। इनका भाव कलहांतरिता का है। लीला मे इनकी आयु १४ वर्ष २ मास ८ दिन की रहती है। इनकी सहायिकाए है तारिका मजरी, सुधामुखी मजरी और पद्म मजरी। इनके यूथ मे कावेरी, चारुकवरा, सुकेशी, मजुकेशिका, हारहीरा, महाहीरा, हारकंठी तथा मनोहरा सखी है। ये दौडने मे बहुत तेज तथा शुक-सारिकाओ को सिखाने तथा पक्षियो को लडाने की विशेषज्ञ है। शकुनशास्त्र, पक्षियो की बोली तथा खगोल विद्या की भी पडिता है। दिव्य लीला की सभी गुप्तचर सखियो का यही नियत्रण करती हैं। इनकी आकृति ठीक रगदेवी जैसी है, अत इन्हे देखकर प्राय: रगदेवी जी का भ्रम हो जाता है।

इस प्रकार गोलोक की रासलीला मे यह सभी सखी पात्र भगवान कृष्ण की अवतरित लीला मे भी उन्ही सेवाओ को करने के लिए व्रज मे अवतरित हुए थे जो कृष्णलीला की पूर्णरूप से परिणति के लिए यहा अनिवार्य थे।

गोलोक के अन्य अवतरित पात्र

भगवान कृष्ण के गोलोक के रास के (नित्य-रास के) सभी पात्रो का व्रज मे उनके साथ ही पूरी साज-सज्जा के साथ अवतरण हुआ। गोलोक के नित्य-रास तथा व्रज के अवतरित रास मे बहुत सूक्ष्म अतर है। गोलोक का रास जहा केवल नित्यसिद्धा गोपियो तक ही सीमित था वहा भूलोक मे आकर वह अधिक व्यापक हो गया और उसमे गोपियो के नौ वर्ग और सम्मिलित हो गए, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। साथ ही भूलोक मे आ जाने पर भगवान श्रीकृष्ण का जीवन-क्रम गोलोक के सुनिश्चित जीवन-क्रम से यहा भिन्न परि-स्थितियो के कारण देश और काल से प्रभावित हुआ, अत उसी के अनुरूप नित्य-रास भी यहा के वातावरण मे प्रभावित हुआ। फल यह हुआ कि अवतरित रास की लीलाए भी यहा गोपिकाओ द्वारा रास मे गूथ दी गई जैसा कि हम महा-रास के प्रसग मे वर्णन कर चुके है। महारास स्वय अपने आप मे अवतरित रास की एक ऐसी ही लीला है जिसने गोलोक के नित्य-रास को व्रजभूमि मे अवतरित होने की भूमिका सपादित की थी।

अथर्ववेद के 'कृष्णोपनिषद्' के अनुसार व्रज मे भगवान ने अपने समस्त सौदर्य और शक्ति के साथ अवतार लिया था। उन्होने ब्रह्मविद्या को जसोदा, विष्णुमाया को नदपुत्री (योगमाया), ब्रह्मपुत्री को देवकी, निगम को वसुदेव, वेद ऋचाओ को गोपिया, कमलासन को लकुट, रुद्र को मुरली, इद्र को शृग, पाप को अघासुर, वैकुठ को गोकुल, सत-महात्माओ को लता-गुल्म, लोभ और क्रोध आदि को दैत्य, शेषनाग को बलराम बनने के लिए भूलोक पर भेजा था और स्वय माया विग्रह धारी हरि गोप रूप मे अवतरित हुए थे।

गोपिकाओ को वेद की ऋचा के रूप मे इस उपनिषद् मे आग्रहपूर्वक मान्यता दी गई है। इस उपनिषद् के अनुसार कृष्णलीला मे द्वेष चारुण, मत्सर मल्ल, मोह मुष्टिक, दर्प कुवलयापीड हाथी, गर्व बक, दया रोहिणी, पृथ्वी सत्यभामा, महाव्याधि अघासुर, कलियुग कंस, सुग्रीव सुदामा, सत्य अक्रूर, दम उद्धव तथा विष्णु पाचजन्य (भगवान कृष्ण के शख) बनकर प्रकट हुए थे।

इस प्रकार पूरी कृष्णलीला ही इस उपनिषद् के अनुसार अलौकिक थी जिसमे पात्र भी अलौकिकता से अभिमडित है। बालकृष्ण ने गोपगृह मे उसी प्रकार लीला की जिस प्रकार वे श्वेतद्वीप मे सुशोभित क्षीरसागर मे करते थे।

भगवान कृष्ण की इन लीलाओ के केवल पात्र ही नही वरन समस्त उपकरण भी अलौकिक थे। श्री हरि की सेवा के लिए वायु ने चमर का, अग्नि ने तेज का, महेश्वर ने खड्ग का, कश्यप ने उलूखल का, अदिति ने रज्जु का, सिद्ध और बिंदु (सहस्त्ररस्थि) ने शख चक्र का, कालिका ने गदा का, माया ने शार्ग धनुष का, शरत्काल ने भोजन का, गरुड़ ने भाडीरवट का, नारद ने सखा सुदामा का, भक्ति ने वृदा (राधा) का और बुद्धि ने त्रिया का रूप धारण किया था। इस प्रकार समस्त सृष्टि न तो भगवान से भिन्न ही थी, न अभिन्न ही और न भिन्नाभिन्न, भगवान इस सृष्टि मे रहते हुए भी इससे भिन्न हैं। इस दृष्टि से भगवान कृष्ण का रास और लीलाए जीवात्मा और परमात्मा का मिलन हैं और इनकी लौकिक दृष्टि से खोज या व्याख्या व्यर्थ है।

संस्कृत रास-साहित्य

रास के इस अनत अलौकिक रस-सागर मे गहरे पैठकर अपने आप को सच्चिदानद मे लीन करने की भावना कृष्ण-भक्तो का परम लक्ष्य रही है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य मे रास के वर्णन सर्वत्र बिखरे हैं। सस्कृत और ब्रजभाषा साहित्य तो इन वर्णनो के महोदधि ही है। ब्रज और सस्कृत-साहित्य के इन वर्णनो मे गोलोक के नित्यरास और ब्रज के अवतरित रास के सरस वर्णन है जो मोटे रूप मे एक जैसे है। अत: कौन सा वर्णन गोलोक के रास का है और कौन सा ब्रज के रास का, यह कहना सहज नही है। दोनो के बीच सीमारेखा नही खीची जा सकती, क्योकि अवतरित रास भी नित्यरास था और नित्यरास ही वास्तव मे कृष्णावतार के कारण अवतरित रास बना था। फिर भी वैज्ञानिक ढंग से वर्ग भेद के लिए हम कह सकते है कि श्रीमद्भागवत का रास (महारास) वर्णन अवतरित रास को आधार मान कर चला है जबकि ब्रह्मवैवर्तकार ने गोलोक के नित्यरास का वर्णन किया है। इसी प्रकार सस्कृत-साहित्य में भागवत पर आधारित रास-वर्णनो को अवतरित रास के वर्णन तथा ब्रह्मवैवर्त के आधार पर प्रचलित रास परपरा को हम गोलोक के रास-वर्णनो से

संवद्ध कर सकते है, किंतु प्रत्येक लेखक के वर्णन इस कसौटी पर इसलिए खरे नही उतर सकते कि सस्कृत के परवर्ती रास-वर्णनो मे भी समन्वय की वृत्ति पाई जाती है, जैसा हम पहले लिख चुके है।

व्रज का रास-साहित्य

व्रज-साहित्य के विपुल रास-वर्णनो मे हमे यह समन्वय पूर्ण रूप से व्याप्त मिलता है। व्रज के सभी कृष्ण-भक्त सप्रदायो ने श्रीमद्भागवत को ही अपना मूलाधार माना था, अत' व्रज-साहित्य के सभी रास-वर्णन अवतरित रास के ही हैं, परतु इन भक्त कवियो ने गोलोक के नित्यरास की भावना को ही व्रज के अवतरित नित्यरास के माध्यम से गाकर उसे एकरूपता प्रदान कर दी है।

व्रज-साहित्य के विपुल रास-वर्णनो मे भक्त-कवियो के दृष्टिकोण का एक अतर अवश्य मिलता है। इस अवतरित राम को भी कुछ कवियो ने जहां भावनात्मक या मानसिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित रखा है वहा दूसरे भक्तो ने उसके देहात्मक रूप को मुखरित करने की प्रवृत्ति को प्रमुखता प्रदान की है।

भावनात्मक रास के गायक

भावनात्मक या मानसिक रास से हमारा अभिप्राय उस स्थिति से है जहां भक्त लोग अपने आपे को भूलकर चितन और भावना के माध्यम से ही श्रीकृष्ण की रासलीला को अपने दिव्य नेत्रो से देखकर उनके वर्णन मे समर्थ हुए हैं। ऐसे रास-वर्णनो मे व्रजभाषा के उन काव्यकारो की परपरा को स्वीकार किया जाना चाहिए जिसमे सूरदास जी अग्रगण्य थे। सूरदास जी के समय मे रास रगमच का व्यापक प्रचार और विकास नही हुआ था, अत. उनके तथा उनकी परपरा के परवर्ती कवियो के रास-वर्णन भावनात्मक है। सूरदास जी, अष्टछाप तथा उनकी पीढी के कवियो ने जो रास-साहित्य लिखा है वह उनकी रास संबंधी भावना पर आधारित है, इस कोटि के कवियो मे हम सूरदास जी के साथ वल्लभ संप्रदाय के कुभनदास, परमानददास, छीतस्वामी, गोविंद स्वामी, विष्णुदास, रामदास, धोंधी, गगाबाई जैसे भक्तो के नाम ले सकते हैं। निम्बार्क सप्रदाय के रास गायक श्रीभट्ट जी, हरिव्यास देव जी, रूपरसिक जी, वृदावन देव जी, गोविंदशरण जी तथा चैतन्य सप्रदाय के आनंदघन, रामराय, सूरदास मदनमोहन तथा वे सब परवर्ती कवि जिन पर रास रंगमच का कोई प्रभाव नही है परंतु जिन्होने रास-वर्णन प्रमुखता से किया है, इसी कोटि मे आते है।

देहात्मक रास के गायक

देहात्मक रास से रास के उस रूप का अभिप्राय है जिसमे देह धारण किये

हुए श्यामा श्याम को प्रत्यक्ष देहधारी कवि अपने चर्म चक्षुओ मे देखता है। इस प्रकार इस रास का सबध रास के मचीय रूप से है। रास के इस मचीय रूप के गायको के आदिगुरु हम श्री हित हरिवश जी को मानते है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेपण किया जाय तो भावनात्मक रास के गायको तथा देहात्मक रास के गायको मे शैलीगत भेद के साथ दृष्टिकोण सबधी भेद और आवेगो और मनोभावो की तीव्रता का अतर भी देखा जा सकता हे, परतु यहां पर यह विश्लेपण हमे अभीष्ट नही है। हम तो यहा केवल इतना भर कह सकते हैं कि जहा भावनात्मक रास के वर्णनो मे कवि की दृष्टि एक भावुक रास दर्शक की थी वहा उस देहात्मक रास मे वह स्वय भी किसी न किसी अश मे प्रत्यक्ष रूप से रास मे भागीदार भी बन गया और उसने अपने सख्य अधिकार का उपयोग करके यहा श्यामा श्याम को अपनी इच्छा के अनुसार खुल कर नचाने का सफल प्रयत्न भी किया है।

हम वास्तव मे कहना यह चाहते है कि रास के मचीय रूप के विकसित हो जाने के बाद उसका प्रभाव साहित्य पर भी पडा। रास को मच पर प्रस्तुत करने के लिए जब उपयुक्त साहित्य की आवश्यकता पडी तब जहा रासमच पर पूर्ववर्ती महाकवियो द्वारा रचित सभी उपयोगी भावनात्मक रास-साहित्य स्वीकार कर लिया गया वहा मंचीय दृष्टि से नवीन साहित्य का सृजन भी आवश्यक हुआ और तब साहित्य की रचना का एक नया क्रम भी चल पडा। श्री हित हरिवश जी और हरिदास जी के अनन्य सहयोगी श्री हरिराम व्यास इस देहात्मक रास के साहित्य मे हमारे विचार मे सर्वप्रमुख और प्रथम गायक है। उन्होने इस देहात्मक रास या रासलीला अनुकरण को भगवान श्यामा श्याम की साक्षात लीला मानकर ही सर्वप्रथम मचीय दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर साहित्य का सृजन किया ऐसा हमारा मत है। व्यास जी ने स्वयं यह तथ्य प्रकारांतर से स्वीकार किया है। 'व्यासवाणी' मे वे कहते है :

> नाचति नागरि नटवर वेशधरि, सुख सागरहि बढावति।
> हरिवशी हरिदासी गावति, सुघर प्रवीन रबाब बजावति।

तथा—

> जय-जय साधु कहत हरि सहचरि, व्यास चिराक दिखावति।
>
> —८४७५ व्यास जी।

यहा व्यास जी ने अपने को चिराग दिखाने वाला कहा है। स्पष्ट है कि जिस रासमंच पर हरिवंश जी तथा हरिदास जी जैसे गायक समाज मे विद्यमान हो वह रास अधकार मे नही होता था, जहा हाथ मे दीपक या मशाल लेकर रससिद्ध कवि व्यास जी खडे रहते होगे। चिराग दिखाने का एकमात्र अभि-

प्राय यही है कि रास के मंच की आवश्यकता के अनुरूप साहित्य-सृजन करने का कार्य व्यास जी ने प्रमुख रूप मे किया।

'व्यासवाणी' से ज्ञात होता है कि भावनात्मक रास के वर्णनो मे जहा पूर्ववर्ती कवियो ने प्राय: शरद रास का वर्णन किया है वहा व्यास जी ने शरद के साथ अन्य ऋतुओ के रास के वर्णन भी किए हैं क्योकि हिताचार्य ने अपने सप्रदाय मे अनुकरणात्मक रास को उपासना मे मान्यता दे दी थी और इसीलिए प्रत्येक ऋतु मे किसी भी समय रास का आयोजन हो सकता था तथा जिस समय और जिस ऋतु मे रास हो उसी समय और ऋतु के अनुरूप योग्य उपादन तथा गायन सामग्री भी उपलब्ध हो यह उस उपासना की एक आवश्यकता थी। 'व्यासवाणी' मे इस प्रकार के पदो की रचना का प्रयास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। व्यास जी ने सभी ऋतुओ के रास का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए पावस के रास-वर्णन का एक पद है .

पावस ऋतु कौ रास पुलिन मे स्याम रच्यौ। —व्यासवाणी, पद २६०

इस प्रकार हमारे विचार से ब्रजभाषा साहित्य मे देहात्मक रास के व्यास जी ही सर्वप्रथम महागायक हैं। उनके द्वारा देहात्मक राम के गायन का क्रम जहा प्रारभ हुआ वहा ब्रजभाषा-काव्य मे भावनात्मक रास और देहात्मक रास साहित्य का पारस्परिक समन्वय भी आरभ हो गया जिससे रास की एक बलवती रसधारा गतिवान हुई जो आज तक यथावत प्रवाहित रहकर रास-मच के सरस उद्यान को सीच रही है। ब्रज के रास साहित्य की इस धारा मे पता नही कितने रसस्रोत समय-समय पर अपना योगदान दे गए है। किसकी सामर्थ्य है जो आज उनकी गणना भी कर सके, परतु भक्तियुग मे रास के ऐसे परवर्ती गायको मे आसकरन, गदाधर मिश्र, नागरीदास जी, दामोदर स्वामी, चदसखी, विजय सखी, चाचा हित वृदावनदास, वशी अलि जी, रूपलाल जी, बिहारिनदास जी, सरसदास जी, नरहरिदास जी, भगवत रसिक जी, माधुरीदास जी, वल्लभ रसिक जी, ललित किशोरी जी, ब्रजवासीदास जी, नारायण स्वामी जी जैसे अनेक समर्थ गायको को कौन भूल सकता है? इन और इन जैसे सभी समर्थ भक्तो के साहित्य ने रास के रगमच का शृंगार करके उसे लोकप्रिय और महिमा मडित बनाया है।

द्वितीय खंड

1

नित्य-रास का मंचीय स्वरूप

सामान्य परिचय

नित्य-रास, रास रगमच का सबसे महत्वपूर्ण अग है और प्राचीनता की दृष्टि से यह रासलीलाओ का अग्रज भी है। यहा हम मुख्य रूप से रास की लीलाओ के प्रारभ मे होने वाले नित्य-रास के वर्तमान स्वरूप तथा उसके क्रम का परिचय उपस्थित करना चाहते है।

आज यह जानने का कोई साधन नही है कि भक्तियुग मे जिस समय रास की यह परपरा पुन स्थापित हुई, उस समय नित्य-रास का मूल रूप क्या था और बाद मे हित हरिवशाचार्य या नारायण भट्ट गोस्वामी आदि के काल मे उसमे क्या विकास या परिवर्तन आया, परतु लगता यही है कि नित्य-रास का क्रम और व्यवस्था चाहे मूल रूप मे प्राचीन युग मे भी भले ही यही रही हो, किंतु उसके गायनो मे निरतर जनरुचि के अनुरूप फेर-बदल होता रहा है और उसका कलेवर भी काल की गति से अप्रभावित नही रहा है। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व नित्य-रास का जो रूप था, वह आज बदल गया है तथा आज की जनता की रुचि से प्रभावित रास मे उच्चस्तरीय भक्ति-भाव की निष्पत्ति की क्षमता मे इस बीच धीरे-धीरे कमी आती जा रही है, परतु यह सब होते हुए भी उसका मचीय क्रम और कथा रूप प्रायः परपरागत ही बना हुआ है।

यहा यह बात भी ध्यान रखने की है कि नित्य-रास का स्वरूप और स्तर विभिन्न रास-मडलियो मे भी एक जैसा नही है। यह रास मडली के स्वामी (सचालक) की रुचि, उसकी शिक्षा-दीक्षा और संस्कारो से प्रभावित रहता है, परतु यह विभेद मुख्यत कलात्मक स्तर का है। रास की मूल भावना से इसका सबध नही है। इसलिए मूल रूप मे रास का स्वरूप सभी मंडलियो मे लगभग एक जैसा ही है।

साथ ही यह भी ध्यान देने की वात है कि प्रत्येक मडली भी प्रतिदिन एक ही प्रकार से नित्य-रास नही करती। जव किसी एक स्थान पर एक ही मडली कई दिनो तक नियमित रूप से रास करती है तो वह नित्य-रास के गायनो मे थोडा बहुत फेर-वदल करती है जिसमे दर्शक उसकी एकरूपता से ऊवें नही। साथ ही समय के अनुसार भी कुशल स्वामी नित्य-रास की गायन-पद्धति (रागो) को वदल देते है। उदाहरण के लिए राम प्रात काल के समय होता है तो स्वाभाविक रूप से उस समय नित्य-रास मे वही गायन होगे जो उस समय के रागो मे निवद्ध हो। इसी प्रकार मध्याह्न और सायकाल के समय उस समय के अनुरूप रागो मे ही नित्य-रास होता है।

इस प्रकार नित्य-रास का क्रम एक होते हुए भी भिन्न है। वास्तव मे रास का स्वरूप रास-मडली के स्वामी की रुचि और योग्यता पर वहुत कुछ निर्भर करता है। जिस मडली के स्वामी की साहित्य और सगीत की पकड जितनी गहरी होती हे उसके राम का स्तर उतना ही उन्नत रहता है। यह उसी पर निर्भर है कि वह ब्रजभाषा के साहित्य-महोदधि के रत्नो से मंच का शृगार करता है या चमकीले काचो मे ही भटकता रह जाता है। साथ ही उसके निर्देशन की क्षमता के अनुसार ही रास के अभिनेताओ के नृत्य और गायन का भी स्तर स्थापित होता है। इस प्रकार वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक मडली के नित्य-रास का (साथ ही साथ लीलाओ का भी) अपना पृथक गठन और स्तर होता है, परतु फिर भी नित्य-रास की निश्चित परपरा का आधार इस विभिन्नता मे भी एकसूत्रता वनाये रखता है। हम यहा नित्य-रास परपरा का परिचय उपस्थित करते हुए रास की इसी एकसूत्रता का परिचय देना चाहते हैं। साथ ही यथा-स्थान इस एकसूत्रता मे विभिन्नता किस प्रकार व्याप्त है, उसकी चर्चा भी यथा-आवश्यकता की जाएगी।

प्राचीन आस्था

भावुक रसिको की दृष्टि मे नित्य-रास भगवान कृष्ण का प्रत्यक्ष रास-विहार है। एक युग था जव नित्य-रास मे दर्शक पाषाणवत् ऐसे निश्चल और भाव-विभोर होकर वैठते थे कि रास मे सिवाय वाद्यो और घुघरुओ की झनकार तथा गायनो और अलापो के कुछ सुनाई ही न देता था। तव वहुत से दर्शक जव तक नित्य-राम होना था करवद्ध खडे ही रहते थे और रास के उपरात जव प्रिया-प्रियतम सिहासनारूढ हो जाते थे तभी वे भी वैठते थे। उस समय रास के स्वामी भी कमर मे फेटा वाधकर उसमे सारंगी लगाकर खड़े हुए ही रास करते थे, परंतु अव वह सव वातें अतीत की वस्तु होती जा रही है। उस समय नित्य-रास के क्रम मे ब्रजवाणी के साथ देववाणी संस्कृत को भी प्रमुख स्थान प्राप्त

था, परतु अब रास के प्रति दर्शको का वैसा अनुराग प्राय: दृष्टिगोचर नही होता है।

नित्य-रास का क्रम

मगलाचरण और आरती

नित्य-रास का प्रारभ समाज-सगीत से होता है। राधा-कृष्ण और गोपागनाओ के सिहासन पर विराजमान हो जाने पर पहले समाज-सगीत प्रारभ होता है। सारंगी (अथवा अब हारमोनियम) पर स्वर लेकर मुख्य समाजी या मडली का स्वामी सर्वप्रथम रास बिहारी कृष्ण और गुरु का स्मरण करते हुए मंगलाचरण करता है। यथा—

श्री गुरुवे नम
सजल जलदनीलं दर्शितोदार शीलम्,
करतल धृत शैल वेणुवाद्ये रसालम्।
व्रज जन कुलपाल, कामिनीकेलि लोलम्,
तरुणतुलसिमाल नोमि गोपालवालम्।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देव महेश्वर:,
गुरु साक्षात् परब्रह्म. तस्मै श्री गुरुवे नमः।
अज्ञानातिमिररान्धस्य, ज्ञानाञ्जनशलाकया.।
चक्षुरुन्मीत येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

श्री व्रजराजकुमार वर गाइये, भक्तन को मन भावतो गाइये, व्रज की जीवन निधि गाइये, श्री लाडिली ललनवर गाइये, परम उदार श्री गुरुवे नम।

इस या इस जैसे ही मगलाचरण के उपरात अन्य समाजी भी भक्तिरस के दोहे और पुन किसी भी एक विषय के भक्तिरसपूर्ण पदो का गायन करते है, जिससे रास के अनुरूप वातावरण का निर्माण होता है। इन दोहो मे से कुछ दोहे उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है

राधे तू वडभागिनी, कौन तपस्या कीन।
तीन लोक तारन तरन, सो तेरे आधीन॥

सव द्वारन कू छाडिकें, गह्यौ तिहारी द्वार।
अहो भानु की लाडिली, मेरी ओर निहार॥

व्रज चौरासी कोस मे, चार धाम निज धाम।
वृदावन अरु मधुपुरी, बरसानो नदगाम॥

व्रज ममुद्र मथुरा कमल, वृदावन मकरंद ।
व्रज वनिता मव पुष्प है, मधुकर गोकुलचद ।।
वृदावन के विरछ को, मरम न जाने कोय ।
डार डार अरु पात पै, राधे राधे होय ।। आदि-आदि ।

दोहो के साथ आरभ मे जो पद गाये जाते है उनमे प्राय: व्रज-महिमा, प्रिया-प्रियतम की भक्तवत्सलता, रूप-शोभा, सुकुमारिता तथा कृपालुता के अलावा उनके ऐश्वर्य के वर्णनो की प्रधानता होती हे । फिर मुख्य समाजी की वारी आती है और वह एक ध्रुपद गाकर इस समाज-संगीत का समापन और राम का समारभ करता है । रासारभ के साथ गाये जाने वाले कुछ प्रमुख ध्रुपदो के वोल ये हैं .

(१) वनीरी तोरे चारु चार चूरी करन (स्वामी हरिदास जी)

(२) वृदावन सघन कुज, माधुरी लतान तरे,
जमुना पुलिन पैं मधुर वाजी वाँसुरी (नददास)

(३) प्रथम मान ओकार, देवन मुनि महादेव,
ग्यान माने गोरख, वेद मानें व्रह्मा (तानसेन)

(४) वन ठन कहाँ को चले हो, सामरे सुघर कन्हाई (कृष्णदाम)

ध्रुपद गायन की अतिम पक्ति प्रारभ हो जाने पर उसकी समाप्ति से पूर्व ही सखिया अपने आसनो से उठकर आगे आकर राधा-कृष्ण के पार्श्व मे नीचे खडी हो जाती है । भीतर मे उसी समय श्रृगारी आरती का थाल, जिसमे जलती हुई आरती होती है, लाकर मुख्य सखी के हाथो मे देता है । तव वह सखी प्रिया-प्रियतम की आरती करती है । आरती के समय प्रिया-प्रियतम गलवाही डाल देते है और कृष्ण अपने ओष्ठो पर वासुरी रखकर उसके वजाने का अभिनटन करते है । आरती करने के उपरात मुख्य सखी आरती को एक ओर रख देती है । मभी सखियो द्वारा आरती गाई जाती है । वीच-वीच मे समाजी भी आरती के वोलो को कभी-कभी दुहराते जाते हैं । रास मे गाई जाने वाली मुख्य आरतियो मे मे कुछ निम्न प्रकार हैं

प्रथम आरती

जय कृष्ण मनोहर योगतरे, यदुनदन नदकिशोर हरे ।
जय रासरमेश्वरी पूर्णतमे, वरदे वृपभानु किशोरि हरे ।।
जयतीय कदम्व तरे ललिता, कल वेणु समीरण गान लता ।
जय राधिकाया हरि एक मता, सत तनु तरुणीगण मध्य गता ।।

द्वितीय आरती

श्रित कमला कुच मडल ए, धृत कुडल ए।
कलित ललित बनमाल, जय जयदेव हरे॥

दिनमणि मंडल मडन ए, भव खडन ए।
मुनिजन मानस हस, जय जयदेव हरे॥

कालिय विषधर गजन ए, जनरजन ए।
यदुकुल कमल दिनेश, जय जयदेव हरे॥

मधु-मुर-नरक विनाशन ए, गरुणासन ए।
सुरकुल केलि निधान, जय जयदेव हरे॥

अमल कमल दल लोचन ए, भवमोचन ए।
त्रिभुवन भवन निधान, जय जयदेव हरे॥

जनक सुता कृत भूषण ए, जित दूषण ए।
समर श्रमित दशकठ, जय जयदेव हरे॥

अभिनव जलधर सुदर ए, धृत मंदर ए।
श्रीमुख चद्र चकोर, जय जयदेव हरे॥

तव चरणे प्रणतावय ए, भिति भावय ए।
कुरु कुशल प्रणतेषु, जय जयदेव हरे॥

श्री जयदेव कवेरिद, कुरुते मुदं।
मंगलमुज्ज्वल गीत, जय जयदेव हरे॥

तृतीय आरती

सुघर मणि कमला सी गोरी, जु पै ह्वै अगनित इक ठौरी।
तऊ तव चरण कज प्यारी, नखन दुति चदा उजियारी।
तासु छवि लेशहु नहि पावै, सुकवि मुख निरखत रहि जावै।
किशोरी अगम रूप बोरी, प्रेमनिधि उमगि सीव्र तोरी।
ललित लीला अथाह प्यारी, अंग माधुर्य उमगि वारी।
कृपा करि अगीकृत कीजै, विनय बलि मेरी सुनि लीजै।

चतुर्थ आरती

आरती कुजबिहारी की, कि गिरधर कृष्ण मुरारी की।
गले मे बैजंती माला, बजावै मुरली मधुर वाला।
श्रवन में कुडल झलकाला, नद के नदहि नदलाला।
कि गिरधर कृष्ण मुरारी की ॥आरती०॥

गगन सम अग काति काली, कि राधा चमकि रही आली।
कस्तूरी तिलक, चंद सी झलक, ललित छवि श्यामा प्यारी की।
कि गिरधर कृष्णमुरारी की ॥आरती

गगन सो सुमन बहुत बरसें, देवता दरसन कूँ तरसें।
वजै मुँहचग और मिरदग, ग्वालिनी सग, लाज रख गोपकुमारी की।
कि गिरधर कृष्णमुरारी की ॥आरती

जहाँ ते निकसी भवगंगा, सकल दुख हरनी श्री गगा,
धरी शिव शीस, जटा के बीच, राधिका गौरश्याम मुख की।
कि गिरधर कृष्णमुरारी की ॥आरती

पाचवी आरती

आरती जुगल किशोर की कीजै। तन मन धन न्यौछावर कीजै।
साँमरे श्याम गौर मुख राधा। जुगल स्वरूप ध्यान धर लीजै।

मोर मुकुट, मुख बसी विराजै। नटवर कला निरखि मन साज।
कुज विहारी लाला गिरवरधारी। जिनके चरनन पै बलिहारी।

फूलन सिगार फूलन गल माला। निरखौ कुँमर नद कौ लाला।
कचन थार कपूर की बाती। आरती करत सकल व्रजवासी।

नद-नदन, वृषभानु किशोरी। परमानद स्वामी अविचल जोरी।
राधाकृष्ण की जो आरती गावै। वह बैकुठ अमर पद पावै।

इन पाचो आरतियो मे आजकल चतुर्थ आरती ही सर्वाधिक प्रचलि
है। इसके उपरात प्रथम, द्वितीय और पाचवी आरतियो का चलन है। तृत
आरती अब प्राय: नही सुनी जाती।

सखियो द्वारा नमस्कार और प्रशस्ति

आरती का गायन समाप्त होने पर सब सखी क्रम से प्रिया-प्रियतम
निकट आकर उनको नमस्कार करती और चरण छूती है। पहले नमस्कार
समय संस्कृत श्लोक बोले जाया करते थे, परतु वह परपरा भी अब रास से उ
गई है। प्राचीन परपरा के अनुसार पहले चार गोपी निम्न श्लोक को अप
स्थान पर खडे-खडे ही बोलकर वहा से प्रिया-प्रियतम को नमन करती थी। य
श्लोक निम्न प्रकार है :

गोपी (प्रथम)—नमोस्तु वृदावन सुदराभ्याम्।
नमोस्तु वृदावन विभ्रमाभ्याम्।

गोपी (द्वितीय)—नमोस्तु वृंदावन जीवनाभ्याम् ।
नमोस्तु वृंदावन नागराभ्याम् ।
गोपी (तृतीय)—नमोस्तु वृंदावन सत्कृपाभ्याम् ।
नमोस्तु वृंदावन सद्रसाभ्याम् ।
गोपी (चतुर्थ)—नमोस्तु वृंदावन पूर्णताभ्याम् ।
नमोस्तु वृंदावन गोचराभ्याम् ।

इस प्रकार श्लोको के पूरे हो जाने पर पुन· एक-एक गोपी एक-एक कडी को दुहराकर उसका अर्थ करती थी । तव रासमडली मे चार ही सखी होती थी, परतु अव तो वड़ी मडलिया छ. या आठ सखी भी रखने लगी हैं । श्लोक की एक-एक कडी को निम्न प्रकार दुहराकर और उसका अर्थ करके गोपिया राधा-कृष्ण के क्रमशः चरणस्पर्श करती थी ।

प्रथम सखी—नमोस्तु वृंदावन सुदराभ्याम् ।
हे वृंदावन के मन मोहन सुदर युगल नरेश आप दोऊन कू नमस्कार है।
नमोस्तु वृंदावन विभ्रमाभ्याम् ।
हे वृंदावन के नित्य नव विलासी युगल विहारी आप दोऊन कू नमस्कार है ।
दूसरी सखी—नमोस्तु वृंदावन जीवनाभ्याम् ।
हे वृंदावन वासिन के जीवन प्राणधन नवल किशोर आप दोऊन कू नमस्कार है ।
नमोस्तु वृंदावन नागराभ्याम् ।
हे वृंदावन के चतुर चूडामणि युगल सरकार, आप दोऊन कू नमस्कार है।
तीसरी सखी—नमोस्तु वृंदावन सत्कृपाभ्याम् ।
हे वृंदावन मे नित्य निरतर सत्कृपा की वर्षा करिवे वारे गौर श्यामघन आप दोऊन कू नमस्कार है ।
नमोस्तु वृंदावन सद्रसाभ्याम् ।
हे वृंदावन मे सत् चित आनद रस के विग्रह युगल सरकार आप दोऊन कू नमस्कार है ।
चौथी सखी—नमोस्तु वृंदावन पूर्णताभ्याम् ।
श्री वृंदावन मे ही रूप, गुण, लीला ऐश्वर्य, माधुर्य चातुर्य, करुणा, उदारता आदि गुणो मे पूर्णता कू प्राप्त युगल चद्र आप दोऊन कू नमस्कार है ।

नमोस्तु वृदावन गोचराभ्याम् ।
केवल एक वृदावन मे ही नित्य नयन गोचर श्री वृदावन विहारी आप दोऊन कू सदा सर्वदा नमस्कार है ।
सब सखी (सामूहिक रूप से)—
हे प्रिया-प्रियतम, आपकी सदा जय हो, जय हो, जय हो ।

प्राचीन काल मे (अब से लगभग १५-२० वर्ष पूर्व) आरती के उपरात प्रिया-प्रियतम को नमस्कार करने की एक और भी परिपाटी थी जिसमे दो श्लोको के माध्यम से सखिया भक्तो की भावुकता को प्राय झकझोर दिया करती थी। इस कथोपकथन मे रास की रगशाला तथा उसमे सदा सर्वदा स्थित वसंत मे विराजमान प्रिया-प्रियतम की शोभा का चित्रमय मोहक वर्णन है । यह कथोपकथन भी आरती के उपरात ही आरभ होता था । आरती के अनतर सखिया क्रमश. पहले निम्न श्लोक की एक-एक पक्तिया बोलती थी और प्रिया-प्रियतम के चरण-स्पर्श करती थी, फिर श्लोक की पंक्तियो की व्याख्या निम्न प्रकार करती थी ।

प्रथम सखी—मजु कुज वाटिका सु नाटिका सु मल्लिका ।
द्वितीयसखी—माल भारिनी सु वल्लवी सु चारु चिल्लिपु ।
तृतीय सखी—दिव्य चित्र पट्ट वास आसनेति सुदरे ।
चतुर्थ सखी—राधिका ब्रजेन्द्रनंदनौ स्मरामि संगतौ ।

प्रथम सखी—हे प्रिय सखियौ, या मनोहर कज वाटिका की नाट्यशाला मे विराजमान श्री प्रिया-प्रियतम जू की या समय अनुपम शोभा बनी है, दिव्य विचित्र चार-स्वर्ण खचित पट्टासन पै दोनो गलबैंया दिये विराजमान हैं और हमारे-तुम्हारे द्वारा समर्पित मालती मल्लिकान की मालान सो शोभायमान हैं तथा अति मनोहर हाव-भाव रस रग द्वारा परस्पर एक-दूसरे कू मुग्ध कर रहे है । हमारे जीवन प्राणस्वरूप ऐसे राधा-माधव की सदा ही जय होय ।

सब सखी—जय हो ।

दूसरी सखी—अरी सखी, या समय की इनकी नित्य नवीन लावण्य छटा व अनुराग छटा कू देखि के मेरे मन मे एक उपमा उदै ह्वै आई है ।

श्लोक—अये परम अद्‌भुत किमपि भाँति वृदावने ।
द्वय विकच अम्बुज द्वयमथो विधोर्मण्डलम् ॥
मिथोनव सुधा रस स्वादन लोलमेकम् ।
महा हिरण्य मिहापरं वर हरिणमणि वैभवम् ॥

अरी प्रिय सखियौ, हमारे-तुम्हारे नेत्रन के सन्मुख श्री वृंदावन मे कोई दो अद्भुत अनिर्वचनीय वस्तु प्रकाशमान ह्वै रही हैं, मानो तौ द्वै नील व पीत कमल खिल रहे होय, अथवा चौसठ कलान सहित द्वै चंद्रमा उदय ह्वै आये होय। एक गौर चंद्र और दूसरौ कृष्ण चद्र है। सखी अन्यत्र तो कमल पृथ्वी पै और चंद्रमा आकाश मे उगे हैं परतु या श्री वृदावन धाम मे कमल और चद्रमा दोनो ही एक सग भूमडल पै उदय ह्वै रहे है। और ये हू आश्चर्य तो देखो सखियौ। जहां आकाश मे चंद्रमा के उदय होते ही जल मे कमल मुरझाय के विरस (रस-हीन) है जायं है तहा, या श्री वृदावन के ये दोऊ चंद्रमा व कमल तौ छिन-छिन मे परस्पर एक-दूसरे कू आनद सो प्रफुल्लित तथा रस सो परिपूरित ही करत रहे हैं।

तीसरी सखी—अरी सखियौ, वहा चंद्रमा और कमल कौ सयोग हू नही होय है पर यहा श्री वृदावन के इन दोऊ चद्र और कमल कौ कबहूं वियोग नही होय है। ये दोऊ नित्य निरतर श्रीवृदावन निकुज मे नित्य नव नव उल्लास सहित रास-विलास करत रहै हैं, परंतु कबहू अघावें नही है, सदा ललचात ही रहे हैं।

चौथी सखी—अरी प्रिय सखियौ, हम तौ इनके रूप रस-माधुरी के सिधु मे गोना खाय, अपने स्वरूप कू हू भुलाय बैठी है, इनकौ तौ सदा ऐसौ ही स्व-भाव और प्रभाव है, 'युगल मुख निरखत कौन अघाय' या सो अपने भाव कौ सम्वरन (विसर्जन) करिकै सेवा मे चित्त देऔ, अब इनके रासोत्सव कौ समय ह्वै गयौ है सो चलि कैं विनती करौ।

शेप सखी—चलौ सखी (सिंहासन के निकट आना)

मुख्य सखी—हे श्रीप्रिया-प्रियतम जू, आपके नित्य-रास-विलास कौ समय है गयौ है, सो कृपा करि रास-मडल मे पधार कै, आप सुख पावौ तथा सखी परिकर को सुख देउ।

परतु वर्तमान रास मडलियो मे प्रिया-प्रियतम तथा वृदावन की प्रशस्ति की यह परंपरा मिट चली है। कुछ मडलियो मे तो सखिया आरती के बाद सीधे ही प्रिया-प्रियतम के चरण छूकर उनसे रास मे पधारने की उक्त प्रार्थना कर देती है और कुछ मडलियो मे सखिया ब्रजभाषा के निम्न कवित्त बोलकर इस प्राचीन परंपरा की रक्षा मात्र करती हैं। वे कवित्त निम्न है

सखी एक— जै जै श्री नद जू के नदन नवल लाल,
जै जै श्री राधे जू भानु की दुलारी की।
जै जै जसोदा जू के वारे ब्रजचद जू की,
जै जै हमारी प्यारी कीरत कुमारी की।

गोकुल युवराज, गोकुलेश कुल शेखर जू की,
श्रीवन की रानी, राधे बरसाने वारी की।

गोपीजन वल्लभ गुविंद की जै श्यामा-श्याम,
सब सखी— बोलौ मिलि जै जै राधावल्लभ विहारी की।

सखी दो— रास रस रसिया रसिक रस शेखर जू की,
राधावर राधा विनोद जै गुपाल की।

गोवर्धनधारी की, इंद्र मदहारी की जै,
पूतना प्रहारी, केसी, कंस हू के काल की।

काली के नथैया, भ्रम विघ्न के हरैया की जै,
स्याम ब्रज रखैया की, सुरभी प्रतिपाल की।

भक्त रच्छपाल की जै, सामरे कृपालु की जै,
सब सखी— बोलौ सब जै जै श्री लाडिली लाल की।

रास मे पधारने की प्रार्थना

इस प्रकार इन कवियो के साथ-साथ आजकल रास मे सखियो द्वारा प्रणाम की परंपरा पूरी हो जाती है। इसके उपरात एक प्रमुख सखी प्रिया-प्रियतम से निवेदन करती है :

"चलहु राधिके सुजान तेरे हित गुणनिधान,
रास रच्यौ कुमर कान्ह तट कलिंद-नंदिनी।
नृत्यत जुवति जन समूह रास-रंग, अति कौतुक,
बाजत रस मूरि मुरलिका अनंदिनी।"

अथवा वह गद्य मे भी कह देती है, "हे प्रिया-प्रियतमजू। आपके नित्य रास-बिहार कौ समय है गयौ है, सो कृपा करिकै रास-मंडल मे पधारौ।"
कृष्ण—अच्छौ सखी

राधा-कृष्ण संवाद

सखी से इस प्रकार 'अच्छौ' कह देने पर सखी प्रतीक्षा मे यथास्थान बैठ जाती है और तब मंद-मंद मुस्कराते हुए भगवान कृष्ण अपने आसन पर विराजमान रहकर ही राधा की ओर उन्मुख होकर अपने हावभावो तथा गायन द्वारा उनसे रास मे पधारने की प्रार्थना करते है, जिसका राधारानी अनुकूल उत्तर देती है। राधा से प्रोत्साहित होकर कृष्ण उनकी गलबहियां दिए उठ खडे होते हैं। उनके खडे होते ही सखिया भी उठ खडी होती हैं। कृष्ण मंच से राधा सहित

नीचे उतर आते हैं और तब नित्य-रास का क्रम प्रारंभ हो जाता है। रास के इस क्रम का विस्तृत परिचय उपस्थित करने से पूर्व हम राधा-कृष्ण के बीच होने वाले उक्त सवादो के कुछ रूप यहा उद्धृत करना चाहते है। राधा-कृष्ण के रास मडल प्रस्थान के सवाद भी कई रूपो मे रास परपरा मे प्रचलित हैं, जिनमे से प्राचीन सस्कृत रूपो को अब रासधारी धीरे-धीरे छोडते जा रहे है। इन सवाद के कुछ प्राचीन व अर्वाचीन रूप निम्न है

प्रथम रूप

श्रीकृष्ण— हे गोपीजन वल्लभे प्रियतमे, हे रासलीलोत्सुके।
हे वृंदावनराज पट्टमहिषी, हे हे निकुजाधिपे।
हे मत् प्राण प्रिये, प्रसन्नमनसा हे नित्यरासेश्वरी।
हे सगीतकलादिपूर्णकुशले, रासोत्सवे गम्यताम्।

श्रीराधा— हे गोपाधिपतेऽखिलऽव्रजसखे, लीलावनीसप्रभो।
हे प्रेमाम्बुज पान मुग्ध मधुप, व्यालोल पद मेक्षण।
हे प्राणाधिप्रिय रास नरतन विधौ,नितोत्सुख मे मन।
तस्मात्सत्व मेव मजुल मत, रासोत्सवे गम्यताम्।

श्रीकृष्ण— कानने सुधं सुक्राति शुभ्र मजु विग्रहे।
पुष्पते सुमन्त याद्य, प्रेम प्रियाल विग्रहे।
रन्तु मत्र वाछितानि, चित वृत्ति रुद्र हे।

श्रीराधा— एवमस्तु कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण कात हे।
ममापि परमोत्कठा, निकुज रास मण्डले।
गम्यताम्, गम्यताम् प्रेष्ठ गोपी युयादिर्भिमुदा॥

द्वितीय रूप

प्राण प्रियतमा प्रियवर प्यारी, कल बेनी सुकुमारी हो।
तुम्हारी या मृदु वोलनि पर हौ तन-मन-धन देउ बारी हो।
कृपा मनाऊँ यह वर पाऊँ, तव आज्ञा अधिकारी[1] हो।
बेगि पधारो, अब पग धारो, परिकरि की सुखकारी[2] हो।

श्रीराधा—पद—अहो मेरे प्राण भामते प्रीतम।
आनंद कद किसोर ये मूरति, प्रेम रस घन बरसावते प्रीतम।

१. पाठभेद—निज सेवा सुखकारी हो
२. पाठभेद—हितकारी हो

द्विय चित्त घन चारु मनोहर, ए हो उदार मेरे लाडिने प्रीतम।
चलो चलें अव मडल चलिये, रस ढरिये मेरे लाडिले प्रीतम ।

(गलवाही डालकर द्रुत मे गाते हुए सिहासन से उतरना)
अजी-अजी तुम प्रीतम प्यारे । हा, हा, हा, जी श्री नंददुलारे ।

हे गोपीन के स्वामी, सपूर्ण व्रजभूमि के मित्र, रासलीला मडल के अधीश्वर, प्रेमरूपी कमलन के पान करिवे वारे भ्रमर रूप, चंचल नैनन वारे तथा कोमल चित्त वारे, मेरे प्रानिन हू सो प्यारे, आप तौ जव वोलौ हौ तव मेरौ अतर भाव समझि कै वोलौ हौ और नवीन-नवीन भावन द्वारा मोकू सुख दैवे के चितवन मे ही लगे रहे हौ, सो पधारौ और सखी परिकर कू सुख दै, रास रसामृत पान करो ।

दोहा— प्यारे रास विलास कौ, मोहि बडौ उत्साह ।
चलो चलें सब सखिन लै, नव निकुज के माँहि ।।१।।

ललिते रास-बिलास कौ, करहु प्रवध प्रवीन ।
सुदर साज समाज कौ, वाँधौ ठाठ नवीन ।।२।।

वीन बिसाखा जू गहे, चित्रा चित्र मृदग ।
साज सितार सुदेविजू, तुम ललिते मुँहचंग ।।३।।

सुर-मंडल चम्पकलता, रंगदेवी करताल ।
मधुर अलापै उच्च स्वर, इन्दुरेखिका वाल ।।४।।

गहैं तमूरा तुगिका, हितू विशाल रवाव ।
सारंगी श्री हरिप्रिया, ऐसौ बने बनाव ।।५।।

मनमोहन मुरली गहैं, मैं नाचूं करताल ।
नदी बहै पुनि प्रेम की, ऐसौ सजै समाज ।।६।।

वार्ता—हे प्रीतम, रास-विलास मे तौ मेरी अति ही उत्कंठा रहै है ।
अतएव आप सव सखी वृद कू सग लैकें नव निकुज मे पधारौ ।

तृतीय रूप

श्रीकृष्ण—ठुमरी—चलो हो किशोरी रस-रास मँझारी,
तुम ही हौ जीवन-धन, भानु की दुलारी ।
व्रज जुवती यूथ लै गाओ प्यारी,
प्रगटौ सगीत रीति दै कर तारी ।
चलो प्यारी, सुकुमारी, हूँ चेरौ वलिहारी,
तू ही है या वन की सम्पति सरूपा ।

तान अलापत राग अनूपा,
चलो प्यारी, सुकुमारी, हूँ चेरी बलिहारी ।

श्रीराधा— मामा पीपर मोद कठा, निकुजे रास-मडले ।
गम्यताम्, गम्यताम् प्रेष्ठ, गोपी युयादिर्भिमुदा ।।
(गलबाही डालकर नीचे उतरना)

चतुर्थ रूप

भानु दुलारी राधे, रूप उजारी स्यामा,
करिये कृपा गुनखान, आज पधारो मो उर सुख भारो ।
तिहारी बलिहारी, हमारी प्राण प्यारी,
मग जोवत सखी तिहारी, हाँ-हाँ भानुदुलारी ।

दोहा—बिनती मम वृषभानुजा, बिहरौ श्रीवन धाम ।
रास-रसिकनी रास कर, रस बरसौ अभिराम ।।
मुरली बजाऊँ, तुमको रिझाऊँ, मधुर स्वर गावौ, ये रस बढावौ ।
मो नैनन सुख उपजावौ, हा-हा भान दुलारी ।।

दोहा— रसिकन नदिया तैं अगम, बूड न पावै पार ।
किंतु तरें जो बूड कै, श्रीराधा नाम अधार ।
रसिकन राजधानी, श्रीराधिका महारानी ।
कृपा कर हेरौ, मैं चरनन चेरी, मग जोवत प्यारी तेरी ।
हाँ-हाँ भानुदुलारी ।

श्रीराधा—पद—(श्रीजी)—सुख विलसन कौ तुम पिय सिरजे ।
मारग प्रीति विचक्षण अतिही, होत दीन, मैं यद्यपि वरजै ।
भोरे हौ जु रुखाई मेरी, देखत पिय जिय आवत लरजै ।
वृदावन हित रूप रावरे मान पाय जलधर ज्यो गरजे ।

यासो आप वेगि ही रासमडल मे पधारिकै सखी परिकर कू आनद प्रदान करौ ।

उक्त सभी गीत-संवाद ऐसे हैं जिनमे प्रत्यक्ष रूप से प्रियतम-प्रियतमा (राधा) से रास मे पधारने का अनुरोध करते है, परंतु कुछ सवाद ऐसे भी हैं जिनमे यह प्रार्थना या अनुरोध परोक्ष रूप से किया जाता है । एक उदाहरण देखें

पचम रूप

पद— तुमहिं लगत हो मैं कैसी, श्रीराधा प्यारी।
बूझन की अभिलाष रहत मन, सकुच लगत मन ही मन ऐसो।
भोरो री गिनत चतुर कै भामिनि, अपने ही वदन बखानो जैसो।
वृदावन हित रूप पै बलि जाऊँ,तुम जो मिली मेरो भाग सो ऐसो।

(प्रियाजू)—पद—प्रीतम तुम मेरे दगन बसत हो।
कहा भोरे ह्वै पूछत हो, कै चतुराई करि जु हँसत हो।
लीजिये परखि स्वरूप आपनो,पुतरिन मे प्यारे तुमही लसत हो।
वृदावन हित रूप बलि गई, कुज लडावन हिय हुलसत हो।

श्रीराधा—पद—प्रीतम मेरे प्राणन हूँ तें प्यारो।
निसदिन उर लगाय रहौ हित सो, नेक न करिहौं न्यारो॥
देखत जाहि परम सुख उपजत, रूप रग गुण गारो।
जय श्री कमल नयन हित सुनि प्रिय,वैनन,तन,मन,धन सब वारो।

श्रीकृष्ण—पद—सो राधाप्यारी, तुम ही सौं लागत हो नीको।
मनि बिन फनि, दीपक बिन मंदिर, कुसम गध बिन फीको॥
धन बिन कोष, प्रजा बिन राजा, कहत जु लगत अली को।
रस की खानि राधिका रानी, रस विहार को टीको॥

ऐसा प्रसग होने पर कभी-कभी गोपिया भी श्रीराधा से रास मे पधारने की प्रार्थना यो कर देती है :

पद— चलिय राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यो श्याम तट कलिन्द-नदनी।
निर्तत जुवती समूह, रास रंग अति कुतूह,
बाजत रस मूल मुरलिका अनदिनी।
वंसीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय वहै वायु मदिनी।
जाती ईषद विकास, कानन अतिशय सुवास,
राका निशि सरद मास, विमल चंदिनी।
नरवाहन प्रभु निहारि, लोचन भरि घोष नारि,
नख सिख सौंदर्य काम दुख निकदिनी।
विलसहिं भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुखसिन्धु झेलि,
नव निकुज श्याम केलि जगत वदिनी।

कुछ मडलियो मे सखियो की प्रार्थना पर कृष्ण विना कुछ गाये ही श्रीप्रियाजी से कहते है .

कृष्ण—हे किसोरी जू आपके नित्य-रास-विहार कौ समय हे गयौ है सो कृपा करिकैं रासमंडल मे पधारौ।

श्रीराधा—पधारौ प्यारे।

इतना कहकर ही दोनो नीचे उतर आते है और रास-स्थल मे नाच के साथ निम्न रसिया अथवा इसी ढग का कोई दूसरा नृत्य गीत गाते हैं। इस रसिया के गायन मे सखिया दर्शक रहती है और बीच-बीच मे 'धन्य है', 'वलिहारी महाराज' आदि हर्ष-सूचक वाक्यो का उच्चारण करती रहती है। यह रसिया राधा-कृष्ण का युगल गान है जो कृष्ण से प्रारभ होता है।

लालजी—चितैं कृपा की कोर श्रीवृषभानु दुलारी।
प्रियाजी—प्रीतम नन्दकिशोर मोहन कुज बिहारी।
लालजी—चलिये सघन बन ओर री जोवन मतवारी।
बोलत चातक मोर, तहाँ फूली फुलवारी॥

प्रियाजी—मैं न चलूंगी वा ओर, तुम नटखट गिरिधारी।
लेत परायौ चित चोर, नीकी रीति तुम्हारी॥

लालजी—मधुर प्रति इक डोर री, नव गाँठ सुधारी।
शाह बतावत चोर, तुम चित चोरन वारी॥

प्रियाजी—रस बनितनि सिरमौर मैं तौ भोरी भारी।
पहिले माखन चोर, अब चितचोर बिहारी॥

लालजी—ब्रज बनितन सिरमौर अब भई भोरी भारी।
चरन सरन लई तोर, चेरौ कुजविहारी॥

नित्य-रास का प्रारभ

इस प्रकार प्रिया-प्रियतम की इस रास-मन्त्रणा पर सहमति के उपरात नित्य-रास मे गायन और नृत्य प्रारंभ होता है जिसमे सखिया भी समान रूप से भाग लेती है। जैसे ही प्रिया-प्रियतम नीचे उतरते है, सखिया भी उनके साथ ही पग मिलाती नृत्य-मुद्रा मे आगे बढती हैं। प्राचीन परपरा के अनुसार रास मे सर्वप्रथम राधा-कृष्ण व गोपियो का समूह गान होना आवश्यक है, परतु अब कुछ रास मडलियां जो नवीन ढग के राधा-कृष्ण के रास-प्रस्थान के रसिया (उक्त छठे क्रम के अनुसार) गवा देती हैं, वे प्रायः सामूहिक गान की उपेक्षा भी कर देती हैं। परतु नियमानुसार यह समूह नृत्य गायन रास का

अनिवार्य अग रहा है। रास के प्रारंभ मे गाये जाने वाले ऐसे समूह गायनो के कुछ रूप निम्न है।

प्रथम पद

आज गोपाल रास रस खेलत, पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।
शरद विमल नभ चद्र विराजत, रोचक त्रिविधि समीर री सजनी।
चपक वकुल मालती मुकलित, मत्त मुदित पिक कीर री मजनी।
देत सुधग रागरग नीको, व्रज युवतिन की भीर री सजनी।
मधवा मुदित निगान वजावत व्रत छांडो मुनि धीर री सजनी।
जै श्री हित हरिवश मगन मन श्यामा,हरत मदन धन पीर री सजनी।

द्वितीय पद

बाँसुरी वजाई आज रग सो मुरारी।
शिवसमाधि भूल गये ऋषि मुनि की तारी।
वेद पढत ब्रह्मा भूले, भूले ब्रह्मचारी॥ वाँसुरी०॥
रम्भा सम ताल चुकी, भूली नृत्यकारी।
जमुना-जल उलटि बह्यो, सोभा आज न्यारी॥ वाँसुरी०॥
वृदावन वसी वजी, तीन लोक प्यारी।
ग्वाल वाल मगन भये, व्रज की सव नारी॥ वाँसुरी०॥
सुदर स्याम मोहिनी मूरति, नटवर वपुधारी।
सूर के प्रभु मदनमोहन, चरनन वलिहारी॥ वाँसुरी०॥[१]

तृतीय पद

आली चलो, आली चलो, पनघट पर ठाडो छैल रोकै गैल।
वरजोरी मोरी गगरी फोरी॥ आली चलो०॥
अगर वगर झगर करत, ए ए ए, नदलाल जी।
मोसो कीनी वरजोरी, गागर मोरी फोरी, ए वइयाँ मरोरी।
कैसो निपट निडर झगर करत मानत नाँहि ए ए ए॥ आली चलो०॥

१ रास मे जो भी पद गाया जाता है उसी के अनुरूप दृश्य भाव व नृत्य के पद के साथ चलता है। उक्त पद गायन मे मडलाकार नृत्य के समय बीच-बीच मे कृष्ण मडल के मध्य मे नटवर वेश मे वासुरी-वादन का अभिनटन करते हैं और गोपिया उनके चारो ओर मडल वनाकर नृत्य करती हैं।

चतुर्थ पद

हाँ टेढी रे, हाँ टेढी रे,
हाँ तेरी टेढी नजरिया, हाँ श्याम हाँ ।[४]
गोकुल तेरी टेढौ, वृदावन तेरौ टेढौ,
हाँ टेढी टेढी रे, हाँ तेरी मथुरा नगरिया, हाँ श्याम हाँ ।
मुकुट तेरौ टेढौ, लकुट तेरौ टेढौ,
हाँ टेढी रे, हाँ तेरे मुख पै मुरलिया, हाँ श्याम हाँ ।
गली तेरी टेढी, कुज सब टेढी,
हाँ टेढी टेढी रे, हाँ तेरी जमुना किनरिया, हाँ श्याम हाँ ।

पंचम पद

आली चलौ, आली चलौ, निरखिये नवरग ।
स्याम सुभग अंग, खेलिये हरि सग ।
मुकुट लकुट भ्रकुटि मटक मुरली स्वर घोर ।
तिरछी करि मारि गयौ नैनन की कोर ।। आली चलौ० ।।
सोहै अली भानु लली भूषन सजि अंग ।
पायल धुनि स्रवन सुनत, लजति रति अनग ।। आली चलौ० ।।
ताथेई थेई, ततथेई थेई, नाचत भुज जोर ।
कोयल कल गान रटत नाचत बन मोर ।। आली चलौ० ।।
दोऊ रसिक दोऊ प्रेम मूरति चित चोर ।
निरखि निरखि 'स्याम सखी' डारत तृन तोरि ।। आली चलौ० ।।

षष्ठ पद

नाँचै छबीलौ ब्रजराज[५] छूम छननन ननन ।
ता ता थेई, ता ता थेई, चनन चपल आली ।। नाचै ।।
सजनी रजनी, सरस सरद ऋतु, आज सुफल आली ।। नाचै० ।।

४. यह अर्वाचीन पद है जो रासधारी मेघस्याम जी की रचना है, जो कुछ वर्ष पहले ही रास मे जोडी गयी थी । इस प्रकार की जोड-तोड रास मे स्वाभाविक रूप से होती रहती है ।

५ जब श्रीराधा आगे बढकर नृत्य मे पहल करती हैं तब समाजी बोलो मे परिवर्तन करके गा उठते हैं—'नाचें छबीली राधिका छूम छननन' तथा आगे उक्त बोल ज्यो के त्यो दुहरा दिए जाते हैं । इस प्रकार पद लबा हो जाता है, तथा कभी कृष्ण के तथा कभी राधा के आगे बढकर नृत्य करने से गायन मे नाटकीयता उभर उठती है ।

सप्तम पद

हाँजी रच्यौ रास रग, हाँजी रच्यौ रास रग, स्याम सबहिन सुख दीनो।
मुरली-धुनि कर प्रकास, खग मृग सुनि रस उदास,
युवतिन तजि गेह बास, बनहि गवन कीनो ॥ हाँजी० ॥
मोहे सुर, असुर, नाग, मुनि-जन मन गये जाग,
शिव, सारद नारदादि थकित भये ग्यानी।
अमरागत, अमर नारि, आई लोकनि बिसारि,
ओक लोक त्याग कहत, धन्य धन्य बानी ॥ हाँजी० ॥
थकित भयो गति समीर, चन्द्रमा भयौ अधीर,
तारागन लज्जित भये, मारग नहि पावै।
उलटि वहत जमुन धार, सुदर तन तजि सिंगार,
'सूरज' प्रभु नारि संग, कौतुक उपजावै ॥ हाँजी० ॥

रास मे माझों का प्रयोग

इस प्रकार आरभ मे सामूहिक गायन के साथ-साथ जब नृत्य होता है तो बीच-बीच मे समाजी स्वरूपो के बोलो को स्वय दुहराते हैं। जब स्वरूप गायन के बीच-बीच मे मडलाकार नृत्य करते है तब नृत्य मे प्रभावोत्पादकता की वृद्धि के लिए समाजी बीच-बीच मे मांझो का गायन भी करते हैं। व्रज के अनेक साहित्यकारो ने रास की इन माझो की रचना की है। वल्लभरसिक जी की माझ व्रज साहित्य मे बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। वे मांझो के सम्राट माने गये हैं। रास-नृत्य के मध्य मे गाई जाने वाली कुछ माझें व पद निम्न हैं। रास के समय के अनुसार विभिन्न रागो मे ये माझ द्रुत गति से नृत्य के साथ होने वाले गायन की लय के अनुरूप गाई जाती है। कभी-कभी छोटे पद भी माझो की भाति बोल दिए जाते हैं।

माझ (१)—प्रीतम रहैं प्रिया मन लीयें, प्रिया लियें मन पी कौ।
सखी रहैं दोऊनि मन लीयें, रग बढै अति नीकौ।
कानन छबि नित नई दिखावैं, प्रेम बढे नित ही कौ।
वृंदावन हित रूप विहारिनि, सकल तियनि सिर टीकौ।

(२) कोई रसिक स्याम रस पीवैगो, पीवैगो सोई जीवैगो।
पीवैगो सोई फूलैगो, तन मन देखि न भूलैगो।
पीवैगो सोई माचैगो, साधु सग मिलि राँचैगो।
चाखैगो सोई जानैगो, कहन कौन पतियावैगो।
'व्यास' दास जिय भावैगो, तब अग खबासी पावैगो।

(३) गिरधर नाचै सखिन सग ।
प्रेम उमग, दै गलबाही, मृदु मुसिकाई,
प्राणप्रिया राधाके सग ।
अतिही सुदर परम मनोहर सब मिलि नाचत अतिही सुढग ।
प्राणन प्यारौ नन्द दुलारौ रास रच्यौ बाढौ रस रग ।
सब व्रजनारी दै करतारी घूम घूम घूम नचत सुधग ।
घनश्याम, छबिधाम, पूर्णकाम, कौ वृंदावन नव रंग ।

(४) सुनि धुनि मुरली बन बाजै, हरि रास रच्यौ ।
कुज कुज दुम वेलि प्रफुल्लित, मडल कचन मणिनि खच्यौ ।
नृत्यत जुगल किसोर भली,जन मन मिलि राग केदारो सच्यौ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुज विहारी,
नीके आज गोपाल नच्यौ ।

वल्लभरसिक जी की दो माझ

(१) झमकि चली सग बाल हाल करतालनि लै लै गोरी ।
लाई गति मृदग उपजाई, झाँई बन घन घोरी ।
थेई थेई ततत्थेई, थेई थेई, थेई धुनि लै जोरी ।
बल्लभ रसिक विहारी प्यारी, प्यारी तान झकोरी ।

(२) नव नागर नट चटक मटक सो, मोर मुकुट छबि धारी ।
धारी छवि चटकीले दुपटा, लटकत छोर छटा री ।
किये प्रकाश रास-मडल पर, काछि, काछिनी न्यारी ।
बल्लभ रसिक कर लिये मुरली, सुर लिये तिय मन हारी ।

यह या इसी प्रकार की अनेक माझे रास के नृत्यो मे अलकरण का साधन है जो समूह नृत्य के समय विशेप रूप से गाई जाती है ।

प्रथम चरण (नृत्य)

इस समूह गायन के उपरात नित्य-रास का प्रथम भाग आरभ होता है जो नृत्य प्रधान है । प्रथम समूह गायन के समाप्त हो चुकने के बाद फिर रास के पात्र रास के इस प्रथम चरण मे नही गाते । वे केवल नृत्य करते है और नृत्य के पद और बोलो को इस प्रथम चरण मे समाजी ही गाते है । प्रधान समाजी समूह गान के उपरात गाता है ·

नाचत रास मे लाल विहारी ।[६] नचवत हैं व्रज की सब नारी ।
तादीम तादीम तत तत थेई थेई, थुगन थुगन लेत गति न्यारी ।

यह गीत पहले जब विलवित मे आरभ होता है तो श्याम श्यामा आमने-सामने नयनो से नयन मिलाकर मंडलाकार नृत्य आरंभ करते है। प्रिया-प्रियतम के आश्वं-पाश्वं मे सखीगण मडल की रचना को पूर्ण करती हुई नृत्य करती हैं। धीरे-धीरे समाजी उक्त गीत की लय वढाते हैं। वे पहले उक्त वोलो को दुगन मे वोल कर फिर तिगुन मे वोलते हैं और इसी क्रम से मंडलाकार नृत्य की गति वढती जाती है। तिगुन मे चार-पाच मडलाकार चक्कर लग जाने पर फिर सभी पात्र आमने-सामने मुह करके मडलाकार नृत्य मुद्रा मे वैठकर वाद्यो की ताल के साथ हाथ से ताल देकर तथा हाथ, ग्रीवा, मुख और कमर को हिलाकर भाव-प्रदर्शन करते हैं तथा इसके उपरात पंक्तिवद्ध खडे हो जाते हैं। इस पंक्ति के मध्य मे कृष्ण उनके वाम पाश्वं मे राधा तथा राधा-कृष्ण के दोनो ओर सखिया स्थान लेती हैं।

इस समय उक्त गायन की लय चौगुनी हो जाती है और तत तत थेई, तत तत्ता थेई, तत तत्ता थेई के स्वरो के साथ पृथक-पृथक परमलुओ पर क्रमश. पहले कृष्ण, फिर राधा तथा तदुपरात एक-एक व दो-दो गोपियो के जोड़े पृथक से नृत्य करते हैं। तततत्ता थेई के वोलो पर पाव वढ़ाते हुए प्रत्येक पात्र, नृत्य-कर्ताओ की पक्ति से निकल कर समाजियो के वैठने के स्थान तक पहले आगे वढते है और फिर पीछे मुडकर निम्न परमलु पर भावनृत्य करके ततत्ता थेई पर ही वापिस लौटकर यथावत नृत्य-पक्ति मे अपना स्थान (पूर्ववत) ग्रहण कर लेते हैं।

सर्वप्रथम 'तततत्ता थेई' पर कृष्ण आगे वढते हैं और निम्न परमलु पर नृत्य करते हुए भाव-प्रदर्शन करते है। नृत्य मे एक वार व उछलकर हाथो को भूमि पर टेककर एक धिलाग भी लेते है। उनके नृत्य का परमलु निम्न है :

तिकट तिकट धिलाग, धिकतक, तोदीन धिलाग, तक तो (यह बोल दो वार बोले जाते हैं)।

फिर—ता धिलग, धिग धिलग, धिकतक, तोदीम, तोदीम, धेताम धेताम,
धिलग, धिलग, धिलग, तत गदगित थेई।
तततत्ता थेई, तततत्ता थेई, तततत्ता थेई ॥

पुन : 'तततत्ता थेई' होने पर कृष्ण यथास्थान पहुच जाते है। उसके उपरांत

६ पाठभेद रासविहारी

'तततत्ता थेई' पर फिर राधा उसी प्रकार आगे बढती है। उनके नृत्य का परमलु इस प्रकार है—

तातू त्रंग, थुन थुन तो, धिकतू चग थुन थुन तो।
ता थुन थुन, धिक थुन थुन, थिक तक, थुंग थुग तक ।।
थुग थुग तक, थुग थुग थुग तक, गदगिन थेई।
तततत्ता थेई, तततत्ता थेई, तततत्ता थेई ।।

'तततत्ता थेई' के साथ राधिका भी ठीक कृष्ण की ही भाति यथास्थान पहुंच जाती हैं। इसके उपरात पुन. 'तततत्ता थेई' होने पर गोपियां क्रमश एक-एक या दो-दो के युग्म मे नृत्य के लिए पक्ति से बाहर निकलती है। सखियो के नृत्य के परमलु तीन है, जिन पर क्रमश सखियां नृत्य करती है। ये परमलु निम्न है—

(१) तत्तुक दम, धिरकिट तक, धिकतक, नग नग, तू तू त्रान तो।
तत्तुक दम, धिरकिट तक, धिकतक, नग नग, तू तू त्रान तो ।।
ता त्रांग, तत्ता त्राग, तत्ता ताग तद गदगिन थेई।
तततत्ता थेई, तततत्ता थेई, तततत्ता थेई ।।

(२) तक तक, झुन झुन, झुन कुट जैं जैं, कक्कू क्रान नव कुजय।
तक तक, झुन झुन, झुन कुट जैं जैं, कक्कू क्रान नव कुजय ।।
गिड गिड ताता, गिड़गिड ताता, थुगा गिडता, गद्गिन थेई।
तततत्ता थेई, तततत्ता थेई, तततत्ता थेई ।।

(३) तेजिक तेजिक तेजिक तेजिक त्री त्रेकता, जिजिक तत थेई।
तेजिक तेजिक तेजिक तेजिक त्री त्रेकता, जिजिक तत थेई ।।
जिजिक ततथेई, जिजिक ततथेई,
तेजिक तेजिक, तेजिक तेजिक, त्री तेजतिक थाता थेई।
तततत्ता थेई, तततत्ता थेई, तततत्ता थेई ।।

सखियो के नृत्य के उपरात पुन श्रीकृष्ण के नृत्य की बारी आती है। इस बार वे पहले की भाति ही तततत्ता थेई पर आगे बढते हैं और आगे अकित परमलु पर नृत्य करते है। इस बार के नृत्य मे वे उकडू बैठकर आगे व पीछे कुदान लगाकर नृत्य करते हैं तथा बैठते और खडे होते हैं। आगे अकित परमलु मे 'तद्दी' की दूसरी आवृत्ति होने पर वह पीछे की ओर कुदकते है तथा 'त्रान त्रान त्रान' के तीनो बोलो पर तीन कुदान आगे लगाकर खडे होते है। परमलु इस प्रकार है :

तद्दी तद्दी तद्दी तद्दी, धिकतक तद्दी[7] त्रान त्रान।
तद्दी तद्दी तद्दी तद्दी, धिक तक तद्दी, त्रान त्रान॥
त्रान, त्रान, त्रान, (तीन छलाग लगाकर खडे होना)
ततत्ता थेई, ततत्ता थेई, ततत्ता थेई।

कृष्ण के खड़े होने पर आगे-पीछे नृत्य करने के परमलु ये हैं जो पहले परमलु के साथ ही सलग्न हैं। इसके 'ताथा' बोलो पर कृष्ण एक हाथ से दूसरे हाथ पर ताल लगाते है। उक्त 'ततत्ता' थेई' आरभ होते ही नृत्य पक्ति के समीप पहुचते हुए श्रीकृष्ण पीठ की ओर पगताल देते हुए उल्टा चलकर अपने स्थान पर आते हैं और फिर निम्न परमलु पर घुटने के बल बैठ कर तीन बार हस्तचालन द्वारा भाव-प्रदर्शन करते हैं :

जिजिक तत थेई, जिजिक तत थेई, जिजिक तत थेई ता था।
जिजिक तत थेई, जिजिक तत थेई, जिजिक तत थेई ता था।
जिजिक तत थेई ता, जिजिक तत थेई ता, जिजिक तत थेई ता।

परमलु के यह तीन चरण बुल जाने पर कृष्ण परमलु के चौथे चरण पर घुटनो का नृत्य करते हैं जो इस प्रथम चरण का अतिम नृत्य होता है।

थेई थेई थेई थेई ता, ता थे थे थे, थे थे थेता, त्रिय ता, त्रिय ता,
त्रि तेगता, गदगिन थेई ता।[8]

घुटनो के नाच के उपरान कृष्ण के खडे होते ही रास मे 'ततत्ता थेई' के बोल अपनी पूरी लय मे उभरते हैं तो सब स्वरूप फिरकी लेकर एकसाथ द्रुतगति से नाच उठते हैं फिर फिरकी लेकर सिंहासन पर यथास्थान चढ कर बैठ जाते हैं।

घुटनो का नाच

रास मे भगवान कृष्ण का घुटनो का नृत्य सबसे अधिक प्रभावोत्पादक नृत्य है। यह नृत्य वास्तव मे मयूर-नृत्य की अनुकृति है। वह दृश्य विस्मयकारी होता है जब कृष्ण कटि-काछनी ऊची करके भूमि पर बैठकर घुटुओ के बल पर नाचने लगते हैं। यह नृत्य बडे वेग से होता है जो अपना अनोखा आकर्षण रखता है। भरतनाट्य की 'भ्रमरी' से यह नृत्य कुछ मिलता हुआ है। कृष्ण के इस नृत्य के समय सब सखिया 'धन्य है, धन्य है' पुकार कर रसोत्कर्ष मे

७. कोई-कोई रासधारी 'धिक तक तद्दी' के स्थान पर 'तद्दी तद्दी' ही बोलते हैं।
८ कुछ रासधारी उक्त परमलु के स्थान पर यहा निम्न परमलु से काम लेते है
त्रिदिक तत थेई, त्रिदिक तत थेइ।
त्रिदिक तत थेई ता, त्रिदिक तत थेई ता, त्रिदिक तत थेई ता।

स्वामी हरिदास :
रास के अनन्य रसिक
और प्रमुख संस्थापक

महाप्रभु
हित हरिवश

रासमच का शृगार-गृह

वृदावन के चैनघाट पर महाप्रभु हित हरिवशजी द्वारा स्थापित रास रगमंच का वर्तमान रूप। मध्य मे सीढीवाला सिहासन है, जिसमे रास के समय राधाकृष्ण विराजमान होते है।

ब्रज की
रासलीला

रास से प्रभावित
एक प्राचीन चित्र

कुषाण-कालीन एक नृत्योत्सव, जिसमे
व्रजवालाए नाच-गाकर आनंदमग्न है।

रासलीला : एक प्राचीन चित्र

राधाकृष्ण का
युगल-नृत्य

माखन चोरी की
एक मुद्रा

रास मे
घोटुहो का
नाच

कमल की
मुद्रा मे
रास-नृत्य
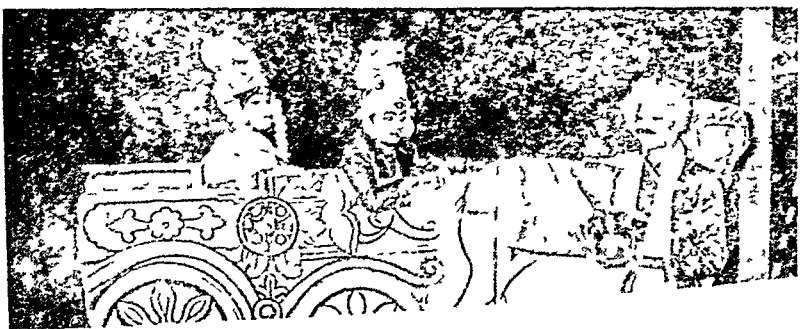
रास मे
परदे के द्वारा
यमुना जी
का चित्रण

रासलीला . एक छवि

राधाकृष्ण · रास की एक रमलीन मुद्रा

ब्रज लीला मंच द्वारा प्रस्तुत
रासलीला मे नृत्य करते
श्यामा-श्याम

और भी सहायक हो जाती है। भूमि पर फिरकी लेते कृष्ण यदि परमलु समाप्त होने पर भी मडलाकार चक्कर लेते रहते है तो समाजी निम्न परमलु—

थेई थेई थेई थेई, तत्त थेई थेई।

थेई, थेई, थेई, थेई, थेई, थेई, थेई, ता'। बोलकर उसे समाप्त कराते है। स्वरूपो के सिंहासन पर विराजमान होने पर फिर मुख्य समाजी द्वारा विलबित मे 'टूट परी मोतिन की माला बीनत फिरत गुपाल' अथवा ऐसा ही कोई पद उठाया जाता है। उमे सुनकर श्रीकृष्ण सिंहासन से चुपचाप नीचे उतरकर ३-४ डग रखते है तथा पुन॰ श्रीराधा की ओर उन्मुख होकर धीरे-धीरे सिंहासन पर चढ कर उनकी चद्रिका, साडी, माला, कुडल आदि सवारने का अभिनय करते हैं, तथा गीत समाप्त हो जाने पर उनके हाथ जोडकर अपने स्थान पर विराज जाते हैं।[९] इस प्रकार नित्य-रास का यह प्रथम चरण (नृत्याश) समाप्त होता है।

विश्राम-काल

इस बीच यदि आवश्यक हो तो स्वरूपो के आगे पर्दा लगा दिया जाता है। इस समय भक्तवृद पान आदि से तथा पखा झलकर पर्दे के अदर स्वरूपो का श्रम विमोचन भी कर सकते हैं। समाजी इस समय अपने समयोचित गायन का क्रम रासारभ की ही भाति पुन. आरभ कर देते है। यह पद भी उसी प्रकार के होते है जैसे रासारभ के समय गाये जाते है। प्रथम समाजी जिस भाव का पद कहता है, दूसरे समाजी भी उसी भाव के पदो का गायन करते है। यह विश्राम लगभग १० मिनट का होता है।

श्रीकृष्ण का प्रवचन

आज से १५-२० वर्ष पूर्व इस विश्राम के बाद ही नित्य-रास का दूसरा चरण प्रारभ हो जाता था, परतु पिछले वर्षों मे इस प्रथम विश्राम के उपरात रास मे भगवान कृष्ण के प्रवचन की परपरा और जुडी है। इससे पूर्व किसी-किसी मडली मे एक सखी का छोटा सा प्रवचन पहले होता था जिसमे रास, रासविहारी या लीला-भूमि व्रज की महत्ता का प्रतिपादन होता था, परतु वह रास का कोई सबल और प्रबल अग न था। रास मे कृष्ण के प्रवचन की यह परपरा वृदावन के एक साधु श्री प्रेमानद जी ने स्थापित की है। सर्वप्रथम उन्होने ही एक प्रवचन लिखकर उसे कृष्ण के एक पात्र को दिया था, जिसे श्रोताओ ने बहुत पसद किया, तब से प्रवचन की यह परपरा रास मे लोकप्रियता प्राप्त कर

९ पिछले वर्षों मे यह परपरा भी रास से लुप्त हो चुकी है।

दृष्टि परै है वही वही स्याम ही स्याम दीखिवे लग जाय है ।

दोहा—लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं हू है गई लाल ।

वार्ता—यह है तन्मयता कौ स्वरूप । यह भीतर हृदय मे हू छाय जाय है और बाहर जगत मे हू । ऐसौ प्रानी मोकू मदिर मे या एक मूर्ति मे ही नही देखै है । वह तौ सर्वथा सर्वत्र ही मोकू देखै है । परतु यह तन्मयता आवै कैसे है ? यह आवै है कोई एक भाव या साधना सो । मोकू पुत्र मानकें वात्सल्य-भाव सो, सखा मान कै सख्य भाव सो, कान्त मानकै मधुर भाव सौं, शत्रु मानकै बैर भाव सो । काम क्रोध करिकें हू कस शिशुपाल की तरह मेरे ही स्वरूप कू प्राप्त है जाय है । सूर्य उदय होय और अधकार दूर नही भयौ तौ वह सूर्य ही कैसौ ? ऐसे ही यह जीव मोसो काम क्रोध करै और वैसौ ही बन्यौ रहै वह तीन काल हू मे न भयौ और न होयगौ । यह है विषय सबध कौ चमत्कार । जहा मैं विषय हू वहां काम-क्रोध जैसे अधर्म हू परम धर्म बन जाय हैं, और जहा जीव विषय है वहा दया दान जैसे धर्म हू अधर्म है जाय हैं ।

तुक—काम नरक कौ द्वार कहायौ, गोपीन काम सो गोविंद पायौ ।
काम नाम तहाँ प्रेम धरायौ ॥

दो०—ब्रज गोपीन के भाग्य कू ब्रह्मा शिव ललचात ।
रमा तपस्या कर रही, उद्धव पद-रज न्हात ॥
काम होय ब्रज गोपिन कौ सौ, मोकू लीयौ नचाय ॥ भाव० ॥
रावण कौ सौ वेर बढावै, गारी ज्यो शिशुपाल सुनावै ।
कस ज्यो भय सो नीद नसावै ॥

दो०—अपने हाथन मारिकै, तारो कुल परिवार ।
भक्त तेरें कछु काल मे, (सौ) बैरी छिन मे पार ॥
भले बुरे सब भाव की डोरी, बाँधो मम पग लाय ॥ भाव० ॥
मोह बढावै लाडली लाल सो, लोभ करै मो मोहन ग्वाल सो ।
मान करै नटखट नदलाल सो ॥

दो०—चोरी करौ (तौ) मो चोर हित, छल छलिया के काज ।
द्वार बंद यमराज कौ, खुलै 'प्रेम' कौ राज ॥
सब धर्मन कू छोड भजौ मोहि, परम धर्म यह भाय ॥ भाव० ॥

श्लोक—सर्व धर्मान परित्यज्य, मामेक शरण ब्रज ।
अहन्त्वा सर्व पापेभ्यो, मोक्ष वस्यामि मा शुचि ॥

जाने अपने भले बुरे भावन की पूजी कू मेरे अर्पण कर दियौ है वह

दुराचारी हू मेरे पास आय जाय है, जानै मेरे अर्पण नही कियौ वह धर्मात्मा हू स्वर्ग नरक मे भटकतौ लटकतौ रहि जाय है। और जब वह जीव मेरे सनमुख आय जाय है तौ—

मैं नही देखूं कैसे आयौ।
कौन भाव हिरदय मे लायौ।
कैसें हूँ मो ढिग तौ आयौ।
दो०—सनमुख होत ही कर दऊँ कोटि जन्म अघ नास।
एक बार कैसेंहु तौ, आवै मेरे पास॥
मैं तौ भुजा पसारे ठाडौ, तू कब आवै धाय॥ भाव०॥

और—

आवत ही मैं हृदय लगाऊँ।
भय हर लऊँ सब दुख नसाऊँ।
अपनी बाँह की छाँह बसाऊँ।
दो०—जो तू आवै एक पग, मैं आऊँ पग साठ।
जो तू करो काठ सौ, मैं लोहे की लाठ॥
'प्रेमानंद' मो प्रभु के चरनन, तन मन देय चढाय॥ भाव०॥

प्रवचन का दूसरा उदाहरण

रसिया—जो रस बरसि रह्यौ ब्रज माँही, वाकौ दर्शन त्रिभुवन नाहिं।
दरसन त्रिभुवन नाहिं, वह रस तीन लोक मे नाहिं॥

वार्ता—अ हा हा! वह कौन सौ रस है जो ब्रज मे तौ बरसि रह्यौ है और अन्यत्र तीनो लोकन मे बरसिबौ तौ कहा वाके दर्सन हू दुर्लभ है। वह है प्रेम-रस।

प्रेम दो प्रकार के होय है: एक प्रेम तौ भक्ति-रूप है, दूसरौ रस-रूप है। ज्ञान मिश्रित प्रेम तौ भक्ति-रूप है और ईश्वर ज्ञान-शून्य प्रेम रस-रूप है। श्रीकृष्ण भगवान सब प्रकार सो हमसो बडे है, हमारे रक्षक है, हमारे पूज्य हैं, या प्रकार कौ ज्ञान जा प्रेम मे मिलौ भयौ रहे है वह ज्ञान मिश्रित प्रेम कहावै है। ब्रज सो बाहर मथुरा, द्वारका, अयोध्या, वैकुंठ धाम मे यही ज्ञान मिश्रित प्रेम है। परंतु ब्रज के प्रेम मे या ज्ञान की मिलावट नही है। ब्रज मे मोकू ईश्वर करिकै नही माने हैं। अपनौ ही जैसौ गोप ग्वारिया करिके मानें हैं और मान करिकै प्रेम करें हैं। याही मो ब्रज कौ प्रेम विशुद्ध रस-रूप है, बडो ही मधुर है, याके स्वाद मे बड़ौ ही चमत्कार है। याके प्रेम-रस दर्शन सो मैं हू चमक उठू हूं और संसार हू चमक उठै है। मैं माता जसोदा के स्नेह-रस मे

अपनी ईश्वरताई कू मूल के वबि गयौ तबहू ससार चमक उठ्यौ कि ऐसौ प्रेम व्रज कू छोड़ अन्यत्र कहू नहीं है। यह है व्रज के वात्सल्य-रस कौ चमत्कार। और सब सखान के संग अपनी ईश्वरताई कू भूल, उनकू अपने कंधा पै चढाय लियौ तबहू समार चमक उठ्यौ कि ऐसौ सखा व्रज कू छोड़ि अन्यत्र कहू नहीं है। यह है व्रज के सख्य-रस कौ चमत्कार। और जब व्रज गोपिन के सग रास मे अपनी ईश्वरताई भूलि, उनके चरन दवायवे लग्यौ तब हू ससार चमक उठ्यौ कै ऐसे रसिक शिरोमणि व्रज कू छोड़ अन्यत्र कहू नही है। यह है व्रज के मधुर रस कौ चमत्कार।

श्लोक—लीला प्रेमणां प्रियाधिक्य, माधुर्यो वेणु रूपयो ।
इत्य साधारण प्रोक्त, गोविन्दस्य चतुस्तय ॥
चतुर्व्वमाधुरी तस्य, व्रज एव विराजते।
ईश्वर क्रीडयोर वेणासु, तथा श्री विग्रह सच ॥

ये जो व्रज की चार प्रकार की माधुरी हैं बिनके कछु दृष्टांत सुनो। एक ओर तौ मेरौ श्याम रूप, दूसरी ओर मेरे अन्य अवतारन के रूप—

सूकर है कब वशी बजाई।
नरसिंह बन कब गैया चराई।
कछुआ बन कब गोपी नचाई।
मछली बन कब चीर चोर मैं, चढ्यौ कदम पै जाय॥ जो रस०॥

जो कहुँ देखती जसुमति माता।
बाँधि जो लेती (मेरे) कैसे हाथा।
लम्बे देव की वह झाँकी, कहाँ यह झाँकी व्रज माँहि॥ जो रस०॥

नरसिंह बन गैया जो घेरतौ।
धौरी धूमर कहिकै टेरतौ।
एकहु कौ कहुँ खोज न पावतौ।
रह जाते नरसिंह जी इकले, गोपी ग्वाल न गाय॥ जो रस०॥

अहा हा। जा समय मैं अपनी वशी मधुर-मधुर स्वरन सो बजाऊ हू तौ सब ग्वाल गैया मेरे पास आय जाय है और गैया तौ मेरे अग कू चाटिबे लगि जाय हैं। यदि मैं नरसिंह भगवान बन जाऊ तौ न मेरे पास कोई गैया रहेगी न ग्वाल, फिर तौ रह जायेंगे नरसिंह जी अकेले ठठनपाल, मदन गुपाल।

यदि अबही यही रास मे मैं कछुआ भगवान बन जाऊं, तौ मेरौ रास यही समाप्त है जायगौ और रास की जगह भयानक रस की लीला प्रारंभ है जायगी। यासो ये मेरे कच्छ मच्छ, नरसिंह, वाराह, त्रिविक्रम, रूप तौ दण्डवत्

प्रणाम करिवे के ही योग्य हैं। गोदी मे खिलाइवे और गलवैया दैकै विहार करिवे योग्य मेरो रूप है नदलाल। यह मेरो रूप मब रूपन मे मधुर और व्रज की लीला सब लीलान मे सिरोमणि है। याही सो 'जो रस वरस रह्यो व्रजमाँही वाको दरसन त्रिभुवन नाय। और अयोध्या मे तो मैं राजकुमार हू परतु व्रज मे एक गोप कुमार हूं। राजकुमार की प्रजा राजकुमार कै दूर सो दर्शन करि सकै है। जादा मे जादा चरन स्पर्श करि सकै है, परनु मो गोप कुमार के सग व्रजवासी जो चाहे सो करि सकें हैं। वे मेरे सग खाय सकै है, खवाय सकें हैं, सग मे नाच सकें हैं, मोकू नचाय सकें है। वे मोकू पीट सकै है और पिटहू सकें है। ऐसो सुलभ और ऐसो उदार मेरो रूप कौन से धाम मे है ? यही सो 'जो रस वरस रह्यो व्रज माही सो रस तीन लोक मे नाय।' कहू मैं निकुजराज बनि कैं अखड विहार कर रह्यो हू, कहू विश्वभर बन ससार को पालन-पोसन करि रह्यो हू, परंतु ठीक नर लीला तो गोपाल बन कैं नद जसोदा के आगन मे ही करि रह्योऊ। याही सो —'जो रस वरस रह्यो व्रज माही सो रस वैकुठहु मे नाय।' और व्रज मे .

रथ विमान मैं नाँय चढैया।
गरुड पीठ पैं नाहि उडैया।
पहनूं न कबहूँ पाँय पन्हैया।
नगे पायन वन वन डोलूं,
व्रज रस सम कहूँ नाहि जो ०॥

वार्ता—अ हा हा ! व्रज मे मैं सदैव नगे पायन सो भ्रमण करतो रहू हू याही कारण सो व्रज-रज के एक-एक कण नें पद-पद पै मेरे चरन की छाप पाई है। याही कारण सो व्रज की एक-एक रेणुका को कोटि कोटि तीर्थंन सो हू अधिक महिमा है।

दोहा—तजिकें वृंदाविपिन कू, आन तीर्थ जो जात।
छाँडि विमल चितामणी, (सो) कौडी कू ललचात॥

याही सो—

जो रस बरसि रह्यो व्रज माँही सो रस वैकुठहु मे नाँय।

(श्री दान विहारी गोस्वामी, नंदगाव से साभार)

प्रवचन के साथ होने वाले गायन से उसका आकर्षण बहुत अधिक बढ जाता है, इसके दो कारण हैं।

(१) गायन की पृष्ठभूमि प्रवचन मे प्रस्तुत हो जाने से उसकी प्रभावोत्पादकता बढ जाती है।

(२) रास मे नृत्य का स्तर गिर जाने के कारण समूह-नृत्यो का आकर्षण

जाता रहा है परतु प्रवचन के उपरात प्रधान रूप से कृष्ण ही नृत्य व गायन करते है। प्रत्येक मडली सबसे अधिक ध्यान कृष्ण के स्वरूप पर ही देती है। प्राय वही मडली के सर्वश्रेष्ठ कलाकार होते है, अत. इस नृत्य व गायन का स्तर पूर्व नृत्यो से अपेक्षाकृत उन्नत होता है। यही कारण है कि प्रवचन के बाद के नृत्य और गायन मे बहुत से भक्त भगवान पर रुपया न्यौछावर करके उनके चरण-स्पर्श करते हैं। इस प्रवचन के आयोजन से मडली को अतिरिक्त आय हो जाती है।

द्वितीय चरण (गायन प्रधान)

प्रवचन समाप्त होने पर कृष्ण जैसे ही अपने स्थान पर विराजते है कि प्रधान समाजी पुन 'ततत्ता थेई' बोलकर सब स्वरूपो का पुनः रासभूमि पर आह्वान कर लेता है। सब स्वरूप पहले की भाति ही पुनः रास के दूसरे चरण को समूह-गायन से प्रारभ करते हैं। यह समूह-गायन प्राय वे ही है जिनसे रास प्रारंभ होता है और जिनमे से कुछ पद पहले उद्धृत किए जा चुके है।

पहले समूह-गायन व नृत्य के उपरात पुन इस द्वितीय क्रम मे राधा-कृष्ण तथा गोपी व कृष्ण के गायन तथा नृत्य आदि होते है। प्रथम चरण मे जहा नृत्य प्रधान है वहां नित्य-रास के इस द्वितीय चरण मे गायन प्रधान रहता है और नृत्य उसके सहयोगी के रूप मे उसकी प्रभावोत्पादकता की वृद्धि करता है।

समूह-गायन के बाद यह मंडली के स्वामी के विवेक, मडली के स्तर और श्रोताओ की इच्छा पर निर्भर करता है कि रास मे क्या गाया जाय। समय के अनुसार रास के इस अग को यथा आवश्यकता छोटा बडा भी किया जा सकता है। यदि रास के बाद कोई लबी लीला होनी हो तो समूह-गायन के बाद ही यह चरण समाप्त हो सकता है। वैसे यह समूह-गायन भी धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। अब कुछ मडलिया प्रवचन के साथ ही नित्य-रास समाप्त कर देती हैं परतु यह पुरानी परिपाटी के विरुद्ध है।

नित्य-रास के प्राचीन क्रम के अनुसार समूह-गान के उपरात रासमडली प्रायः राधा-कृष्ण का युगल गान या गोपी-कृष्ण के नृत्य व गायन कराती है। कभी-कभी कोई भावपूर्ण पद स्वयं कृष्ण ही गाकर भाव-प्रदर्शन करते हैं और राधा उनके साथ नृत्य करती हैं। उदाहरण के लिए कुछ वर्षो पहले चाचा वृंदावनदास जी का यह पद नृत्य के साथ कृष्ण गाकर भाव-प्रदर्शन करते थे और राधा उनके साथ नृत्य करती थी। अब इन भाव भरी कठिन बदिशो को रास-धारी भूलते जा रहे हैं—

ठाडी रहि री लाड लडैती मैं माला सुरझाऊँ ।
नक वेसर की ग्रथि जो खुलि गई ताऊ ए सुगढ वनाऊँ ।।
टेढी चाल चलत हौ प्यारी, सूधी चलन सिखाऊँ ।
वृदावन हित रूप रसिकवर, तेरे ही गुन गाऊँ ।।

बीच-बीच मे उक्त पद की पंक्तियो के साथ—राधे रानी हा हा हा जी, स्यामा प्यारी हो हो हो जी, राधे प्यारी श्री राधा, के सपुट गायन के बीच मे लगाकर कृष्ण का नृत्य होता था ।

युगल गान

अब रास के कुछ ऐसे युगल गान देखिए जिसमे या तो प्रिया-प्रियतम दोनो ही गाते या नृत्य करते है अथवा गोपियो के साथ श्रीकृष्ण नृत्य और गायन करते हैं । यह गीत के विशेष आकर्षण रहे है ।

समूह मे—

प्रानन प्यारी बाँसुरिया
सुदर स्याम सुजान सँवरिया अब न बजावो बाँसुरिया ।

सखी—यह सुनि मोहे सुर मुनि ज्ञानी
ब्रह्मादिक सनकादिक ध्यानी ।

कृष्ण—यह वशी मोहे लागत प्यारी ।
या पै तन मन धन वलिहारी ।

सखी—चैन नही दिन रैन सँवरिया, सूझत नही मोहि डागरिया ।

दो०—या वशी के बजत ही, छूटत सबके ध्यान ।
सुधि बुधि ना रहि बदन की, बिसर गई कुल कान ।
सँवरिया धुनि सुन है गई बावरिया ।। सुन्दर स्याम ।।

कृष्ण—(दोहा) या वंशी की फूंक पै, गोवर्धन लियो धार ।
वशी के बल सो परो, नाम मेरो गिरधार ।।
नाम मेरौ गिरधार सखी सुन, प्रानन प्यारी बाँसुरिया ।। सु० ।।

रसिया

लालजी—राधे वृषभानु कुँमारि, ठाडी यमुना के तीर ।
गज गामिनी भामिनी सुघर, चूनर रंग सुरंग ।
मुख लखि शशि लज्जित भयो (राधे) रभा रति चित भग ।।
राधे सकल सुखन की सींव, ठाडी जमुना के तीर ।।

श्रीजी—मोर मुकुट कर बाँसुरी (रे) गावत राग सुदेस ।

कटि पट पीत सुहावनौ (प्यारे) घूँघरवारे केस ॥
मो मन फँसि गयो प्रेम जजीर, ठाडी जमुना के तीर ॥

लालजी—राधे वृषभानु कुँमारि ठाड़ी जमुना के तीर।
श्रीजी—जारूँ वैरिन बाँसुरी (रे) मिलै अकेली गोय।
लालजी—यह वसी मो मन वसी (राधे) टेर बुलावै तोय ॥
दर्शन विन मन रहत अधीर। ठाडौ जमुना के तीर ॥

श्रीजी—जात पाँत याकी कहा (रे) क्यो राखी मुख लाय।
लालजी—प्रीति करै सो जाति न पूछै, (राधे) हृदय ते लेय लगाय ॥
जब उर उठत विरह की पीर। ठाडी जमुना के तीर ॥

इस प्रकार के कई युगल-गान रास मे प्रचलित रहे हैं।

अब रास का एक ऐसा नृत्य गीत देखिए जिसमे राधा-कृष्ण दोनो मिलकर नृत्य करते हैं और एक-दूसरे के परिधानो का वर्णन (गायन) करते है। इस गायन के समय सखी पीछे वैठी रहती है। वे नृत्य नही करती पर गायन मे योग देती है।

श्रीकृष्ण—नीलाम्बर धारिन श्री बिहारिन, अरी एरी आली नचत लाडिली नचत।
श्रीराधा—व्रज भूषण भूषित अति सुदर, अरी एरी आली, नचत लाडिलो नचत।
सखी—अरी एरी आली नाचत युगल वर नचत।
श्रीकृष्ण—नचत लाडिली।
श्रीराधा—नचत लाडिलो।
सखी—अरी एरी आली नचत युगल छवि नचत।

कभी-कभी रास मे शृखलाबद्ध पद भी गाये जाते है, जिनमे पक्ति से पक्ति का उत्तर न देकर पद से पद का उत्तर दिया जाता है। जैसे—

श्रीकृष्ण—पद. तुव मुख नैन कमल अलि मेरे।
पलक न लगत पलक विनु देखे, अरवरात अलि फिरत न फेरे ॥
पान करत मकरद रूप रस, भूल नही फिर इत उत हेरे।
'भगवत रसिक' भये मतवारे, घूमत रहत छके मद हेरे ॥

श्रीराधा—पद: पिय तोहि नैनन ही मे राखो।
तेरी एक रोम की छवि पर, जगत वारि सव नाखो ॥
मेटो सकल अग साँवल कौ, अधर सुधा रस चाखो।
'रसिक प्रीतम' संगम की वाते, काहू सो नही भाखो ॥

श्रीकृष्ण —पद . तुम मुख चंद चकोर ये नैना ।
अति आरति अनुरागी लपट, भूल गई गति पलहू लगे ना ॥
अरबरात मिलिबेको निसिदिन, मिलेई रहत,मनो कबहू मिलै ना ।
'भगवत रसिक'रसिक की बातें,रसिक बिना कोऊ समुझि सकै ना॥

खेद है कि वर्तमान मे रास मडलिया संगीत का प्राचीन स्तर नही बनाए रह सकी हैं और वे रसियाओ मे गायन की सामग्री का चयन कर लेती हैं। प्रसिद्ध रासधारी मेघश्याम जी ने पिछले दिनो ऐसा बहुत सा रास-साहित्य लोक धुनो मे रच दिया है, जिससे साधारण कोटि के दर्शक को भी कृष्ण-लीला का रस मिल जाता है और उसे रास मडलिया साधारण अभ्यास से ही प्रस्तुत करने मे सफल हो जाती है। अत. इस साहित्य को ही अब अधिकाश मडली अपना रही है ।

दडा-वादन

कभी-कभी रास के अत मे दडा बजाकर भी नृत्य व गायन होता है। लगभग एक फुट चौडे दो दडे सभी स्वरूपो के हाथ मे दे दिए जाते हैं। वे उन्हे अपने इधर-उधर के पात्र के हाथो के दडो पर प्रहार करते हुए परस्पर बजाते हुए मडलाकार नृत्य करते हैं। दडो की लय बढने के साथ-साथ यह गीत द्रुत मे गाया जाने लगता है .

हे घनस्याम सुदर स्याम हमारो प्यारो री ।
प्रानन प्यारो, छलबल वारो ॥
नैनन की सैनन सो चितवा चुराय लियो ।
जादू मोपै डारो री । हे घनश्याम० ॥
मोर मुकुट माथे पै सोहै ।
कुडल हलन चलन मन मोहै ॥
था किट धुमकिट, ताकिट तक ।
तक धुम किट, धुम, किट तक था ॥
लेत अलापन प्यारो री, हे घनस्याम० ॥

दडा-वादन के साथ मीरा जी का यह पद भी प्राय आसावरी राग मे गाया जाता है .

पपीहा काहे मचावै सोर ।
अमुआ की डारि कोयलिया बोलै, बन मे बोलें मोर ।
जो सुनि पावै बिरहा की मारी, डारेगी पख मरोर ॥
पिया हमारे गये परदेसन, मैं बैठी मुख मोर ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, चरन कमल चित चोर ॥

झूमर गूथना

उक्त दोनो गीतो को गाकर पहले रास मे झूमर भी गूथा जाता था परतु अब यह परपरा समाप्त हो गई है। यह झूमर लकड़ी का होता था जिसके विभिन्न सिरो पर चार या छ. डोरिया नीचे तक लटका करती थी। प्रत्येक स्वरूप डोरी हाथ मे पकड़ कर गायन आरभ करता था तथा गाते हुए परस्पर पात्र नृत्य-मुद्रा मे एक-दूसरे से अपने स्थान इस प्रकार बदलते थे कि उससे झूमर की डोरिया गुथ कर एक हो जाती थी। झूमर गुथ जाने पर फिर उसे गीत के साथ ही स्थान बदल कर पुन खोलकर पूर्व स्थिति मे ला दिया जाता था।

रास का यह झूमर नृत्य गुजरात के गर्बा नृत्य से एकदम मिलता-जुलता है। भगवान कृष्ण के साथ व्रज की सस्कृति द्वारका (गुजरात) पहुची थी। पता नही यह झूमर गूथन की परपरा रास-नृत्यो से गुजरात मे जाकर गर्बा बन गई या गुजरात के गर्बा नृत्य ने व्रज के रासधारियो को झूमर गूथना सिखाया था।

इस प्रकार नित्य-रास भरत द्वारा वर्णित ताल-रासक, मडल-रासक और लकुट-रासक का समन्वित वर्तमान स्वरूप है परतु खेद है कि इसका स्तर निरतर ह्रासोन्मुखी है।

झांकी सज्जा

'नित्य-रास' का गायन-प्रधान यह दूसरा चरण पूरा होने पर स्वरूप पुन. 'लाड़िली लाल की जय' के साथ सिहासन पर विराज जाते है और उनके आगे पर्दा कर दिया जाता है। पर्दा होते ही शृगारी लोग कभी केवल कृष्ण की और कभी राधा-कृष्ण दोनो की झाकी वही सिहासन पर ही रग-बिरगे परि-धानो से तैयार कर देते है।

यह झांकी जहा एक ओर साधारण उपकरणो से ही प्रस्तुत रास के शृंगारियो की अद्भुत कलात्मक क्षमता की साक्षी है वहा वह रास-मडली के लिए धन जुटाने का भी एक समर्थ साधन है। झाकी सजाने की यह परपरा नित्य-रास मे हाल मे ही विकसित हुई है। पहले रासलीला मे प्रसंग के अनुरूप झाकी तो बनाई जाती थी परंतु नित्य-रास के अंत मे अनिवार्य रूप मे झाकी-दर्शन कराना आवश्यक नही था। अब यह झांकी नित्यरास के अत मे इसलिए आवश्यक हो गई है कि झाकी की प्रभावोत्पादक सज्जा रास मंडलियो की आय का एक सुदर साधन सिद्ध हुई है। भक्त वृद झांकी-दर्शन से भाव-विभोर होकर भगवान के चरण स्पर्श करते हैं और यथाशक्ति वस्त्रादि और द्रव्य न्यौछावर करते हैं जो रास मंडली के स्वामी की आय का एक अच्छा साधन है। पहले

२

रास का लीला-साहित्य

देवलीला और नरलीला

पिछले अध्याय मे हमने रास-साहित्य की चर्चा करते हुए लिखा था कि भगवान कृष्ण के गोलोक के नित्य-रास और अवतरित-रास मे अधिक भेद नही है। यदि इस रास मे कोई भेद है तो यही कि गोलोक का रास केवल नित्य-सिद्धा गोपियो तक ही सीमित था परंतु व्रज वृंदावन मे वही अधिक व्यापक हो गया और उसमे भक्तो के अन्य वर्ग और सम्मिलित हो गए जो विभिन्न प्रयोजनो से व्रज मे गोपी रूप मे प्रकट हुए थे, परंतु भगवान की व्रज-लीलाओं के सबध मे, जिनका अनुकरण (प्रदर्शन) रासलीला मे होता है उक्त बात लागू नही होती। इसका कारण यह है कि गोलोक की देवलीला और भगवान कृष्ण की व्रज की नर-लीलाओ मे समानता नही की जा सकती। गोलोक लीला की चर्चा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते है

"भगवान की जो नित्य रिरसावृत्ति (रमण करने की लालसा) है, वही सच्चिदानदमयी लीला मे सदा अभिव्यक्त होती रहती है। यह नित्य लीला गोलोक मे होती है। गोलोक की नित्यलीला प्रपंच गोचर न होने के कारण 'अप्रकट' लीला कही जाती है। इसमे विरह भाव का अभाव रहता है, अतएव यह देवलीला है। भगवान के सभी लीला सहचर इसमे नित्य विराजमान रहते हैं।"

परतु जब देव कृष्ण नर बन कर आता है तो 'जस काछिय तस चाहिय नाँचा' के अनुरूप उसे देश, काल और परिस्थितियो से प्रभावित होना पडता है। उसी के अनुसार उसे लीलाएं भी करनी होती हैं। उदाहरण के लिए कारागृह मे जन्म, गोकुल-गमन, या असुरो के साथ कस के वध की समस्त लीलाए या व्रज को छोडकर भगवान के मथुरा वास का प्रसग जिसके कारण व्रज के कवियो के अनुसार गोपियो को असह्य वियोग सहना पडा, व्रज की नरलीला मे ही सभव था, गोलोक धाम की नित्य नियमानुसार चलने वाली संयोग-लीलाओ मे

ब्रज की लीलाओ की सी यह विविधता और छटा नहीं पाई जा सकती । आचार्य द्विवेदी जी ने इसीलिए कहा है :

"जहा विरह की आशका नही, नयन कक्ष मे अश्रुजल का भार नही, हृदय मे मिलनोत्कठा नही,प्राणों मे विरहाशंका की हूक नही, वह देवलीला उतनी मधुर भी नही हो सकती । अपने संपूर्ण ऐश्वर्य और महिमा के साथ यह लीला तब प्रकट होती है जब भगवान नरलीला करते है । ब्रज-सुदरियो को जो सुख मिला उसे पाने के लिए वैकुठ धामस्थ भगवान की परम प्रिया का चित्त भी चचल हो उठा था ।"

परंतु लक्ष्मी जी को इन ब्रजलीलाओ मे तप करने के बाद भी सशरीर भाग लेने का अधिकार प्राप्त नही हो सका और वृदावन मे भगवान के अवतरित होने के समय केवल उन्हे (श्री लक्ष्मी को) उनके (श्रीकृष्ण) वक्षस्थल मे सुवर्ण रेखा बनकर ही रहने का अधिकार मिल पाया था । अत यह ब्रजलीलाए गोलोक की लीलाओ से भी कही अधिक महिमामयी, गरिमामयी और रस की अथाह सागर है । इस सबध मे आचार्य द्विवेदी जी और स्पष्टीकरण करने हुए कहते है

"नरलीला प्रकट लीला है । वृदावन उसका मुख्य क्षेत्र है । मथुरा और द्वारका सहकारी है अतएव गौण हैं। ऐसा कहा जाता है कि भगवान वृदावन मे पूर्णतम, मथुरा मे पूर्णतर और द्वारका मे पूर्ण रूप मे विराजमान होते है ।"

ब्रजलीलाओं का मच

यही कारण है कि रास रगमच के प्रवर्तक आचार्यो ने रास मंच पर नित्यरास के उपरात केवल ब्रजलीलाओ के प्रदर्शन को ही मान्यता दी थी । रास के मच पर आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व तक भगवान कृष्ण की जन्मलीला से लेकर कस-वध तथा उसके बाद भ्रमर गीत (उद्धव-गोपी सवाद) तक की लीलाए ही अभिनीत होती थी, क्योकि रास के सस्थापक आचार्य भगवान कृष्ण के पूर्णतम रूप के ही अनन्य उपासक थे । मथुरा का उनका पूर्णतर रूप भी उन्हे विवशता मे रासमच के लिए स्वीकार करना पडा था, क्योकि अक्रूर-लीला मे भगवान कृष्ण की विदाई के बाद मथुरा भेज कर वे उन्हे मार्ग मे ही नही भटका सकते थे, इसलिए रास पर कस-वध को स्थान देना उनकी भावना की रक्षा के लिए अनिवार्य था । इसी प्रकार बिना कृष्ण के वृदावन तथा गोपी-ग्वालो और नद-यशोदा की विरह दशा का निरूपण भी विप्रलभ व चरमोत्कृष्टता की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए आवश्यक था । फिर भक्ति-मार्ग के समक्ष योग और ज्ञान मार्ग की हीनता का निरूपण तो रासमच की मूल आत्मा ही था । अत भगवान कृष्ण द्वारा मथुरा से उद्धव को ब्रज भेजने की लीला भी उन्हे रास मच पर मान्य करनी ही पडी थी, परतु जहा क्रमबद्ध रासलीलाए लगातार होती है वहा

भ्रमर-गीत लीला के उपरात दानलीला करके ही रासधारी राम समाप्त करते हैं क्योकि वे भगवान कृष्ण को वृदावन विहारी ही मानते है। उन्हे यह कदापि सह्य नही कि भगवान ब्रज से अन्यत्र भी वस सकते है। रासमच मुख्य रूप से ब्रज-विहार का ही उपासक और प्रचारक है।

रासमच पर पूर्णतर कृष्ण की केवल उक्त दो लीला (कस-वध और उद्धव-लीला) को ही स्थान दिया गया है तथा पूर्ण कृष्ण की द्वारका लीलाओ मे केवल पहले सुदामा-लीला ही मच पर होती थी। सुदामा-लीला करने वाले महानुभाव अधिकाश रासधारियो द्वारा अच्छी दृष्टि से नही देखे जाते थे, परतु अव वे सव नियम शिथिल हो गए है। सुदामा-लीला तो अव प्राय सभी रास-धारी करते हैं, उसके साथ महेडा ग्राम के रासधारी श्री फतेहराम स्वामी ने इन पंक्तियो के लेखक के काव्य-ग्रथ 'कूवरी' के आधार पर कुब्जा-लीला पृथक से तैयार की है जिसे वह उद्धव-लीला के साथ अलग से करते हैं। ब्रज कला केंद्र द्वारा सन १९७२ मे ब्रज-लीलामच स्थापित किया गया था, तव हमने महाकवि सूर की पदावली के आधार पर कुरुक्षेत्र मे राधा-माधव मिलन के प्रसग को लेकर 'राधा-माधव मिलन-लीला' लिखी थी। वह लीला रास मच पर वहुत लोकप्रिय हुई है। स्वतंत्रता की रजत जयती के अवसर पर लखनऊ प्रदर्शनी मे भी यह लीला की गई थी। इसे अव कई मडलिया वडे प्रभावी ढग से करती हैं। श्री रामस्वरूप जी का कहना है कि पहली वार जव यह लीला की गई तव इतना करुणा रस उमडा कि दर्शको के नेत्रो के साथ अभिनेताओ के कठ भी अवरुद्ध हो गए और लीला वीच मे ही समाप्त करनी पडी जिसे दर्शको के आग्रह पर फिर दूसरे दिन ही सपन्न किया जा सका था।

रासलीलाओ मे भक्त-चरित

श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओ के साथ-साथ वाद मे रासधारियो ने रास की शैली मे भगवान के साथ उनके भक्तो के चरित्र भी लीला रूप मे प्रस्तुत करने की परपरा डाली। राधाकुड के गिरवरनदन रासधारी ने वहुत पहले ध्रुवलीला रास के मच पर प्रदर्शित की थी और उस काल मे इस शैली मे अनेक भक्तगाथाए मच पर उतारी गईं।[1] परतु वाद मे वे स्वत ही समाप्त हो गईं। उसका कारण यह था कि वे लीलाए कुछ विशेष मडलियो ने तैयार की थी, उन्हे पूरे रासमच ने नही अपनाया। जिन रासधारियो ने इन लीलाओ की रचना की उनकी मडली की समाप्ति के साथ ही वे लीलाए भी विस्मृत होती गईं। रासधारियो

१ विशेष विवरण के लिए देखें हमारे ग्रथ 'सागीत एक लोकनाट्य परपरा' के पृष्ठ ८१-८३।

ने अपने मच का मुख्य आधार प्राचीन भक्त कवियो की वाणी को प्रमाण मान कर उनके द्वारा रचित परंपरागत कृष्णलीलाओ को ही रखा।

वर्तमान युग मे भक्त-चरित पर आधारित यह लीलाएं अब पुन रास-मच पर प्रस्तुत की जाने लगी है। उडियाबाबा तथा हरिबाबा की प्रेरणा से स्वामी हरिगोविन्द जी ने गौराग महाप्रभु की पूरी जीवनी ही लगभग ४० गौराग लीलाओ मे तैयार की है जिसे इसी सप्रदाय के विरक्त साधु बाबा प्रेमानंद जी ने लिखा है। उधर इसी परपरा मे दूसरे प्रसिद्ध रासधारी श्री रामस्वरूप जी ने रसिकाचार्य स्वामी हरिदास जी की जीवनी पर १०-११ लीलाए प्रस्तुत की है, जिन्हे वृदावन के एक रास अभिनेता श्याम जी ने (श्याम सखी) लिखा है। ये दोनो ही मडलिया अपनी-अपनी इन लीलाओ का देश भर मे प्रदर्शन करती है और भक्तवृद उन्हे पसद भी करते है। गौराग-लीला मे महाप्रभु चैतन्यदेव को भक्त के रूप मे नही वरन राधा-कृष्ण के सम्मिलित विग्रह से उत्पन्न प्रेमावतार के रूप मे चित्रित किया गया है क्योकि गौडिया सप्रदाय ने उन्हे अवतार ही स्वीकार कर लिया है।

गौरांग लीलाओ मे हरि-कीर्तन तथा भक्ति की तल्लीनता धार्मिक भक्तो को प्रभावित करती है परतु इन लीलाओ का साहित्यिक ताना-बाना बहुत शिथिल है। रास के रस सिद्ध कृष्ण भक्तो की मजी हुई ब्रजवाणी की पदावली की तुलना मे गौराग लीलाओ का काव्य-रूप कही भी नही टिक पाता। पदो के साथ, गीतो की गढत और उसमे भी उर्दू के ढग की शेर और गजलो की धुनो का समावेश तथा काव्याश मे कही ब्रजभाषा और कही खडी बोली का उर्दू मिश्रित प्रयोग इन लीलाओ की सास्कृतिक पृष्ठभूमि को कमजोर करता है परतु साधारण कोटि के दर्शको को इन लीलाओ की चलती कविता अवश्य प्रभावित कर लेती है। स्वामी हरिगोविन्द जी द्वारा इन लीलाओ को इतने प्रभावपूर्ण ढग से मंचित किया जा रहा है कि उसमे उसके काव्यात्मक शैथिल्य की ओर जनता का ध्यान नही जा पाता। वास्तव मे स्वामी हरिगोविन्द की कलात्मक सूझबूझ और प्रस्तुतीकरण की शैली के कारण ही ये लीलाए इतनी लोकप्रिय हुई है कि कही-कही केवल इन लीलाओ के लिए ही स्वामी जी को आग्रहपूर्वक आमन्त्रित किया जाता है और वहा कृष्ण-चरित के साथ-साथ ये लीलाए भी होती है।

स्वामी रामस्वरूप जी ने जो हरिदास लीलाए तैयार की है उनमे उन्हे अलीगढ जिले के हरिदासपुर का निवासी तथा आशुधीर का पुत्र माना गया है। इन लीलाओ का पूरा ताना-बाना ऐतिहासिक तथ्यो की अपेक्षा कल्पना पर ही आधारित है। गायन और दृश्य-विधान द्वारा उन्होने इस लीला को आकर्षक बनाने की चेष्टा की है परतु अकबर के स्वामी जी से मिलन की घटना भी इन लीलाओ मे नही है, न उनका गूढ भक्ति पक्ष ही उनमे उजागर होता है। फिर

भी ये लीलाए ब्रज की भावभूमि के अनुकूल है।

इस प्रकार वृदावन मे रासलीला के कथानको मे भगवान कृष्ण के साथ जहा उनके भक्तो के चरित्रो का लीला रूप मे प्रदर्शन आरभ हुआ है वहा श्री फतेहराम रासधारी (सहेडे वाले) ने गोलोक विहारी भगवान कृष्ण की लीलाओ को भी रास शैली मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भगवान कृष्ण के अवतार से पूर्व की गोलोक की पौराणिक घटनाओ को कुछ नवीन और कुछ प्राचीन पदो के साथ गुफित करके उन्होने भगवान कृष्ण के जन्म से पूर्व की गोलोक की घटनाओ पर ३-४ लीलाए तैयार की हैं और उनका प्रदर्शन भी किया है। कुछ मडलिया अव भक्तमाल के भक्त-चरित्रो को भी मंच पर उतार रही हैं। इस प्रकार रास की प्रवृत्ति अव केवल ब्रज की कृष्णलीला के पुराने कगारो को तोटकर नवीन कथानको की ओर झुकी है। हमने महाकवि सूरदास जी की जीवनी पर स्वय भी ३-४ लीलाएं तैयार की थीं और उन्हे ब्रज कला केंद्र के ब्रज लीला मंच ने विभिन्न स्थानो पर प्रदर्शित किया था, परतु अभी ये सव प्रयोगावस्था के प्रयत्न हैं। जव तक यह कथानक अपना निश्चित रूप न ले लें, अभी से इनके सवंध मे कोई मत निर्धारित करना ठीक प्रतीत नही होता। यह तो भविष्य ही वतलाएगा कि ये प्रयत्न रास का उपकार करेंगे या अपकार, परतु जव हम नाट्य कला की दृष्टि से इन प्रयोगो पर दृष्टिपात करते है तो हमे लगता है कि इस प्रवृत्ति ने रासमच के लिए कथानको का एक विस्तृत क्षेत्र प्रदान कर दिया है। अव यह इस मंच के कर्णधारो के ऊपर निर्भर करता है कि वे रास शैली की माला मे इन कथा-सूत्रो को कुशलता से पिरो कर इस मच की श्रीवृद्धि करते है या दिग्भ्रमित होकर रास के स्वरूप और शैलीगत सौंदर्य से खिलवाड़ करते हैं। उत्तर वैदिक काल मे भी रास पहले श्रीकृष्णलीला से ही आरभ हुआ था, परतु वाद मे उसमे भी अनेक अन्य कथाए रासको के रूप मे लिखी गईं और अभिनीत हुईं, यह हम पहले लिख चुके है। अव वही इतिहास फिर से दुहराये जाने का यह नया क्रम है। हमारे विचार से ऐसे कृष्ण भक्ति प्रधान कथानक जिनमे ब्रज सस्कृति प्रतिध्वनित होती हो, रासमच पर अवश्य लाये जाने चाहिए, परतु उनके आलेख वडी सूझवूझ और मच के स्वरूप के अनुरूप हो इस सवध में विशेप ध्यान देने की आवश्यकता है।

लीला भावना

हम यहा नवीन प्रयोगो के इस परिचय के उपरात अन्य परपरागत रामलीलाओ के साहित्य की चर्चा करना चाहते है जो इन रामलीलाओ के अभिनय का आधार रहा है। इस चर्चा से भी पहले हम लीला और चरित्र मे क्या अतर है यह स्पष्ट करना चाहते हैं, क्योंकि लीला और चरित्र के भेद को विना समझे

श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओ की भावना को पूरी तरह हृदयगम नही किया जा सकता। इस प्रसग के विस्तार मे न जाकर यहा हम केवल वृदावन के हित सप्रदाय के मर्मज्ञ विद्वान श्री ललिताचरण जी गोस्वामी के शब्दो को दुहरा भर देना ही पर्याप्त समझते हैं। गोस्वामी जी का कथन है :

"चरित्र और लीला चाहे बाहर से एक जैसे ही दीखते हो, किंतु इन दोनो मे महत्वपूर्ण भिन्नता है, 'चरित्र' के वर्णन मे उन क्रियाकलापो का प्रकाशन विशेष रूप से होता है, जो जीवन मे किसी विशेष उद्देश्य से किये जाते है, 'लीला' के गान मे उन क्रियाओ को प्रकट किया जाता है, जो केवल आनदमयी हैं और जो निरुद्देश्य हैं। लीला का प्रयोजन लीला से ही माना गया है। भागवत मे श्रीकृष्ण के चरित्र और लीला दोनो का वर्णन मिलता है। कृष्ण-भक्त कवियो ने श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन बहुत कम किया है और लीला का बहुत अधिक। लीला मे किसी शिक्षा को ढूढना व्यर्थ है, क्योकि फिर तो वह लीला सोद्देश्य बन कर चरित्र बन जायेगी। इस बात को ध्यान मे न रखकर ही कृष्ण-भक्ति काव्य मे लोक-सग्रहात्मकता के अभाव की शिकायत की जाती है।[2]

इस प्रकार रासलीलाओ का उद्देश्य भी लोक सग्रहात्मक नही, वह तो भगवान की रिरमावृद्धि का सहज परिणाम है जिसमे वे स्वयं तथा लीला मे सम्मिलित होने वाले जन और लीला के दर्शक तीनो ही आनदित होते हैं। भगवान कृष्ण की यही लीलाएं रासमच का मुख्य आधार हैं। रास यद्यपि मुख्यत ब्रजलीलाओ का मच है परतु उस पर कृष्ण के ब्रज चरित्र को भी आशिक रूप से महत्व दिया गया है जो भगवान कृष्ण के ब्रज विहारी स्वरूप की समग्रता को चित्रित करने के लिए एक नाटकीय आवश्यकता के रूप मे रास के मच पर लीलाओ के सहयोगी के रूप मे उसी प्रकार उभरा है जैसे रस की निष्पत्ति मे उसके सचारी भाव सहायक होते है।

ब्रजभाषा के सभी कवियो ने अधिकाशत लीलाओ का ही विस्तृत वर्णन किया है। इन वर्णनो मे उक्त चरित्र-पक्ष अत्यत गौण है जिसके आधार पर एक लीला नाटक का पूरा ताना-बाना नही बुना जा सकता था। ब्रज साहित्य मे श्री ब्रजवासीदास जी का भागवत के आधार पर रामचरितमानस जैसी दोहा चौपाई शैली मे लिखित केवल 'ब्रज-विलास' ही एक ऐसा सर्वमान्य ग्रथ है जिसमे लीला और चरित्र दोनो को ही समान रूप से महत्व दिया गया है।[3]

२ श्री हित हरिवंश गोस्वामी 'सप्रदाय और साहित्य', पृष्ठ ३३१।

३ वैसे नददास जी ने भी भागवत् के दशम स्कध का भाषानुवाद किया था, परतु उसके केवल 'अष्टविंश अध्याय' ही उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि पडितो के विरोध के कारण उन्होंने यह ग्रथ पूर्ण नही किया।

इमलिए राममच ने जहा व्रजलीलाओ के चित्रण के लिए भक्त कवियो के पद साहित्य को आधार माना है वहा रास लीला मे कृष्ण के चरित्र के प्रदर्शन का व्रजविलास ही मुख्य आधार है। कृष्ण के व्रज-चरित्र का चित्रण रास की कुछ इनी-गिनी लीलाओ मे होता है और वहा व्रजविलास को ही प्रमुखता दी जाती है। ऐमी प्रमुख लीलाए निम्नलिखित हैं, जिनका ताना-वाना व्रजविलास का आधार ग्रहण करता है।

(१) श्रीकृष्ण-जन्म, (२) पूतना तथा अन्य दैत्यो के वध की लीलाए जिनमे कस का दरवार आवश्यक होता है, (३) काली नाग लीला, (४) गोवर्धन लीला (यह लीला पदावली द्वारा भी होती है) अक्रूरगमन लीला, (५) कस वध लीला, (६) चीर हरण लीला भी व्रजविलास के आधार पर ही होती है क्योकि इस प्रसग का पद-साहित्य अधिक मात्रा मे उपलब्ध नही है।

व्रज का लीला-साहित्य

रासलीलाओ की उक्त पृष्ठभूमि को समझ कर जव हम उस साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं जिन पर रास मच की लीलाओ का ताना-वाना खडा है तो मोटे रूप से हम लीला साहित्य के दो विभाग कर सकते हैं (१) स्वतत्र रूप से रचित लीला-साहित्य, (२) रासमंच से प्रभावित लीला-साहित्य। हम पहले स्वतत्र रूप से रचित १६वी शताब्दी के लीला-साहित्य की चर्चा करना ठीक समझते है क्योकि रास से प्रभावित लीला साहित्य इससे परवर्ती है।

व्रज साहित्य और रासलीला-नाटक

मोटे रूप से हम देखते हैं कि १६वी शताब्दी मे और उसके बाद भी प्रवधात्मक व्रजलीला साहित्य कम और मुक्तक रूप मे कृष्ण काव्य बहुत अधिक मात्रा मे लिखा गया है। रासमच ने इस प्रवधात्मक और मुक्तक दोनो ही प्रकार के साहित्य से अपनी लीलाओ का रूप निर्माण करने मे कोई सकोच नही किया, उन्हे जहा भी अपने लिए उपयोगी सामग्री मिली उसे वही से लेकर उन्होने रासलीला नाटको की रचना की और अभिनय, नृत्य और सगीत के माध्यम से अपने कथानक को पूरी तरह उभारा, परतु वे लीला नाटको के कर्ण-धार साहित्य रचयिताओ के अधभक्त वन कर नही चले। उन्होने किसी भी लीला नाटक को ज्यो का त्यो अभिनेय नही वनाया वरन उसमे से अपने मतलव की सामग्री छाट कर लीला-नाटक का ताना-वाना स्वय ही तैयार किया। बहुत से लीला नाटको को उन्होने अपने मच पर स्थान भी नही दिया (जैसे नददास जी की 'स्याम-सगाई लीला')। इस प्रकार रास के लीला नाटको की यह विशेषता है कि यहा रास के संचालक लेखक के अनुगामी वनकर उनकी रचना

के प्रदर्शनकर्ता बनकर नही, वरन आरंभ से ही मच के प्रति आस्थावान रहकर चले और मंच की आवश्यकताओ के अनुसार उन्होने कवियो की लीलाओ (प्रबधात्मक) तथा लीला के स्फुट पदो से लीला नाटक की सामग्री का अपने विवेक से स्वय चयन किया। यही कारण है कि सूरदास जी की इनी-गिनी एक-दो लीलाओ के पदो (जैसे एक 'हाऊ' वाले पद आधारित हाऊलीला) को छोड़कर साहित्य का कोई लीला-प्रबध या लीला-प्रसग रास के मच पर अविकल रूप से मान्य नही हो पाया। नंददास जी की 'रास-पचाध्यायी' तथा 'भ्रमर गीत' तक को रास के मच पर ज्यो का त्यो अविकल रूप से प्रदर्शित करने की पहल नही की गई। हा, इन प्रबधो को रास मच पर प्रमुखता अवश्य प्राप्त हुई परतु उनके साथ अन्य कवियो के चुटीले साहित्य को भी साथ जोड़ना रासधारी कभी नही भूले। समन्वयवादी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ का चयन करके ही सदैव लीला-नाटको का ढाचा खडा किया गया। इससे जहा एक ओर इन लीला नाटको का कला-पक्ष उभरा वहा विभिन्न सप्रदायो के कवियो के साहित्य को एक साथ गूथने के कारण रास सर्वागीण व्रज-भक्ति का मच बनने के साथ-साथ व्यापक लोक-समर्थन भी प्राप्त कर सका।

रासलीलाओ से पूर्व का लीला-साहित्य (सोलहवी शताब्दी)

रासलीला-नाटको का उदय व्रज के रासमंच पर श्री नारायण भट्ट के व्रज आगमन के उपरात हुआ, यह हम कह चुके हैं। ऐसी दशा मे सवत १६०० वि० के कुछ बाद तक रचा गया लीला-साहित्य, रासलीलाओ के उदय से पूर्व के लीला-साहित्य के अतर्गत ही माना जाना चाहिए। इस युग के लीला गायको मे सूरदास, नददास तथा अष्टछाप के कवियो के नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। इस युग मे अधिकाश लीला-गायक कवि अवतरित लीलाओ के गायक हैं उन्हे अनुकरणात्मक लीलाओ (रासलीलाओ) का गायक नही कहा जा सकता। इस युग के लीला गायको के क्रम को हम अष्टछाप के कवियो से आरभ करके उसे हित हरिवश जी व स्वामी हरिदास जी तक मान सकते हैं, यद्यपि सैद्धातिक दृष्टि से हित हरिवश जी और हरिदास जी उक्त लीला गायको की कोटि मे नही आ सकते।

यद्यपि स्वामी हरिदास जी व हित हरिवश जी नित्य रास के उपासक और वृदावन मे रास के संस्थापको मे से थे, परतु उन्होने प्रबधात्मक ढग से लीलाएं नही लिखी। उनके साहित्य मे लीलाओ के स्फुट पद ही प्राप्त होते है। उनके साहित्य मे क्रमबद्ध लीलाओ का प्राप्त न होना हमारी इस मान्यता की पुष्टि करता है कि लीलाओ का आरभ पहले वृंदावन से नही हुआ, अन्यथा यह संभव नही था कि हिताचार्य और हरिदास जी मच के लिए २-४ भी

प्रवधात्मक लीलाए न लिखते और अपने को केवल नित्य-विहार के स्फुट पद गायक के रूप मे ही सीमित रखते। यह निश्चित है कि श्रीनारायण भट्ट जी के नेतृत्व मे लीला-नाटक पहले वरसाना करहला क्षेत्र मे ही आरभ हुए और वही मे वह परपरा वृंदावन आई जिसका परवर्ती वृदावन के रसिको ने हार्दिक स्वागत किया और उसका रस-भक्ति के अनुरूप विकास किया।

इस युग मे जिन महानुभावो ने लीला-साहित्य लिखा उसमे उक्त कवियो के अतिरिक्त हम निम्बार्क सप्रदाय के श्री भट्ट जी, हरि व्यास देव जी, परशुराम-देव जी, राधावल्लभीय सप्रदाय के सेवक जी, गौडीय सप्रदाय के गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन आदि के नाम ले सकते हैं, परतु उक्त कवियो के अतिरिक्त उन कवियो ने भी जिनका ब्रज के भक्ति सप्रदायो से सीधा सबध न था, ऐसे पद पर्याप्त मात्रा मे लिखे जो बाद मे रासमंच के अग बन गए। इस प्रसग मे हम मीराबाई, गोस्वामी तुलसीदास जी[४] (कृष्ण गीतावली) तथा रहीम के नाम ले सकते है। इस काल मे ऐसे अनेक ज्ञात और अज्ञात कवि हैं जिन्होने स्फुट रूप से इसी प्रकार का लीला-साहित्य रचा और उनके साहित्य को भी आंशिक रूप से इन लीला नाटको मे स्थान प्राप्त हुआ।

यहा हम इन कवियो के लीला-साहित्य और रासलीला-नाटको मे उनके योगदान की चर्चा करना चाहते हैं।

अष्टछाप का लीला-साहित्य

रासलीला-नाटको मे सबसे महत्वपूर्ण देन इस युग के वल्लभ सप्रदाय के अष्टछाप के कवियो की ही मानी जायेगी क्योकि इस काल मे क्रमबद्ध लीला-साहित्य की रचना इसी संप्रदाय मे हुई। महाकवि सूरदास और उनकी ब्रजलीलाएं तो रासलीला-नाटको की प्राण ही हैं। सूरदास जी के पद के

४. गोस्वामी जी का यह पद हमने स्वामी हरिगोविन्द जी की मडली की उद्धव-लीला मे सुना है

सब मिलि साहस करिय सयानी।
ब्रज अनिचाहि मनाइ पाँय परि, कान्ह-कूबरी रानी।
बसें सुवास, सुपास होंहि सब, फिर गोकुल रजधानी।
महरि महर जीवहिं सुख जीवन, खुलहिं मोद मनि खानी।
तजि अभिमान अनख अपनों हित, कीजिय मुनिवर बानी।
देखिबो दरस दूसरेहूँ चौथेहूँ, बड़ो लाभ, लघु हानी।
पावक, परत निषिद्ध लाकरी, होति अनल जग जानी।
तुलसी सो तिहूँ भुवन मयावी, नद सुवन सनमानी॥

गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'श्रीकृष्ण-गीतावली' (तु० स०), पृष्ठ ६१।

विना राममच पर कोई लीला पूर्ण हो सकती है इसकी कल्पना भी दुष्कर है। लीला-नाटको के आरंभ के दिन से आज तक सूरदास लीला-नाटको पर छाये रहे हैं। राम की प्रत्येक लीला मे सूरदास जी का कोई न कोई पद किसी न किसी रूप मे अवश्य ही सम्मिलित मिलता है।

सूरदास

हमारा अपना अनुमान यह है कि रासलीला के मच पर लीला-नाटको का आरंभ पहले वाल-लीलाओ के प्रदर्शन से ही हुआ, क्योकि रास मे कुछ लीलाए जो आज तक भी प्रचलित हैं मुख्य रूप से महाकवि सूर के पदो पर ही आधारित है। समय-समय पर रासधारियो ने उनमे कुछ अन्य साहित्य भी जोडा अवश्य परंतु वह नही के वरावर है। ये लीलाए इस प्रकार की है जिनको केवल सूर ने ही लिखा है। दूसरे कवियो की उस क्षेत्र मे पैठ ही नही हो सकी। रास मे ऐसी जो लीलाए आज भी प्रचलित हैं उनमे हम 'हाऊ लीला', 'मणिखंभ की माखन चोरी', 'माटीखावन लीला', 'ऊखल लीला' आदि के नाम ले सकते हैं। इन लीलाओ के अतिरिक्त 'राधा कृष्ण प्रथम मिलन', 'स्याम सगाई','अनुराग लीला', 'पाडे लीला', 'परस्पर मान' (इसमे बाद मे अन्य कवियो के पद भी बढ गये) आदि भी मुख्यत सूर के पदो के आधार पर चलती हैं। रास की महारास और भ्रमरगीत लीलाए सूर के साथ नददास की रचनाओ के साथ मिलकर सयुक्त रूप से प्राय अपना ताना-बाना बुनती हैं। इन लीलाओ मे इन दोनो महानुभावो के साहित्य का नयनाभिराम सगम रास के मच पर दर्शनीय है, अन्य कवियो की स्फुट रचनाए इस सगम मे सरस्वती के समान समाहित है।

इन लीलाओ के अतिरिक्त सूर की सभी लीलाओ का रास के मच पर आशिक रूप मे उपयोग होता है। 'सूरसागर' के अतिरिक्त सूर की 'गोवर्धन लीला', 'व्याहुलो'[5], 'नामलीला', 'दानलीला', 'मानलीला', व 'साहित्य-लहरी' तथा 'सूर-सारावली' के पद विभिन्न लीलाओ मे व्याप्त है।

कुंभनदास

कुभनदास जी के मान, विरह, युगलरूप वर्णन, गोदोहन, रास आदि के पद रास की विभिन्न लीलाओ मे आशिक रूप से सम्मिलित हैं। केवल इनकी 'दानलीला' एक स्वतंत्र लीला के रूप मे रासमच पर की जाती है। कुभनदास जी की यह 'दानलीला' यद्यपि उनके स्फुट पदो के साथ ही विद्या-विभाग काक-

५ राधा-कृष्ण विवाह की लीला पृथक से स्वतत्र लीला के रूप मे नही होती, परतु व्रज-यात्रा मे यह व्याहलो लीला सकेतवट नामक स्थान पर की जाती है।

रोली से मुद्रित हुई है परंतु रास मे वह एक स्वतत्र लीला के रूप मे ही मान्य है और उसे मच पर युगो से अभिनीत किया जाता है। कुभनदास जी की इस लीला मे सवाद बडे नाटकीय और चुभीले हैं। दोहा और रोला के साथ एक तुक जोडकर बाद में नददास जी ने अपने 'भ्रमर गीत' मे जो छद अपनाया वह पूर्व रूप मे कुभनदास जी की इस दानलीला मे विद्यमान है। एक उदाहरण देखिये '

गोपी—कब दीनो तुम दान, कबै तुम भये जु दानी।
सुनी न कबहू बात, जाउ बूझौ नदरानी।
उदर बसे तुम देवकी, आये गोकुल भाजि।
जीए जूठन खायकै (हो अब) क्यो नाहि आवै लाज।
कहति व्रज नागरी।[६]

परमानददास

परमानद सागर के अतिरिक्त परमानददास जी की एक लीला पुस्तक 'दानलीला' भी कही जाती है जो उपलब्ध नही है। राममच पर भी परमानंद-दास जी की दानलीला का प्रचलन नही, परंतु परमानद सागर के पद पूरे लीला नाटको पर छाये रहते हैं। परमानद सागर के आधार पर पुराने रासधारी 'आख मिचौनी' लीला बडी भावुकता के साथ किया करते थे, परतु अब रामधारियो की नई पीढी ऐसी पुरानी सरस लीलाओ को भूल कर सस्ती लीलाओ की ओर झुकती जाती है।

अष्टछाप के अन्य कवि

इनके अतिरिक्त कृष्णदास, गोविन्द स्वामी और छीत स्वामी की रचनाएं भी रास की विभिन्न लीलाओ मे सम्मिलित है। उदाहरण के लिए कृष्णदास के पद महारास तथा मानलीला मे, गोविन्द स्वामी के पद मान लीला मे तथा छीत स्वामी के पद गोचारण तथा अन्य लीलाओ मे सम्मिलित हैं, परतु इन कवियो के काव्य के आधार पर राम मे किसी प्रमुख लीला नाटक का प्रचलन नही हुआ। उक्त तीनो कवियो की अपेक्षा चतुर्भुजदास के पद रासलीला मे

६. विद्याविभाग काकरोली से प्रकाशित 'कुभनदास', पृष्ठ १२१ रास मे इस पद की प्रथम पक्ति का सरलीकरण कर दिया गया है। वहा गोपिया कहती हैं 'कब दीनौं तुम दान, भये तुम कबके दानी' इस प्रकार के परिवर्तन रासमच पर प्रचुर मात्रा मे किए गए हैं।

अधिक मात्रा मे प्रचलित हैं। पता नही चतुर्भुजदास जी की रास मे इस विशेप मान्यता का क्या रहस्य है ? कृष्णदास जी के नाम से एक दानलीला भी रास मे कभी-कभी होती है, परतु यह अष्टछापी कृष्णदास की ही रचना है यह हम निश्चित रूप से नही कह सकते। कृष्णदास नाम के कई कवि हिंदी-साहित्य मे हुए हैं।

नददास

सूरदास जी के बाद रास मे लीला-नाटककार की दृष्टि से अष्टछाप के इन कवियो मे नददास जी का अधिक महत्व है। उनकी 'रास-पचाध्यायी' व 'भ्रमरगीत' को महारास लीला तथा उद्धव-गोपी सवाद मे रासमच पर प्रमुख स्थान प्राप्त है। इन दो लीलाओ के अतिरिक्त भी अन्य कई लीलाओ मे नददास जी के पद प्रचुरता से सम्मिलित हैं।

व्रज के लीला-साहित्य के लेखको मे नददास जी का प्रमुख स्थान है परतु उनकी गोवर्धन लीला, स्याम सगाई और सुदामा चरित को रास मे कोई महत्व प्राप्त नही हो सका। रासमच पर 'स्याम सगाई' लीला होती अवश्य है परतु उसका आधार मुख्य रूप से 'सूरसागर' है। नंददास जी की स्याम सगाई लीला को उसमे महत्व नही मिला। इसी प्रकार रास मे वैद्य लीला भी होती है परंतु नददास की स्याम सगाई के ये वैद्य रासलीला की वैद्यलीला के कृष्ण से दूर ही हैं।

अन्य कवियो का लीला-साहित्य

अष्टछाप के अतिरिक्त उनके सम सामयिक कवियो ने प्रबधात्मक ढग से लीला-साहित्य नही लिखा। उन्होने समय-समय पर विभिन्न लीलाओ के स्फुट पदो का ही गायन किया है। यही कारण है कि रासमच पर इन कवियो की रचनाओ के आधार पर स्वतत्र लीलाओ का सृजन नही हुआ, परतु विभिन्न लीलाओ मे इन कवियो के पदो को उचित महत्व और स्थान मिला है। उदाहरण के लिए मीरा के पद मानलीला, अनुराग लीला तथा उनका यह पद कही-कही उद्धव लीला मे भी गाया जाता है :

> है गये स्याम दूज के चदा।
> मधुवन जाय भये मधुवनियाँ, हम पर डारो प्रेम को फदा।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, अब तो नेह पर्‌यो कछु मंदा।[७]

७. राग रत्नाकर, पृष्ठ १७५

इसी प्रकार भट्ट जी व सेवक जी के पद भी कुछ लीलाओ मे सम्मिलित हैं, परतु उनके पदो की अपेक्षा हरिवंश जी के पद रास मे अधिक प्रचलित है। अष्टछाप के कवियो के अतिरिक्त इस युग मे केवल हरिदास जी ही एक ऐसे कवि है जिनके स्फुट पदो को दूसरे कवियो की रचनाओ मे जोडकर रासधारियो ने एक स्वतंत्र 'वेणी गूथन लीला' का ही निर्माण कर लिया है, परंतु अब यह सरस लीला भी प्राय देखने मे नही आती।

इस विवेचन के अनुसार सवत १६०० के आसपास तक रचे गए लीला-साहित्य के अवलोकन से हमे ज्ञात होता है कि

(१) इस काल के सभी कवियो ने स्वतत्र ढग से लीला-साहित्य लिखा, वे रासमच मे प्रभावित नही थे। बाद मे रासलीला-नाटको का उदय उक्त कवियो द्वारा वर्णित लीलाओ के आधार पर ही हुआ।

(२) सूरदास और नददास तथा आशिक रूप से कुंभनदास और परमानददास जी ही इस काल के ऐसे कवि हैं जिन्होने प्रबधात्मक ढग से लीलाओ का वर्णन किया। शेष कवियो ने आशिक रूप से लीलाओ के स्फुट पदो का गायन किया, परतु उनके कुछ पद भी स्वयमेव ही रासमंच पर लीलाओ मे स्थान पा गए।

(३) यह सभी साहित्य मच पर प्रदर्शन के लिए नही वरन पठन-पाठन के लिए ही रचा गया था, परतु स्वतंत्र रूप से लिखे जाने पर भी उसे रास-लीला-नाटको मे स्वीकार कर लिया गया। रास के लीला नाटको मे सूरदास, नंददास, कुभनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, हित हरिवश जी, स्वामी हरिदास जी तथा श्री भट्ट जी के साहित्य को प्रमुख रूप से मान्यता प्राप्त हुई।

(४) गोस्वामी तुलसीदास जी, मीरा, सेवक जी, गदाधर भट्ट, सूरदास मदन मोहन आदि अन्य कवियो को लीला-नाटको मे गौण रूप से ही मान्यता मिली। अष्टछाप के कवियो मे परमानददास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी भी इस कोटि मे आते हैं। परमानद सागर का जैसा बृहत् आकार है उसके अनुपात के अनुरूप उनके पद लीला-नाटको मे समाविष्ट नही है। अतः इन कवियो को हम इस युग के उन कवियो मे ही मान सकते हैं, जिनकी रचनाए मुख्यतः पठन-पाठन के लिए ही हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी तो राम-भक्त थे। कृष्णलीला का गायन उन्होने केवल 'कृष्ण-गीतावली' मे बहुत ही सक्षिप्त ढग से किया है।

सोलहवी शताब्दी के उक्त सभी कवियो ने रास के लीला-नाटको के लिए सामग्री का सृजन करके वह भूमिका प्रस्तुत की जिनके कारण रास के लीला-नाटको को खडा होने के लिए एक सशक्त आधार मिल गया। इस दृष्टि से इन सभी कवियो का लीला-नाटको के उदय मे महत्वपूर्ण योगदान है।

लीला-नाटको के लिए यदि यह समर्थ कवि उक्त आधार प्रस्तुत न करते, तो नही कहा जा सकता कि लीला-नाटको का उदय कब तक स्थगित रहता। अपने उदय के समय से ही लीला-नाटको ने जो लोकप्रियता तथा सास्कृतिक व कलात्मक चेतना प्राप्त की उसका अधिकाश श्रेय उक्त साहित्य स्रष्टाओ को ही जाता है।

लीला-नाटको का द्वितीय उत्थान

जैसा कि हम पहले लिख चुके है बरसाना करहला क्षेत्र से जिन रासलीला-नाटको का उदय हुआ वह अधिकाशत. बाललीला प्रधान थे, परतु भगवान की किशोरावस्था की लीलाओ के लिए भी पृष्ठभूमि सूरदास, कुभनदास और नंददास जैसे समर्थ महाकवि इसी काल मे निर्मित कर चुके थे। 'सूरसागर' के पदो पर आधारित (रास मे आज भी प्रचलित) प्रथम मिलन लीला तथा 'अनुराग लीला' हमारे इस कथन का प्रमाण है। सत्रहवी शताब्दी मे जब रास का मच हरिवश जी द्वारा चैनघाट पर स्थापित किया गया तब उनकी भावना के अनुसार रास रस-भक्ति के लीला-नाटको का भी केंद्र बन गया।

स्वामी हरिदास जी और हित हरिवश जी दोनो ही प्रिया-प्रियतम के नित्य-विहार के उपासक थे। उनके मत से वृंदावन प्रिया-प्रियतम की नित्य-रास की भूमि है और सदा से ही वहा प्रिया-प्रियतम नित्य-विहार करते रहे हैं और सदैव ही आगे भी करते रहेगे।[८] वे दोनो सदा ही समवय है। उनका चिरकिशोर रूप वृदावन मे सदा-सर्वदा यथावत विद्यमान रहता है।

इस भावना का परिणाम इस काल के लीला-साहित्य पर बडा गहरा पड़ा और नित्य-लीला की इस उपासना ने भक्तो के लीला सबधी दृष्टिकोण को एक नवीन आधार प्रदान कर दिया। पूर्वकालीन भक्तो ने भगवान के द्वापर युग के अवतार की लीलाओ (अवतरित लीलाओ) का ही गायन किया था। यद्यपि काव्यात्मक कल्पना की रंगीनी वहा भी विद्यमान थी, परतु सत्रहवी शती के भक्त कवि द्वापर की अवतरित लीलाओ की परिधि को पार करके और आगे आ गए। वृदावन के यह भक्त अपने भाव-भरे सूक्ष्य नेत्रो से वृंदावन के नित्य-विहारी जुगल स्वरूप की नित्य नयी लीला का दर्शन करते थे और उसका ही गायन भी वे आत्मानुभूति के अनुरूप उन्मुक्त भाव से करते थे। अब उन्हे

८. माई सहज जोरी प्रकट भई रग की, गौर स्याम घन दामिनी जैसें।
प्रथमहु हुती अबहू आगें हूँ रहि है, न टरिहै वैसें।
अग अग की उजराई, सुघराई सुदरता ऐसें।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुज विहारी सम-वैस वैसें।

लीला की रचना के लिए किमी प्राचीन आधार की आवश्यकता नही रह गई थी, क्योकि वृदावन की रगशाला मे तो भगवान की नित्य नवीन लीलाएं सदा ही होती थी। अपनी प्रियतमा को प्रमन्न करने के लिए कृष्ण नित्य नवीन रूप धारण करके उन्हे मुख देते थे और भक्त उन प्रमगो का लीला रूप मे गायन करते थे।[९] सच तो यह है कि इम युग के भक्त कवियो ने अपनी अनुभूति, भावना, प्रतिभा और सूझ की डोर मे बाधकर प्रिया-प्रियतम को अपनी इच्छानुसार खुलकर नचाया और यही इस युग की सबसे महत्वपूर्ण विशेपता थी।

इस युग मे लीला-गायको को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह अपनी इच्छानुसार प्रियतम से कोई भी लीला रचवाए। इसी अधिकार का उपयोग करके अनन्य अलि ने 'चौपर लीला' और 'शतरंज लीला' तक की रचना की है। इन नित्य-लीलाओ से देश और काल की सब बाधाए दूर हो गई थी। इसी कारण हमने इस युग के लीला-साहित्य को पूर्व कवियो से पृथक वर्ग मे रखा है। इस काल के कवि लीलाओ के वर्णन (विपय-वस्तु) की दृष्टि मे ३ वर्गों मे वाटे जा सकते हैं: (१) परंपरागत अवतरित लीलाओ से प्रभाविन, (२) नित्य-लीलाओ के गायक, (३) उभय (अवतरित तथा नित्य दोनो ही) प्रकार की लीलाओ के गायक या दोनो दृष्टिकोणो के समन्वयकर्ता कविगण।

परतु यह युग नित्य-लीलाओ के प्रादुर्भाव का युग था, अत इस युग की मुख्य प्रवृत्ति के रूप मे नित्य-लीला गायको की परपरा ही मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस परपरा के सर्वप्रथम कवि हम श्री हरिराम व्यास को मानते हैं। उनका कविता-काल १६२० के आसपास है।[१०] अत यही युग नित्य-लीला-नाटको के उदय का भी माना जाना चाहिए। स्वामी हरिदास जी के पदो से सकलित 'वेणी गूथन लीला' इन नित्य-लीलाओ मे सर्वप्रथम कही जा सकती है, परतु वह लीला के रूप मे स्वामी हरिदास जी द्वारा नही लिखी गई वरन इस लीला का निर्माण उनके पदो मे अन्य कवियो के काव्य के मिश्रण के आधार पर रासधारियो द्वारा ही बाद मे हुआ होगा। यह भी हो सकता है कि इम लीला के मूल रूप का स्वामी जी के जीवन-काल मे ही रासधारियो ने उनके समक्ष कभी प्रदर्शन भी किया हो तथा परवर्ती कवियो की रचनाए इस लीला मे बाद मे जोड दी गई हो, परतु इस सबध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता व्यास जी से प्रारंभ होकर चाचा हित वृदावन दास जी तक नित्य-लीलाओ

९. चाचा हित वृ दावनदास जी की छद्म लीलाए तथा अन्य वे सभी लीलाए जिनका पुराण ग्रथो मे उल्लेख नही मिलता इसी भावभूमि पर रची गई हैं।

१० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृ० १८२ (स० २०३२ वि० का सस्करण)

की रचना बडी प्रमुखता से हुई। चाचा जी का रचना-काल शुक्ल जी ने सवत १८४४ वि० तक माना है।[11] इसलिए सवत १६२० से लेकर सवत १८५० तक के इस २३० वर्ष के द्वितीय उत्थान-काल को हम नित्य-लीला प्रधान द्वितीय उत्थान का युग कह सकते है।

लीला-नाटको का प्रभाव

इस युग की इस नवीन धारा ने रासमंच को विशेष रूप से प्रभावित किया, जिसके निम्नलिखित प्रभाव हुए :

(१) इस युग की नित्य-लीलाओ मे श्रृगार रस को खूब विकास व विस्तार मिला। इस प्रभाव ने रासमंच पर अनेक मधुर लीलाओ की सृष्टि की, परतु इन सरस श्रृगार लीलाओ मे जनसाधारण को नही वरन रास की उच्च भावभूमि तक पहुचे हुए रसिको को ही इनके दर्शन का अधिकारी माना गया।

(२) नित्य-लीला-स्थल वृंदावन की महत्ता इस युग मे बहुत बढी, क्योकि यही भगवान की नित्य-विहार-स्थली थी। व्यास जी का कथन है कि वृंदावन को मन मे बसाये बिना कोई भी नित्य-लीला और वन-लीलाओ का अधिकारी नही हो सकता।[12] अतः इस भावना ने बरसाना करहला क्षेत्र के महत्व को गौण कर दिया और वृंदावन ही रास के मुख्य केंद्र के रूप मे उदित हुआ।

(३) रस-भक्ति के प्रभाव से रास की अधिष्ठात्री का पद इस युग में राधिका रानी को प्राप्त हो गया। वे ही इस मच की अधीश्वरी घोषित हुईं और उन्हे रासेश्वरी की उपाधि से विभूपित किया गया। कृष्ण अब उनके प्रेमी रसिक और अनुचर बनकर ही गौरवान्वित हुए।[13]

११ आचार्य रामचद्र शुक्ल 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ३३७

१२ जाके मन बसे वन्दावन।
सोई रसिक अनन्य धन्य, जाके हिन राधा मोहन।
तौही नित्य विहार करै, वनलीला कौ अनुकरण। —'व्यासवाणी', पद १७१

१३ वृषभानुकुमारी जब देखौं। तब जन्म सुफल कर लैहौं॥
मैं राधा-राधा गाऊँ। राधा हित बैन बजाऊँ॥
मै राधारमण कहाऊँ। काहे दूजो नाम धराऊँ॥
जहॅ राधा चरचा कीजै। तहँ प्रथम जान मोहि लीजै॥
जहाँ राधा राधा गामे। वहाँ सुनिवे कौ हम आमे॥
श्री राधा मेरी सम्पति। श्री राधा मेरी दम्पति॥
श्री राधा मेरी सोभा। श्री राधा कौ चित लोभा॥
मैं राधा के सग नीको। राधा बिन लागत फीको॥
(गोरे ग्वाल लीला से)

इस युग के साहित्य और रासमंच के संबंध को समझने के लिए हम इस युग के साहित्यकारों को निम्न क्रम से रख सकते हैं :

(१) वे कवि जिन्होंने रासमंच के लिए विशेप रूप से साहित्य लिखा।

(२) पूर्व परंपरा के वे कवि जिनका रासमंच से कोई संबंध न था, परंतु उनकी रचनाओं को महत्वपूर्ण मानकर उन्हें रासलीलाओं में सम्मिलित कर लिया गया।

(३) वे कवि जिनके लीला-साहित्य का रासमंच से कोई संबंध नहीं जुड़ सका।

श्री हरिराम व्यास

प्रथम कोटि के कवियों में हम शीर्ष स्थान श्री हरिराम व्यास जी का ही मानते हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। इसके कारण यह हैं

(१) व्यास जी पहले ऐसे कवि है जिन्होंने हरिवंश जी और हरिदास जी के काव्यसूत्रों का विपुल साहित्य लिखकर एक प्रकार से भाष्य ही किया तथा साथ ही साथ मंच के लिए लीला-साहित्य की भी रचना की। वे लीला-साहित्य के लेखक तथा वृंदावन की रसभक्ति के प्रमुख गायक थे।

(२) वे रास के अनन्य भक्त, उपासक तथा साथ ही साथ रास के विकास में सक्रिय रूप से रुचि लेने वाले भक्त साहित्यकार थे। उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि, 'व्यास वही जो रास करावै।' ('व्यास वाणी', पद ८)

(३) व्यास जी से ही नित्य-लीला के छंदों का सूत्रपात हुआ जो सूर के अवतरित रास की छंद परंपरा में एक नया विकास था। इन्हीं छंदों का पूर्ण विकास आगे चाचा वृंदावनदास जी ने किया।

(४) शरद और वासंती रास के अतिरिक्त श्री व्यास जी ने ही सर्वप्रथम विभिन्न समय के रास पदों की रचना की है जो नित्य-लीला की भावना के परिचायक है, परंतु व्यास जी की लिखी सभी लीला मंच के लिए हैं, हमारा ऐसा मत कदापि नहीं है। व्यास जी ने मंच के लिए लीला लिखने का विशेप प्रयास किया इसलिए वे अपने पूर्ववर्ती लीला गायकों से (रास की दृष्टि से) अधिक महत्वपूर्ण है, यही हमारा कथन है। हमें 'व्यास वाणी' से ही सर्वप्रथम ऐसे पद देखने को मिलते है जिनमें 'लालजू के वचन', 'प्रिया जू के वचन', या 'सखी वचन' शीर्षक दिए गए है। इस संबंध में किसी प्राचीन ग्रंथ 'हस्तामलक' का उल्लेख करते हुए श्री किशोरीशरण 'अलि' कहते हैं इस ग्रंथकार ने इन शीर्षकों से यही निष्कर्ष निकाला है कि यह पद रासलीलाओं के लिए ही बनाए गए।"[१४]

१४ 'ब्रजभारती' वर्ष १७, अंक ७ ८-९, पृष्ठ २२।

हमारे मत से व्यास जी रासलीला-नाटको के प्रथम लेखक थे। वृदावन के नित्य-विहार की नित्य-नवीन लीलाओ के समर्थ द्रष्टा होने के साथ ही साथ वे उनके स्रष्टा भी थे। उनके द्वारा रचित 'गोरे ग्वाल लीला' से प्रकट है कि वे छद्म लीलाओ के भी जनक थे। आज रासधारी गोरे ग्वाल लीला को जिस रूप मे करते हैं वह तो अब अपने विकसित वृहद् रूप मे है।[15] उसमे पुरुषोत्तम जी, हितरूपलाल जी, हरिप्रिया, चंद्रसखी, भगवत रसिक तथा अन्य कवियो के पद जुड जाने से अब इसका विस्तार हो गया है, परतु मूल रूप मे यह व्यास जी द्वारा ही रासमच के लिए लिखी गई एक छद्म-लीला थी, जिसमे गोरी राधिका कृष्ण का रूप बनाकर उन्हे छलना चाहती है। राधा के विरह मे कातर कृष्ण वृदावन मे उन्हे खोजते हुए श्रात और क्लात भटक रहे है कि उधर से एक गोरे कृष्ण अपने अग पर काला लेपन लगाए राधे-राधे की रट लगाते वैसे ही श्रात और क्लात मच पर प्रकट हो जाते है। रासधारी इस प्रसग को जिस रूप मे करते है वह इस प्रकार है।

गोरे ग्वाल लीला

समाजी (तुक)—

कुँवरि कुँवरि कौ रूप धारि कै, नागर नट पै आई है हो।
प्यारी ए पिय ना मिले, सकुची जिय बुद्धि उपाई है हो।

(कृष्ण अपने ही जैसे गोरे कृष्ण को देखकर चकरा जाते है और उन गोरे कृष्ण से पूछते है—)

वार्ता—हे प्रिय मित्र, तुम कौन हौ जो या विपिन राज मे राधे राधे कहि कै टेर रहे हौ। हे मित्र, आप सत्य कहै कै तुम्हारे नेत्रन सो अश्रु प्रवाह क्यो है रह्यौ है। मो कृष्ण की प्राण जीवन राधे आपकी कहा लगै है जिनके जस की माला तुम फेरि रहे हौ।

गोरे ग्वाल वचन (तुक)—

मै वृदावन चंद छवीलौ, राधापति सुखदाई है हो।
तुम को, प्रिया प्रिया कहि टेरत, तजि वन भूमि पराई है हो।

वार्ता—हे प्रिय मित्र, या श्री वृदावन कौ चद्र छबीलौ और श्री राधा कौ पति मैं हू। आप कौन हो जो या श्री वृदावन मे श्री राधे राधे कहि कै टेरि रहे हौ। आप कृपा करि कै या पराई भूमि कू तजि देओ।

१५. देखिए 'गोरे ग्वाल लीला', वृन्दावन से बावा तुलसीदास द्वारा प्रकाशित।

श्री ठाकुरजी वार्ता—देखो प्रिय मित्र, आप कहा आश्चर्य की बात कहो हो। श्री वृंदावन को चन्द्र छवीलो तौ मैं हू। श्री राधे कौ पति हू मैं ही हू। ये सब ब्रजभूमि मेरी है। आप कौन हौ जो या श्री वृंदावन में राधे राधे कहि कै टेरि रहे हो। आप कृपा करिकै या पराई भूमि कू तजि देओ।

गोरे ग्वाल वचन—अहो मित्र, कहा श्री राधे आपकी प्यारी है।

ठाकुर वचन—हां प्रिय मित्र ! वे तौ मेरी ही प्यारी हैं।

गोरे ग्वाल (तुक)—कैसी तेरी तरुनि सुहागिन कहि मोते समझाई है हो।

ठाकुर वचन (तुक)—राधा नाम गाम वरसानो, वडे गोप की जाई है हो।

वार्ता—हे प्रिय मित्र, सुनो श्री राधा तौ उनको नाम है और गाम उनको वरसानो है, और वडे गोप जो वृषभानु जी हैं, तिनकी वे वेटी है।

गोरे ग्वाल वचन—देखौ मित्र, या वात कू तौ सव कोई जानै हैं, परतु और कछु भेद वताओ।

ठाकुर जी वचन—सुनो प्रिय मित्र !

तुक— सुदर पुरुष स्याम मन मोहन, प्रिया अधिक गौराई है हो।
देखो सखा ! सुदर पुरुष जो मैं स्यामघन रूप मनमोहन हू सो मोकू वे मोहिवे वारी और गोरे वदन है।

गोरे ग्वाल वचन—और उनिहारि कौन की सी है।

ठाकुर वचन (तुक)—तुम्हारी सी अनुहारि मैं वारी जाऊ, जव मो तन मुसिकाई है हो।

वार्ता—हे प्रिय मित्र, वलिहारि, वलिहारि, उनकी अनुहारि तौ आपकी सी है। जव आप मो माही मुसिकाऔ हो, वा समय मेरी प्यारी सी लगौ हौ।

गोरे ग्वाल वचन—नाहि मित्र, देखौ जव आप मेरे माही मुसिकाऔ हो, वा समय आप मेरी प्यारी सी लगी हौ।

ठाकुर जी वचन—नाहि तुम मेरी प्यारी हौ।

गोरे ग्वाल—देखौ जी, आप तौ हाँमी करौ हौ। मैं साँची कहूँ हूँ। तुम ही मेरी प्यारी हौ।

ठाकुर वचन—हम हाँसी कैसे करें है।

गोरे ग्वाल—तुम तौ यो हाँसी करौ हौ, कै तुम तौ गौर वदन वताऔ हौ। हमारौ तौ स्याम वदन है।

ठाकुर जी वचन (तुक)—नक वेसर के चिह्न जो ढाँपत, मृगमद वाँटि लगाई है हौ।

वार्ता—देखौ मित्र, नक वेसर के जो चिह्न हैं, तिन्हे ढाँपिवे के ताँई आपनें मृगमद कस्तूरी पीसि के लगाय लीनी है याही तै स्याम है गई हौ, नही तौ हौ तौ मेरी प्यारी ही।

गोरे ग्वाल वचन—अजी,

(दोहा) यह तौ मेरे कहन की, तुम जो कही यह बात ।
मृगमद मलि ठाडे भये, यासो स्यामल गात ।

वार्ता—हे मित्र, ये तौ मेरे कहिबे की बात ही सो आपने कहि दीनी है । मृगमद पीसि कै तौ आपनै ही लगायौ है । जासो आप कारे है गए हौ ।

ठाकुर जी—नाय, तुम ही मेरी प्यारी हौ ।

गोरे ग्वाल—नाय जी, तुम हो हमारी प्यारी हौ ।

ठाकुर जी—देखौ आप मिथ्या कहौ हौ, आप ही हमारी प्यारी हौ ।

गोरे ग्वाल—है ! कहूँ मैं ही ··नाय नाय आप ही हमारी प्यारी हौ ।

ठाकुर जी—देखौ, तुम ही मेरी प्यारी हौ ।

गोरे ग्वाल—है ! कहूँ हम ही तौ नाय ।

ठाकुर जी—अहा हा, कहू आप ही तौ नाऔ (भुजा भरकै भेट लैनो)

समाजी (तुक)—

व्यास स्वामिनी बिहँसि मिली तब, परखि लई चतुराई है हो ।

व्यास जी के इस लीला पद को यदि हम नाट्य की दृष्टि से देखे तो पद के अत मे 'है हो' जोडकर जहा उसमे नाद सौंदर्य की अभिवृद्धि की गई है वहा यह 'है हो' नाटकीय स्थिति की भी पूर्णत: परिपुष्टि करता है । लीला का पद एकदम प्रसाद गुण-पूर्ण है और उसके उत्तर-प्रत्युत्तर बडे चुस्त और चातुर्य-पूर्ण हैं । रासमच पर यह लीला होती है तो उसमे अतिम गद्य संवाद दो-तीन बार दुहराकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि जिनमे स्वय राधा को यह सदेह होने लगता है कि वास्तव मे कही मैं ही तो कृष्ण नही हू और कृष्ण को यह भ्रम होने लगता है कि कही यही (राधा ही) तो ठीक नही कहते, कही मैं ही तो राधा नही हू । इस प्रकार जव दोनो एक-दूसरे को देखकर अपने आपको भूलने की स्थिति मे आते हैं तो दोनो एक-दूसरे को आलिगन पाश मे बाध कर एक हो जाते है । इस प्रकार इस प्रेमलीला मे दार्शनिकता और रस-भक्ति मे उसकी सिद्धि को भली प्रकार व्यजित कर देती है ।

इस प्रकार केवल अवतरित रास की लीलाओ की परिधि से ऊचे उठ-कर वृदावन की नित्य-लीलाओ से साहित्य और मच का शृगार करने वाले व्यास जी लीला-नाटको के इस नये क्षेत्र के कर्णधार हैं । व्यास जी से जिस नित्य-लीला-साहित्य का निर्माण प्रारभ हुआ वह उत्तरोत्तर विकसित होता गया । भक्तिकाल के उपरात हिंदी साहित्य मे रीतिकाल आरभ हुआ तो उससे प्रभावित राधावल्लभीय सप्रदाय के ही अनन्य अलि जी ने तो प्रतिबिंब लीला के साथ-साथ 'चौपर लीला' और 'शतरज लीला' तक लिख डाली, परतु रासमंच इस प्रकार के साहित्य से प्रभावित नही हुआ ।

हित ध्रुवदास जी (सवत १६०० से १७०० वि० तक)

व्यास जी के उपरात लीला-साहित्य के स्रष्टाओ मे सबसे महत्वपूर्ण नाम हित ध्रुवदास जी का है। वैसे ध्रुवदास जी का लीला-ग्रथ 'बयालीस लीला' एक अविस्मरणीय रचना है, जिसमे कवि की रचित ४२ लीलाओ का सग्रह है। यद्यपि इस ग्रथ के वर्णनो को लीला कहा गया है परतु इन बयालीस रचनाओ मे से अनेक का कृष्णलीला से या प्रबधात्मकता तथा नाटकीयता से कोई सबध नही है।[१६]

भगवान श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओ से ध्रुवदास जी की जिन लीलाओ का सबध है, वे निम्न हैं :

(१) रस मुक्तावली (इसमे सखी भाव का तथा सखियो द्वारा प्रिया-प्रियतम के विभिन्न कुजो के विहार-दर्शन का वर्णन है), (२) रस हीरावली (षट् ऋतुओ मे राधा-कृष्ण के विलास का वर्णन), (३) रस रत्नावली (५० दोहो मे प्रिया-प्रियतम की केलि तथा नखशिख की चर्चा), (४) प्रेमावली (विपरीत वेष धारण करके प्रिया-प्रियतम की सयोग शृगार लीला का कथन), (५) रसानन्द (इसमे वृदावन, रति विलास, व्यजन तथा पुष्प-शृगार का वर्णन है), (६) मान लीला (राधा का मान वर्णन), (७) दान विनोद लीला (२२ दोहो मे दान का वर्णन), (८) व्रजलीला (राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन तथा उसके उपरात उनके प्रेम के विकास तथा प्रेम की विविध स्थितियो का वर्णन है), (९) रतिमजरी (अमर्यादित शृगार वर्णन), (१०) नेह मजरी (वृदावन, सुमन-शृगार तथा राधा-कृष्ण रति का वर्णन) (११) रहस्य मंजरी (नेह मजरी के समान), (१२) सुख मजरी (काम ज्वर से पीडित कृष्ण राधा द्वारा बाधा मुक्त किये जाते हैं), (१३) रहसि लता या रहसि लीला (रास क्रीडा वर्णन), (१४) आनदलता (राधा-कृष्ण की जमुना तथा कुजो मे केलि का वर्णन, (१५) प्रेमलता (प्रेम की प्रशसा तथा प्रिया-प्रियतम का सखियो के प्रति प्रेम का वर्णन है), (१६) अनुरागलता (प्रेमलता जैसी ही है), (१७) वन

१६ डा० जगदीश गुप्त का कथन है "प्रिया जु की नामावली काव्यकृति न होकर साधारण नामावली मात्र है। 'सिद्धात विचार' भी गद्य ग्रथ है। इसी प्रकार 'भक्त-नामावली' मे भी 'भक्तमाल' की तरह भक्तो का परिचय दिया गया है। 'वैद्यक लीला' कृष्ण-काव्य से सीधे सबद्ध नही है। 'वृहद् वामन पुराण' की भाषा शीर्षक से ही अनुवाद ग्रथ सिद्ध होता है।

—गुजराती और व्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ५६
किशोरीशरण अलि 'व्रजभारती', वर्ष १७, अक ७-८-९, पृ० २३

विहार (बसत तथा प्रिया-प्रियतम के विवाह का वर्णन है), (१८) रग विहार (सखी द्वारा राधा का रूप आरसी मे देखकर कृष्ण विकल होकर राधा से मिलते है और सुख पाते हैं), (१९) रस विहार (प्रिया-प्रियतम व सखियो का जमुना-जल विहार), (२०) मनि सिंगार (नख-शिख व शृगार वर्णन), (२१) हित शृगार (निकुज विलास, शतरज खेल आदि), (२२) वृदावन सत (वृदावन की शोभा व महिमा वर्णन) (२३) मडल सभा सिंगार (इसमे राधा की अगणित सखियो के नाम तथा ६४ द्वारो वाले निकुज मे विहार, रास तथा जल-क्रीडा का वर्णन है), (२४) भजन सत (भक्ति के स्वरूप की चर्चा-व्याख्या व जुगल प्रेम की चर्चा है), (२५) सिंगार सत (शृगार वर्णन), (२६) रग विनोद (नवरस, ज्यौनार व विहार का वर्णन), (२७) आनद रस विनोद (नायिका भेद कथन), (२८) रग हुलास (नखशिख, वन-विहार, रति), (२९) ख्याल हुलास (युगल-प्रीति, उपदेश, चेतावनी), (३०) भजनाष्टक (भजन की प्रेरणा), (३१) आनन्दाष्टक (वृदावन रस व राधा-कृष्ण की प्रीति का बखान), (३२) निर्त विलास (विभिन्न गतियो मे राधिका के रास का कथन), (३३) प्रीति चोवनी (वृदावन रस रीति वर्णन), (३४) मन शिक्षा (राधा वल्लभ लाल के भजन का उपदेश), (३५) जित्र दिमा (योग, ज्ञान, मोक्ष से भक्ति की श्रेष्ठता का कथन), (३६) जुगल ध्यान (युगल स्वरूप का रूप शृगार वर्णन), (३७) भजन कुडली (प्रेमा-भक्ति व वृदावन यश व प्रिया-प्रियतम का यश कथन है)।

प्राय यह पूरा ग्रथ (सभी लीलाए) दोहा-चौपाइयो मे है। किसी-किसी लीला मे कुडली व अरिल्ल आदि छद भी आ गए है। इन लीलाओ मे नाटकीयता, सगीतात्मकता तथा कथात्मकता का अभाव है। यही कारण है कि ध्रुवदास जी की इन लीलाओ मे से कोई भी लीला रासमच पर स्वीकृत नही हुई। उनकी पदावली को ही रासमच पर विभिन्न लीलाओ मे स्थान प्राप्त है, परतु राधावल्लभीय सप्रदाय को समझने के लिए यह रचना महत्वपूर्ण है। इन रचनाओ के पाठक रास की ओर आकर्षित हुए और इन रचनाओ का प्रभाव रास की मधुर लीलाओ पर पडा—यही ध्रुवदास की इन रचनाओ का महत्व है। ध्रुवदास जी ने राधा के कमल-पत्र पर नृत्य का जो कथन किया है वह उन्ही की अपनी मौलिक उद्भावना है।

ध्रुवदास जी की परपरा मे ही गोस्वामी दामोदर चद्र जी ने (सवत १६८० वि० तक) 'रस-लीला' की रचना की थी।

माधुरीदास जी (स्थितिकाल स० १७०० वि० के आस-पास)

ध्रुवदास जी के ही समकालीन दूसरे समर्थ लीला-साहित्य के रचयिता

चैतन्य संप्रदाय के श्री माधुरीदास जी हैं। उन्हे डाक्टर जगदीश गुप्त ने न जाने क्यो माधवदास कहा है। बाबा कृष्णदास ने माधुरीदास जी की रचनाए 'माधुरी वाणी' के नाम मे प्रकाशित की हैं जो निम्न है :

(१) उत्कठा माधुरी, (२) वशीवट माधुरी, (३) केलि माधुरी, (४) वृदावन विहार माधुरी, (५) मान माधुरी, (६) होरी माधुरी, (७) प्रिया जू की बधाई। इन माधुरियो मे और ध्रुवदास जी के लीला वर्णनो मे दृष्टिकोण की भारी समानता है, परतु माधुरीदास जी ने अपनी लीलाओं के साथ जो 'माधुरी' शब्द जोडा है उसे अपने साहित्य मे पूरी तरह सार्थक करने मे उन्हे पूरी सफलता मिली है। उनके पद व रचनाओं के अंश भी रासलीला मे सम्मिलित हैं।

चंदसखी

सवत १७०० वि० के उपरात रासलीलाओ मे नया रग भरकर उन्हे जन-जन के अतर्मन तक पहुंचाने मे चदसखी जी का नाम बहुत महत्व का है। रास-मच पर प्रचलित सरस 'चद्रावली लीला' आपकी ही लिखी कही जाती है, जिसमें भगवान कृष्ण चंद्रावली गूजरी को छलने के लिए मधुर रूप धारण करते है। विभिन्न लीलाओ का स्फुट साहित्य भी चदसखी ने प्रचुर मात्रा मे लिखा है, जिनमे से अधिकाश को साहित्य के पडितो ने लोक-साहित्य कह कर छुट्टी पा ली है, परतु एक समर्थ साहित्यकार होते हुए भी (जैसा कि उनके वाणी साहित्य से प्रकट है) उन्होने प्रसादमयी भाषा मे लोक धुनो मे क्यो साहित्य-सृजन किया ·सका कारण खोजने का प्रयास किसी भी विद्वान ने नही किया।

चदसखी के सबध मे अब तक कई ग्रथ और स्फुट लेख लिखे जा चुके हैं, जो अधिकतर ब्रज से बाहर के विद्वानो के हैं। इस कारण वे चदसखी के सबध मे प्रामाणिकता के स्थान पर अटकलबाजी पर ही अधिक आधारित हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल ने प्रथम बार ब्रज मे बिखरी हुई उनकी जीवन सामग्री का उपयोग करके उनके बारे मे साधिकार विवेचन किया है। चदसखी के जीवन-वृत्त का परिचय 'चदसखी का जीवन और उनका साहित्य' मे मीतल जी ने निम्न प्रकार दिया है

"चदसखी सुप्रसिद्ध भक्ति-कवि श्री हरिराम जी व्यास जी के वंश मे उत्पन्न श्री गोपीकात जी के पुत्र थे। उनका जन्म सवत १७०० वि० के लगभग ओरछा मे हुआ था। वे अपने प्रारभिक जीवन मे ओरछा के निकटवर्ती मोठ थाना के थानेदार थे। पूर्व सस्कारो के कारण उनके हृदय मे भगवत् भक्ति के अकुर विद्यमान थे, जो समय आने पर पल्लवित और पुष्पित होने लगे। फलत वे अपने जन्मस्थान, कुटुब-परिवार और पद-गौरव को छोडकर विरक्त भाव से वृंदावन चले गये, वहा पर राधावल्लभ सप्रदाय के एक विख्यात विरक्त भक्त

बालकृष्ण स्वामी से दीक्षा लेकर वृदावन वास करने लगे।"

आगे मीतल जी कहते है, "उन्होने राजस्थान, बुदेलखड, मालवा आदि अनेक राज्यो मे भ्रमण कर भक्ति भावना का व्यापक प्रचार किया था। उन यात्रियो मे उन्होने रास का प्रचार किया और उसमे गायन करने के लिए भक्ति-पूर्ण पदो के अतिरिक्त अनेक भजनो और लोकगीतो की रचना भी की।"[१७]

इस प्रकार मीतल जी ने चदसखी का रास से सबध माना है और उन्होने रास के लिए साहित्य की रचना की यह भी इगित किया है परतु केवल उक्त पक्तियो से ही उनके रास-सबधी योगदान पर उचित प्रकाश नही पडता।

यदि हम रासलीलाओ मे गाये जाने वाले चदसखी के साहित्य का बारीकी से अध्ययन करे तो एक तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से सामने आता है। चदसखी ही वह प्रथम कवि थे जिन्होने यह अनुभव किया कि यदि रास को और इसमे प्रदर्शित कृष्णलीलाओ को लोकमानस के अतर्मन मे गहरे ढग से प्रतिष्ठित करना है तो इसका लोक-सगीत से सवध जोडना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यही कारण है कि उन्होने प्रचुर मात्रा मे लोकधुनो मे ऐसे गीत लिखे जो पूर्ववर्ती भक्तो की वाणी के साथ रास मे गूथे जा सके। चदसखी का यह प्रयोग रास मे उनकी अडिग आस्था का प्रतीक है जिसने उस मच को एक नवीन आकर्षण प्रदान किया। इस प्रयोग के निम्न परिणाम हुए :

(१) प्राचीन महात्माओ की वाणी के साथ लोकधुनो ने मिलकर रास के माध्यम से प्राचीन भक्तो की वाणी को लोकमानस मे बहुत गहरा प्रतिष्ठित कर दिया।[१८]

(२) रास का मच चदसखी जी के इस प्रयोग से ब्रज के जन-जन का मच बन गया। इससे लाभ तो यह हुआ कि रास के प्रचार और प्रसार का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया, परंतु जहा एक ओर रास जनता के अधिक निकट आया वहा कालातर मे इससे यह हानि भी हुई कि बाद मे चदसखी के अनुकरण पर रास मे और भी इधर-उधर के सस्ते लोकगीत स्थान पा गए, जिससे रास का सास्कृतिक स्तर व धरातल कमजोर हो गया और धीरे-धीरे लोकगीतो की ये

१७ किशोरीशरण अलि 'ब्रजभारती', वर्ष १७, अक ७ ८-९, पृ० ३३

१८. चदसखी का रास से निकट का सपर्क था फिर भी उन्होंने स्वय एक चद्रावली लीला ही लिखी। सभवत इसका मूल कारण यही था कि वह पूर्ववर्ती वाणी साहित्य को ही रास का मूलाधार बनाए रखने के पक्षपाती थे, किंतु उनके साथ लोकधुनो का समावेश करके वे रास को व्यापक आधार भी देना चाहते थे। इसी निमित्त उन्होंने रास का लोकधुनो से सपर्क कराया। उनके पूर्ववर्ती किसी भी कवि का इस ओर ध्यान नही गया। रास-लीलाओ मे चदसखी से पूर्व के किसी कवि का लोकधुन मे रचित कोई गीत हमे खोजने पर भी नही मिला।

सीधी-सादी धुनें रास मे प्रमुखता पाती रही जिसमे रास के पात्रो का शास्त्रीय सगीत के प्रति भी आकर्षण बहुत कम हुआ, क्योकि लोकधुनें कम परिश्रम व साधना से ही गाई जा सकती थी और उसके द्वारा साधारण दर्शक वर्ग मे भी सहज ही मे वाहवाही प्राप्त की जा सकती थी।

इस प्रकार चदसखी से रास के सगीत को एक नया मोड मिला। रास की कथावस्तु मे लोक-साहित्य का भी प्रचलन होने से भक्ति का यह मंच लोकोन्मुख हो गया। इससे अपढ लोग भी साधारण से संगीत ज्ञान से रास के अभिनेता बनने लगे और उसके नृत्यादि के स्तर को भी आघात पहुचा। इस प्रयोग ने कालातर मे रास की शास्त्रीय सगीत मे दूरी बढा दी।

रासमच के स्तर की इस गिरावट से चदसखी के बाद ही भावुक भक्त अकुला उठे थे। इसका उल्लेख भी हमे राधावल्लभीय साहित्य मे ही मिल जाता है। श्री किशोरीशरण अलि ने 'सेवक-चरित्र' के प्रणेता प्रियादास जी की इस आकुलता का एक विवरण उद्धृत किया है। संवत १८३६ की अगहन वदि १४ को इस लेखक ने लिखा था

"तापाछे एक दिवस गुसाई जी के मदिर मे रासधारिन के समाजी गायवे कू आये सो वे ख्याल वाल गावने लगे। हमकू भजन मे बड़ौ खेद भयौ तब हम वहा से उठि कैं श्री महाराजजी दामोदरचन्द जू के रास मे लता मदिर मे आइ बैठे।"[१९]

परंतु रास के स्तर मे इस गिरावट का दोष चदसखी जी को देना उचित न होगा, क्योकि लोकधुनो का आधार लेने पर भी उनका साहित्य उच्च-स्तरीय भावभूमि पर स्थित है।

विजय सखी

व्यासजी की शिष्य परपरा मे विजय सखी रास लीलाओ के रचयिताओ मे महत्वपूर्ण हैं। यह वृंदावन मे व्यास जी की गद्दी के महत थे। इनका जन्म काल संवत १७०० वि० के आसपास है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने इन्हे व्यास जी का वशज भी कहा है जो उनकी छठी पीढी मे थे। मीतल जी ने विजय सखी को चदसखी का बडा भाई बतलाया है। विजय सखी एक भावुक भक्त-कवि थे। लीला-साहित्य के रचयिता के रूप मे इनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि विजय सखी जी व्यासजी की परंपरा मे सखी

१९. इस विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि तब तक कुछ मडलिया ऐसी भी थी जिन्होंने लोकधुनो को अपने यहा मान्यता नही दी थी, परतु बाद मे तो रसिया, लावनी आदि लोक छद रास के अग ही बन गए।

भाव से लीन ही नही थे, वरन् उन्होने व्यासजी की परपरा के अनुरूप अपने आपको रासलीला की साहित्य-रचना के लिए भी समर्पित कर दिया था। विजय सखी जी ही इस पीढी मे एकमात्र ऐसे कवि थे, जिन्होने मच के लिए स्वय काव्य-रचना की तथा प्राचीन वाणियो और सस्कृत साहित्य से भी अनुकूल सामग्री का चयन करके ऐसी लीलाए रची जो रासमच पर ज्यो की त्यो अभिनीत हो सके। इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने पर भी विजय सखी जी का साहित्य के इतिहासो मे उचित रूप से उल्लेख नही मिलता। शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे उनकी चर्चा केवल प्रेम सखी (बक्शी हसराज) के गुरु के रूप मे ही की है। इसका कारण कदाचित यही है कि विजय सखी साहित्य से अधिक कला के प्रति समर्पित रहे, अतः साहित्य मे उनका उचित मूल्याकन नही हुआ।

परतु रासधारियो ने विजय सखी जी की महत्ता को लीलाओ के निर्माता के रूप मे महत्वपूर्ण मान्यता दी है। रास पर लिखे गये एकमात्र परिचय-ग्रथ 'राससर्वस्व' मे राधाकृष्ण रासधारी ने विजय सखी की लिखी १८ लीलाए प्रकाशित की थी।[२०] यह सभी लीला रासधारियो द्वारा मच पर प्रदर्शित की जाती थी। इनकी रची 'गोपदेवी लीला' जन-जन का मन मोह लेती है।

नागरीदास जी (कविता काल स० १७८० वि० से १८१९ वि० तक)

ध्रुवदास जी जैसे दूसरे लीला लेखक नागरीदास जी थे। साहित्य के इतिहास मे नागरीदास जी की ७३ पुस्तको का उल्लेख हुआ है,[२१] परतु वास्तव मे यह ७३ पुस्तके नही है। इन पुस्तको को ७३ शीर्षक समझना चाहिए जिनके अंतर्गत कवि ने प्रिया-प्रियतम की लीलाओं, ब्रज, वृदावन तथा अपने विचारो और उद्गारो का वर्णन किया है। नागरीदास जी ने विविध ऋतुओ मे प्रिया-प्रियतम की केलि तथा विहार के साथ विभिन्न त्योहारो और उत्सवो के अवसर पर भी उनके आनंद प्रमोद का वर्णन किया है। प्रिया-प्रियतम के दैनिक विलास, विहार, वन-विनोद आदि सभी प्रसगो पर उन्होने बडी सरसता से लिखा है। यही कारण है कि नागरीदास जी की रचनाओ को रास मे प्रमुख रूप से स्थान प्राप्त है। उनकी 'होरी की माझ', 'श्रीकृष्ण जन्मोत्सव कवित्त,'प्रिया जन्मोत्सव कवित्त', 'बालविनोद', 'वन विनोद', 'रसिक रत्नावली','शरद की माझ' आदि रचनाओ के पद रास मे सम्मिलित है। 'साझी फूल बीनन संवाद' रचना तो अपने शीर्षक से ही यह प्रकट करती है कि कदाचित् यह नागरीदास जी ने विशेष रूप से रासमच के लिए ही लिखी थी। रास मे नागरीदास जी की यह

२० प्रभुदयाल मीतल : 'ब्रज का सास्कृतिक इतिहास', पृ० २२०
२१ श्री किशोरीशरण अलि 'ब्रजभारती', वर्ष १७, अक ७

लीला 'सांझी लीला' के रूप में प्रचलित है। नागरीदास जी के अनेक पद रास-मंच के अभिन्न अंग हैं।

नागरीदास नाम के और भी कवि ब्रज में हुए हैं, अतः रास में उनकी रचनाएं भी उक्त नागरीदास जी की रचनाओं में घुल-मिल कर एकाकार हो गई हैं। रास में नागरिया या नागरीदास की छाप सुनने मात्र से यह पता लगाना कठिन होता है कि उक्त रचना किन नागरीदास की है।

प्रेम सखी

बख्शी हंसराज श्रीवास्तव कायस्थ थे जिनका जन्म पन्ना में सं० १७६६ वि० में हुआ था। यह पन्ना नरेश श्री अमानसिंह जी के राज दरबार में थे। आप विजय सखी जी के शिष्य थे जिनका नाम राधावल्लभीय सम्प्रदाय में 'प्रेम-सखी' रखा गया। उनके लीला संबंधी ४ ग्रंथों का आचार्य शुक्ल जी ने उल्लेख किया है: (१) सनेह सागर, (२) विरह विलास, (३) राम-चन्द्रिका, (४) बारह-मासा। प्रेमसखी छाप के पद भी रासमंच पर गाये जाते हैं। उनका सनेह सागर लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है जिसमें भगवान कृष्ण की लीलाओं का बड़ी कोमलकान्त शैली में वर्णन है। उनका एक वर्णन देखिये,

एरे मुकुटवारे चरवाहे, गाय हमारी लीजो।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी, सौंपि खरक कै दीजो।
होहु चरावन हार गाय के, बांधन हार छुरैया।
करि दीजो तुम आप दोहनी, पावै दूध लुरैया।

अन्य कविगण

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के गोस्वामी हितरूपलाल जी ने (संवत १८०० वि० तक) इसी परंपरा में मुरलीगान लीला, प्रेम विचित्र लीला, निकुंज केलि लीलाओं की रचना की है।[22] अलबेली अलि जी की 'समय प्रबंध पदावली' भी इसी प्रकार की रचना है। वंशी अलि जी का 'राधिका महारास' भी इस परंपरा की ही एक अपने ढंग की ऐसी रचना है जो सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। वंशी अलि ने श्रीकृष्ण को रास में स्थान देना वर्जित करके राधा को एक पद में सखी के साथ नचाया है देखिये :

सजनी दोऊ नृत्य करें।
गरबाहीं मुख जोरि कुँवरि-ललिता थेई थेई उचरें।

२२. श्री किशोरीशरण अलि : 'ब्रजभारती', वर्ष १७, अंक ७-८-६

एकहि पट सिर ऊपर लीये, मुख दुराइ दोउ खोले ।
आसपास करि परसि चिबुक, दोउ दृग मिलाइ मधु बोले ।
सन्मुख ह्वै नूपुरनि बजावत, बिच बिच चलनि छबीली ।
नोकनि दृग रोकनि भ्रकुटी की, मुरनि ग्रीव तिरछीली ।
मुसकि जानिकर छ्वै अलिगन, झिझकन चित आकरषै ।
उरप तिरप की लेन छबीली, वंशी दृग सुख बरसै ।[23]

उक्त लीला लेखको के अतिरिक्त इस युग के स्फुट लीला पद लेखको मे हम राधावल्लभीय सप्रदाय के गो० कृष्णचद्र जी, निम्वार्क सप्रदाय के रूप रसिक, वृदावन देव जी, गोविंदशरण जी, विहारिनदास जी, हरिदासी सप्रदाय के विट्ठल विपुल जी, सरसदास, नरहरिदास, किशोरदास तथा चैतन्य सप्रदाय के रामराय, गदाधर भट्ट, वल्लभ रसिक आदि के नाम इस परपरा मे जोड सकते हैं । इन महानुभावो के रास के तथा लीलाओ के पद रासमच के लीला नाटको मे प्रयुक्त होते आए है ।

चाचा हित वृ दावन दास

जिस समय चाचा वृदावनदास जी साहित्य-क्षेत्र मे आए उस समय रास रगमच का देश मे व्यापक प्रचार हो चुका था और रास मडलियो मे बहुत सी ऐसी मडलिया भी खडी हो गई थी जो रास के प्राचीन भक्ति प्रधान स्वरूप की रक्षा करने मे समर्थ नही थी और उन्होने चंदसखी द्वारा निर्दिष्ट पथ का दुरुपयोग करके सस्ते लोकगीतो को रासलीलाओ मे सम्मिलित करके सस्ती लोकप्रियता के फेर मे उसके सास्कृतिक स्तर को गिरा दिया था। रास के प्राचीन रसिक इस स्थिति से खिन्न थे, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं ।

ऐसी स्थिति मे चाचाजी ने रास रगमंच को नवीन नेतृत्व दिया और व्यापक आधार पर लीला-साहित्य की रचना की । लीला-साहित्य मे भक्ति के सिद्धातो की रक्षा के साथ-साथ लोक रुचि तथा नाटकीयता का भी पूरा ध्यान रखा गया । यही कारण है कि चाचा वृदावनदास जी द्वारा रचित लीलाए उनके जीवन-काल मे ही रासमच का एक प्रमुख आकर्षण बन गई और आज तक ये लीलाए रासमंच का परमावश्यक अनिवार्य अंग बनी हुई हैं । चाचा वृदावनदास जी जैसा रासलीला साहित्य का समर्थ स्रष्टा दूसरा नही हुआ । उनकी रची हुई २७ छद्म लीलाए 'रास छद्म विनोद' मे सकलित है । सूरदास जी के बाद चाचा जी ही ऐसे एकमात्र साहित्य स्रष्टा हैं जिनका रास के लीला साहित्य पर

२३ श्री प्रभुदयाल मीतल . 'व्रज का इतिहास', पृष्ठ २२२

सर्वाधिक प्रभाव है। परिमाण की दृष्टि से उनकी रची हुई लीलाएं सूरदास जी से भी अधिक है। छद्म लीलाओं के अतिरिक्त भी चाचा जी ने अनेक रास-लीलाएं लिखी हे : 'नारद लीला', 'ब्रह्मा लीला', 'महादेव लीला', 'शिव जोगी लीला'। ऐसी कई लीलाओं की रचना पहली बार चाचा जी ने ही की जिनमें उक्त सभी देवता कृष्ण-राधा के दर्शन को आते हैं। इन लीलाओं में 'महादेव लीला' सर्वाधिक प्रसिद्ध है जिसे सभी रासधारी करते है। 'श्री प्रियाजी की गुराई लीला' में राधा अपनी परछाई देखकर भ्रमित होती हैं जिसे श्रीकृष्ण दूर करते है। इसी प्रकार 'श्री प्रिया रूप गर्व लीला' में राधा को अपने रूप पर गर्व हो जाता है। रासमंच पर छद्म लीलाओं के अतिरिक्त चाचाजी की जो लीलाए आज भी बड़े रस से की जाती हैं उनमें 'महादेव लीला' के अतिरिक्त 'स्वप्न लीला', 'चुनरी लीला' और 'बनजारी लीला' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। 'श्रीजी की महादेव लीला' भी आपने लिखी है, जिसे केवल निम्बार्कीय मंडली ही करती है।

रासधारियों में चाचा वृंदावनदास जी द्वारा रचित लीलाओं का अत्यधिक सम्मान है। यही कारण है कि चाचा वृंदावनदास जी की लीलाएं रास मंडलियों में सबसे अधिक होती हैं। रास के लिए उनकी लिखी लीलाओं के अतिरिक्त कभी-कभी चाचा जी के पूरे ग्रंथों को भी वृंदावन के रसिक भक्त रासलीला शैली में प्रस्तुत करने का आयोजन करते देखे गए है। अभी कुछ वर्ष पूर्व वृंदावन की कई रास मंडलियों ने मिलकर कई दिनों के पूर्वाभ्यास के उपरांत चाचा जी के पूरे ग्रंथ 'लाड सागर' को लगातार एक सप्ताह तक आदि से अंत तक मंच पर रास शैली में प्रस्तुत करके 'श्री राधा-कृष्ण के व्याहुले की लीला' की थी।

छद्म लीलाएं

चाचा वृंदावनदास जी की सर्वाधिक प्रसिद्धि उनकी छद्म लीलाओं के कारण है, चाचाजी की ३२ छद्म लीलाए उपलब्ध हैं जिनमें २७ राधा-कृष्ण से संबंधित है। इन सभी लीलाओं में राधा के दर्शन के हेतु विभिन्न रूप बनाकर भगवान कृष्ण बरसाने जाते है और अपने छल बल और कौशल से राधा का सान्निध्य प्राप्त करते है। यद्यपि इन सभी लीलाओं की कथा एक जैसी है परंतु प्रत्येक लीला के संवादों में उक्ति-चातुर्य तथा कृष्ण के विभिन्न छद्म रूपों की प्रचुरता और स्थितियों की भिन्नता ने इन लीलाओं में फीकापन नहीं आने दिया है। इन लीलाओं में अद्भुत नाटकीयता का समावेश है क्योंकि इनमें दर्शकों की कौतुक वृत्ति निरंतर सजग रहती है और वह इन लीलाओं के चुहलपूर्ण कथोपकथनों से रस में विभोर रहता है। उदाहरण के लिए 'गौनेवारी लीला' की एक झलक देखें।

गौनेवारी लीला

इस लीला मे होली के अवसर पर कृष्ण एक सजीली व लजीली नई गौनावली ग्वालिन का वेश धारण करके बरसाने पहुचते हैं और अपनी रूप माधुरी से सखियो को प्रभावित करके राधा रानी के अत पुर मे प्रवेश पा जाते हैं। बरसाने मे सखियो की सभा मे प्रियाजी के सम्मुख एक गौनावली के होली के दिनो मे इस प्रकार भटकने का जब कारण पूछा जाता है तो यह गौनावली गोपी सभा मे पूरा वक्तव्य ही दे डालती है। वह विनीत भाव से प्रियाजी से कहती है कि 'हे राजरानी जी ! यहा नद के गाव (नदगाव) मे बडी अनीति है। मैं प्रतिष्ठित कुल मे जन्मी हू, इस अनीति को सह नही सकती, इसलिए हे किशोरी जू ! आप मुझे मेरे पीहर (मायके) भिजवा देने की कृपा कर दें।

यह बात सुनकर सखियो की उत्सुकता बढती है। वह उस अनीति को जानना चाहती है तथा उस कुलवंती से यो न भटक कर अपनी ससुराल लौट जाने का आग्रह करती है। यह गौनावली गोपी ससुराल लौटने मे असमर्थता प्रकट करती हुई नदगाव की उस अनीति का वर्णन करती है। उसे चाचाजी के शब्दो मे ही देखे

हौ गौने अबही आई, समझो न कछू चतुराई।
एक दिना हौ पौरी ठाढी, देखी कुमर कन्हाई।
वह ढोटा रिझवार रूप कौ, मो मन भरी भुराई।
भूल्यौ खेल और ठौरन, मो द्वारे धूम मचाई।
फिर-फिर रग भिजोवे मोकूँ, हौ सकुची जु महाई।
गावै निपट उधारी बाते, मुख मोडन ललचाई।
मोहि सलौनी कहे साँमरौ, दै दै बहुत बडाई।
भीजो लाज, कहाँ लगि ढाँपो यह तन सुदरताई।
लागे दोष लगावन मोहि सब नर नारी जु चबाई।
घर मे पाँव ठहरें कैसें, मोय सास मिली लरिहाई।
इक दिन हौ कपाट दै बैठी, ऐसी उक्ति उपाई।
खोलि खोलि कहै लगर मेरी, मुरली तै जु चुराई।
हौ डरपी कैसी बनी दैया, यासो कहा बसाई।
जुरि आये सब पार परौसिन तिनन मोय समझाई।
यह राजा को कुमर घरबसी, तै कहा कुमति उपाई।
दै चुकि याकी मुरली जौ तै, कहूँ डरी है पाई।
पुनि आये सब सखा सग के, बढ गई भीर सबाई।
काहू के कर रग कमोरी, काहू कर पिचकाई।

बीच परी उनकी जो मिलनिया, तिननि किवारि खुलाई ।
लाल कहै ढूँढो मुरली, इन चोली माँहि दुराई ।
हौ घूँघट दै बाहर निकसी, तारी सबन बजाई ।
भाजन सीस रगते ढोरें, नख सिख मोहि भिजाई ।
इत तासें मोकौ सब घरके, उत उन करी हुरचाई ।
कैसै बास होय मेरो जिय, छिन छिन मैं अकुलाई ।
औसर पाय निकसि ही आई, मो मैं कहाँ बुराई ।
विधि बाँधी जो गरे मे सोभा, वह मोहि नाँच नचाई ।
अब काहू ढिग बैठ रहूँगी, बुहि पुर गयो न जाई ।
कीजै कहा होय जहँ राजा हू को सुत अन्याई ।
धर्म रहौ कै जाहु, वहाँ के नाते सो हौं धाई ।
कोऊ कहौ भली के भोडी, हौ सब कथा सुनाई ।
होरी तो सब ठौरि, देखि नदगाम जु बुद्धि भुलाई ।
आठ पहर को पुहुपट देखत को न जाय बौराई ।
तुम ही राजसुता जो न्यायकी यहि घर रीति मदाई ।
शिक्षा देहु कृपा करि मोको जो मन मिटे कच्याई ।

इस प्रकार छद्म वेप धारिणी यह गौनावली राधा के हृदय मे असतोष भडका कर और पानी मे आग लगाकर तमाशा देखने के लिए पूरी कूटनीति का प्रयोग करती है, परतु धीर-गभीर राधा सखियो की उस सभा मे इस गौनावली को कोई स्पष्ट उत्तर न देकर केवल इतना ही कहती है :

बसो भवन यहाँ भाँम, भोर ह्वाँ ठाँदिन देहुँ पठाई ।
तेरे पति की सासु ससुर की, नृप सुत की जो खुट्याई ।

इस वार्तालाप मे रात्रि हो जाती है । राधा बडे स्नेह से उसे अपने साथ भोजन कराती हैं और उसके उपरात उसके शयन की व्यवस्था करने की सखियो को आज्ञा देती हैं, परतु गौनावली कहती है कि मुझे अकेले सोने मे नीद नही आती है :

न्यारे मोय नीद नहि आवै, और न कछू सुहाई ।
रहि कै निकट कहानी कहि हो, सुनो कुमरि चितलाई ।

यह सुनकर प्रिया जी उस गौनावली को अपने साथ ही सोने की अनुमति दे देती है । एकात मे शयन-कक्ष मे प्रियाजी गौनावली के उस वक्तव्य के प्रति विरोध और असंतोष व्यक्त करती हैं जो उसने दिन मे सखियो की सभा मे दिया था । वे कहती है :

तू कारी कारौ जु नदसुन, कैसे प्रीति बढाई।
उनके मन की हौ परखत, तै कौधौ जुगति बनाई।
वे मो दृग पुतरीन बसन, हौ उन दृग माँहि समाई।
यह तौ बात अटपटी भामिनि, सुनि हौ सोच दबाई।
मुरलीधर के व्रत अनन्य, मो बिन न और मन भाई।
कहत कहत ही हिय भरि आयौ, नैननि नीर बहाई।
नदगाम की सुनि मन लरज्यौ, तासो करी भलाई।
खोटी बात कही प्रियतम की, ते हिय जिय अनखाई।

राधा की यह अनन्यता देखकर कृष्ण मूर्छित हो जाते है, यह देखकर स्वामिनी जी घवडा जाती है और ललिता को बुलाती हैं। ललिता आकर मूर्छित कृष्ण का छद्म पहचान लेती है और इस प्रकार प्रियतम को घर आया देखकर प्रियाजी उनके कठ से लिपट जाती है। सब सखी कृष्ण की यह लीला देखकर उनकी खिल्ली उडाने लगती है और अंत मे ·

करि परिहास सखी भई न्यारी, रजनी सुख जु बिहाई।
वृदावन हित रूप परम कौतुक रस लीला गाई।

इस प्रकार चाचाजी की यह छद्म लीलाए बडी रसपूर्ण और अपने ढंग की अनूठी है। इन लीलाओ मे ये गौनेवारी लीला, चिनेरिन लीला, सुनारिन लीला, मनिहारी लीला, मालिन लीला, बिसातिन लीला, पटविन लीला, बीनावारी लीला व रगरेजिन लीला आदि अधिक प्रसिद्ध है। यह सभी रास मे की जाती है।

अन्य रास-लीलाए

छद्म लीलाओ के साथ-साथ चाचाजी की उन लीलाओ का विशेष महत्त्व है जिनमे राधा को कृष्ण की प्रणीता पत्नी मानकर चाचाजी ने सूरदास द्वारा निरूपित स्वकीया भावना को पूर्ण रूप से विकसित किया है। प्रिया-प्रियतम के दापत्य-प्रेम का पूर्ण रूप से चित्रण उनकी विभिन्न लीलाओ मे हुआ है। सूरदास ने राधा-कृष्ण के जिस लरिकाई के प्रेम का उल्लेख किया है उसका सागोपाग चित्रण चाचाजी ने अपनी रासलीलाओ मे बडी भावुकता से किया है। इन लीलाओ मे मध्यकालीन व्रज सस्कृति के भी बड़े सुदर चित्र यथास्थान उपलब्ध हैं। सच तो यह है कि व्रज की लोक-सस्कृति के मर्म मे जैसी पैठ चाचा वृदावनदास की है वह किसी दूसरे लीला-गायक मे नही मिलती।

चाचाजी द्वारा रचित 'स्वप्न लीला', 'गुडिया लीला', 'दुलरी लीला', तथा 'बनजारौ लीला' ऐसी ही लीलाए है जो राधा-कृष्ण के प्रेम की भावुकता-

मयी नाटकीयता के साथ ब्रज-सम्कृति के उद्घाटन का भी महत्वपूर्ण कार्य करती है। उदाहरण के लिए 'स्वप्न लीला' मे बाल कृष्ण सोते हुए वरमाने का दृश्य देखते हैं जहा रमणियो के समूह मे उनके दूलह बनने की तैयारी होती है परतु दूलह बनने से पहले ही जसोदा उन्हे जगा देती है। भगवान कृष्ण इस प्रकार अपना विवाह बिगाडने का दोष माता को देते है, परतु जसोदा कृष्ण से स्वप्न सुनकर भावविभोर हो जाती है। वे कृष्ण को स्वप्न का अर्थ समझाती हैं और बतलाती हैं कि उनका विवाह निश्चय ही वृषभानु की पुत्री से होगा। यह सुनकर कृष्ण बहुत प्रसन्न होते हैं, परतु जसोदा उन्हे मना कर देती हैं कि स्वप्न किसी को न बतलाएं अन्यथा बात फूट जाने पर लोग कन्यापक्ष को बहकाकर ब्याह बिगडवा देंगे, परतु राधा जैसी दुलहिन प्राप्त होने की बात कृष्ण के पेट मे पच नही पाती। यह बात उसी समय क्रमश. गोपियो, बलराम, मनसुखा सभी को ज्ञात हो जाती है। वे सभी कृष्ण को चोर और काला कह-कर इस विवाह मे सदेह प्रकट करते है और भाजी मारकर ब्याह बिगाडने की बात कहते है। कृष्ण सबकी हा हा खाते है परतु कोई उनके विवाह का समर्थन करने को तैयार नहीं होता। जसोदा भी आचर फैलाकर सबसे कृष्ण के विवाह मे सहयोग करने को कहती हैं पर बात बन नही पाती तो कृष्ण झुभला जाते हैं और मैया से कह उठते है :

मैया मेरी और न कोई।
ही सहाय जाकी चाहत हो, बैर करत है सोई।
बिना ब्याह के सब ही डोलत, मैं यह बात टटोई।
अपु समान राख्यौ चाहत, याते जिय धकपक होई।

परतु जसोदा जब उन्हे ब्याह होने का आश्वासन देती हैं तो वह आवेश मे आकर ग्वालो की आलोचना करने मे लग जाते हैं

इनके राखे ब्याह न रहि है, ये लेउ थूक बिलोई।
भली बात को काटत डोलें, निपट अघोरी जोई।
बाबा के परताप ते जीति हो, कहा करेंगे लोई।
वृदावन हित रूप बहुरिया, ब्याहो दूध की धोई।

उसी समय वहा नदजी आ जाते है, उन्हे देखकर कृष्ण रोकर उनसे लिपट जाते हैं और उनसे अपना ब्याह बिगाडने वालो की शिकायत करते हैं तो नद उनका ब्याह बडी धूमधाम से करने का आश्वासन देते है

बेटा ऐसौ ब्याह करूँगी।
बडे बडे भूप बरात चलिगे, बडी बडी बम्ब धरूँगी।

वागे और दुशाला गहने सव ग्वालन को देहौ।
मेरे मोहन को सुख दैहै सग सवन को लेहौ।

इस भांति नद का आश्वासन पाकर कृष्ण प्रसन्न हो उठते है और नद जी तत्कालीन वरातो के वैभव का तथा व्रज मे विवाह के अवसर पर होने वाले लोकाचारो को धूम से करने का वर्णन करते है।

चाचा वृदावनदास ने अपने अनेक ग्रथो मे राधा-कृष्ण के विवाह का बडा विस्तृत वर्णन किया है। 'वनजारौ लीला' मे तो उन्होने राधा को वधू के रूप मे नंदगाव मे ही वसा दिया है। रास रगमच पर 'बनजारौ लीला' ही एकमात्र ऐसी लीला है जिसमे राधा वधू के रूप मे श्वसुर गृह मे वसती हुई सावन मे पीहर जाने की कामना करती हैं और बरसाने के एक बनजारे के द्वारा पिता से अपने को पीहर बुलवा लेने का मार्मिक सदेश भेजती हैं जिसे पाकर श्रीदामा भैया उन्हे झूला झूलने के लिए वरसाने ले जाने के लिए आते है।

इस प्रकार वृदावनदास जी की व्रज-लीलाओ मे उनकी मौलिकता सर्वत्र विद्यमान है। उन्होने लीलाओ के विषयो के चयन मे पूरी मनोवैज्ञानिकता प्रदर्शित की है। इनके लीला साहित्य के सवध मे श्री किशोरीशरण अलि का कथन है·

"चाचाजी ने वृदावन रस प्राणभूत 'राधाचरण प्रधानतत्व' की भूमिका पर व्रज की लीलाओ का निर्माण किया। यद्यपि इन लीलाओ मे आलबन और उद्दीपन सभी व्रज के ही है तथापि इन सब पर प्रणेता की—'राधा चरण प्रधान भाव' की दृष्टि पड जाने से ये लीलाए वृदावन-रस को प्रवाहित करने मे भी सक्षम सिद्ध हुई। फलत अनुकरणात्मक रास का प्रचार और प्रसार वेग के साथ होने लगा।"

परतु मीतल जी ने इन लीलाओ के सबध मे कहा हैं, "ये सब लीलाए इतिवृत्तात्मक हैं। इनमे वाक्छल तथा छद्म का तो आनद है, किंतु काव्य की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नही है। यत्र-तत्र इनमे कुछ अलकारो का समावेश हो गया है। भाषा मे साधारण वातचीत का प्रवाह परिलक्षित होता है।"

हम इस सवध मे मीतल जी के दृष्टिकोण से सहमत नही हैं। मीतल जी ने वास्तव मे साहित्य की कसौटी पर इन लीलाओ को कसकर यह मत व्यक्त किया है, परंतु उक्त लीलाओ के लिए यह कसौटी ठीक नही है। ये लीलाए श्रव्य-काव्य नही दृश्य-काव्य हैं। यही कारण है कि इनके सवादो का प्रवाह तथा इनका वाक्छल और छद्म नाटकीय स्थिति के विकास का महत्त्व-पूर्ण माध्यम बनकर मच पर प्रभावी चरम सीमा का निर्माण करते है।

मीतल जी ने इन लीलाओ का पद्याश पढकर ही उन्हे इतिवृत्तात्मक कहा है, परंतु जब रास के (गद्य) सवादो के साथ जुडकर ये लीलाए रास मे मचित होती है तो कोई भी उन्हे इतिवृत्तात्मक नही कह सकता। उस समय बीच-बीच मे गाए जाने वाले ये छोटे-छोटे पद्याश नाटक की शिथिलता से रक्षा करने की अपूर्व क्षमता प्रदर्शित करते है। जिस काल मे ये लीलाएं लिखी गई हैं, तब लीला सवादो मे गद्याश लिखने की प्रथा नही थी। सकलनकर्ता लीलाओ के प्राय पद्याश ही सगृहीत करके केवल इतना ही उल्लेख करते थे कि 'लाल जी वचन' या 'प्रिया जी वचन' परतु इन लीला नाटको मे प्रयुक्त गद्यात्मक कथोपकथन एक पीढी से दूसरी पीढी को मौखिक परपरा द्वारा प्राप्त होते है। इन सवादो से ही लीला के इन पद्याशो का रूप निखरता है।

वास्तव मे चाचाजी अपने युग के सर्व समर्थ लीला नाटककार तथा उच्चकोटि के कवि थे। आचार्य शुक्ल जी ने यह तथ्य स्वीकार किया है। वे लिखते है

"जैसे सूरदास जी के सवा लाख पद बनाने की अनुश्रुति है वैसे ही इनके भी एक लाख पद और छद बनाने की बात प्रसिद्ध है। (इनका) छद्मलीलाओ का वर्णन तो बडा ही अनूठा है। इतने अधिक परिमाण मे होने पर भी इनकी रचना शिथिल या भरती की नही है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार प्रकट होता है। लीलाओ के अतर्गत वचन और व्यापार की योजना भी इनकी कल्पना की स्फूर्ति का परिचय देती है।"[२४]

इस प्रकार हरिराम जी व्यास से रासलीला लिखने की जो परपरा आरभ हुई चाचा वृदावनदास तक आकर वह पूर्णरूप मे विकासमान होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र फैल गई। संवत १६२० वि० से लेकर १८४४ वि० तक का यह काल रास लीला के रचना काल व विकास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

उक्त लीला लेखको के अतिरिक्त भी इस युग मे निम्बार्क सप्रदाय के रूप रसिक, वृदावनदेव जी, हरिदासी सप्रदाय के अनुयायी विट्ठल विपुल जी,

२४ हिंदी साहित्य का इतिहास, सवत् २०२२ वि० का सस्करण (पृष्ठ ३३७-३३८)। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार चाचा जी पुष्कर क्षेत्र के रहने वाले गौड ब्राह्मण थे और सवत् १७६५ मे उत्पन्न हुए थे। वे राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूप जी के शिष्य थे। तत्कालीन गोसाँई जी के पिता के 'गुरुभ्राता' होने के कारण गोसाँई जी की देखादेखी सब लोग उन्हे चाचाजी कहने लगे। यह महाराज नागरीदास जी के भाई बहादुरसिंह के आश्रम मे रहते थे, पर जब राजकुल मे विग्रह उत्पन्न हुआ तब यह कृष्णगढ छोडकर वृदावन चले आए और अत समय तक वही रहे। सवत१८०० वि० से लेकर १८४४ वि० तक इनकी रचनाओं का पता लगता है।

—श्री प्रभुदयाल मीतल 'ब्रज का इतिहास', पृष्ठ ३३७

विहारीदास जी, सरसदास जी, नरहरिदास जी, किशोरीदास जी, भगवत रसिक जी, चैतन्य सप्रदाय के श्री वल्लभ रसिक जी, आदि ऐसे अनेक भक्त कवि हुए जिन्होने रास और स्फुट लीला सबधी पदो की प्रचुर मात्रा मे रचना की जो आज भी रासलीला मे यत्र-तत्र गुजित है।

लीला-साहित्य के अन्य प्रणेता

ऊपर हमने जिन लीला लेखको की चर्चा की है वे सभी या तो वृदावन के थे, जो उस युग मे रास का मुख्य केंद्र बन गया था अथवा वे लोग वृदावन की रस-भक्ति से प्रभावित थे। परतु इनके अतिरिक्त भी इस युग मे और भी ऐसे समर्थ कवि हुए है जिन्होने रस-भक्ति से अप्रभावित रहकर स्वतत्र रूप से सूरदास आदि प्राचीन भक्तो की परंपरा को आगे बढाया और स्वतत्र रूप से लीला-साहित्य की रचना की, परंतु ऐसे अधिकाश कवियो को रासमंच पर आशिक रूप से ही मान्यता प्राप्त हुई। उनके पद स्फुट रूप से कही-कही लीलाओ मे गुथे है। कुछ कवियो की पूरी लीलाए भी रास मे मान्य हुई। इस स्वतंत्र धारा के इन कवियो मे वल्लभ संप्रदाय के सर्वली विष्णुदास, रामदास, आसकरन, गदाधर मिश्र, धोधी, गगावाई (कविनाम 'विट्ठल गिरिधरन'), रसखानि, हरिजीवन, गो० हरिराय जी (कविनाम 'रसिक' या 'रसिक प्रियतम'), निम्वार्क सप्रदाय के तत्ववेत्ता के साथ सप्रदाय मुक्त कवियो मे रहीम, गंग, नरोत्तमदास, आलम, कृपासखी, मधुअली मधुसूदन, जन रघुनाथ, रणधीर, जानकीदास, रसिकविहारी, मिहिरदास, किसोरीदास, सुखानद, जुगरामदास, कृष्णप्रिया, लछीराम, अलि भगवान, कल्याण, दुनीदास, भक्तराम, जैदयाल, लालदास, विहारी, मतिराम, देव, बैनी, गनीराम मिश्र, दयासखी, कादर, चरनदास, मयाराम तथा जयपुराधीश महाराज प्रतापसिह जी (कविनाम ब्रजनिधि जी) का उल्लेख किया जा सकता है। उक्त सभी महानुभावो के पद या कवित्त सवैया रास की विविध लीलाओ मे गुफित है। स्वतत्र रूप से लीलाए रचने वाले ऐसे कवियो मे हम आसकरन, गो० हरिराय जी, तथा नरोत्तमदास जी आदि का नाम ले सकते हैं।

आसकरण तथा हरिराय जी की दानलीला के प्रसंग से हमारे अनेक कवि प्रभावित हुए हैं। कुभनदास जी से दानलीला लिखने का जो क्रम आरभ हुआ (अहो प्यारी वृदाविपिन सुहावनो वशीवट की छाह हो) उसे अनेक परवर्ती कवियो ने अपनाया। रास मे कुभनदास जी के अतिरिक्त कृष्णदास, आसकरण, हरिराय जी (गोवर्धन की सिखिर सो मोहन दीनी टेर) माधोदास (हमारे गोरस दान न होय मोहन लाडिले हो) आदि की दान लीलाए प्रचलित है। अधिकाश कवियो ने दानलीला के स्फुट पद भी बहुत लिखे है। दान

सवधी रसियो से भी ब्रज का लोक-साहित्य भरा पटा है। किन्ही शिवराम जी की दान लीला का यह रसिया पहले रास मडलियो मे बहुत प्रचलित था— 'माता कान्हा तेरो कुजन में री मागें जोवन को दान' दान के प्रति कवियो का यह अत्यधिक आकर्षण वरावर बना रहा है। रहीम जी ने भी एक 'रासपचाध्यायी' रची थी परतु वह रास मच तक नही पहुच पाई। हा, नरोत्तमदास जी का 'सुदामा-चरित' रासमच पर जब सुदामा लीला होती है तो उसमे प्रमुखता प्राप्त कर लेता है अत 'सुदामा-चरित' को भी लीला-साहित्य मे सम्मिलित माना जाना चाहिए यद्यपि वह रासमच के लिए नही लिखा गया था। वालकृष्ण नायक की 'परतीत परीक्षा' लीला रास की एक मुख्य लीला है जो मच को इस कवि की महत्त्वपूर्ण देन है। यह लीला इस मंच पर वहुत लोकप्रिय रही है।

लीला-साहित्य का तृतीय उत्थान
(स० १८५० वि० से २००० वि० तक)

चाचा वृंदावनदास जी के समय मे ब्रज मे जो लीला साहित्य रचा गया उसकी दो विशेपताए थी (१) चाचाजी ने यद्यपि राधा की प्रधानता रखने के लिए ही छद्म तथा अन्य लीलाओ की रचना की परंतु उनकी लीलाओ मे उनके सप्रदाय का रग ब्रज-संस्कृति मे अभिभूत हो गया है। (२) राधा की महत्ता होने पर भी कृष्ण इन लीलाओ मे पूरी तरह उभर कर आये है। चाचाजी की लीलाओ मे कथा का सूत्र भी राधा के प्रेमी के रूप मे कृष्ण के ही हाथ मे रहा है। अत ये लीलाए अवतरित लीलाओ के साथ पूरी तरह घुल-मिलकर स्वयं समन्वित हो गई हैं, क्योकि अवतरित कृष्ण भी तो नित्य ही हैं। वे पहले से ही गोलोक धाम मे (तथा ब्रज के वृंदावन मे अवतरित हो जाने पर यहा भी) सदैव ही लीलारत हैं, अतः रासमच पर अवतरित रास की लीलाओ और नित्य लीलाओ की एकसूत्रता इस काल मे स्थापित हो गई। चाचाजी के वाद रासमच के लिए जो साहित्य लिखा गया उससे ब्रजभक्ति का समग्र रूप उभरा। चाचाजी के वाद के साहित्य मे राधा और कृष्ण के चरित्र मे जो विकास हुआ वह कवि की उसकी अपनी भावना, मौलिकता या चिंतन का ही परिणाम माना जाना चाहिए उसमे किसी संप्रदाय विशेष का आग्रह गौण हो गया था। इस युग के लीला-साहित्य प्रणेताओ मे हम नारायण स्वामी, रसिक गोविन्द (निम्वार्क सप्रदाय), हठी जी (राधा वल्लभीय), ब्रजवासीदास (वल्लभ सप्रदाय), नवलसिंह कायस्थ, गिरधरदास, सेवक, ललितकिशोरी, ललितमाधुरी ग्वालजी, भारतेन्दु हरिश्चद्र, रत्नाकर अभयराम आदि के नाम ले सकते हैं। इन प्रसिद्ध कवियो के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी वाणिया रासलीला

मे सम्मिलित है। ऐसे लोगो मे हम जियाराम (रखेता लेखक) हरिविलास, नरसिंह, लछमनदास, मदनमोहन, गगाधर, पुरुषोत्तम प्रभु, सुखानद, माधुरीदास स्वामी, पद्माकर, कुदन विप्र, यदुवश, प्रह्लाद आदि के नाम ले सकते है।

इस युग के इन अधिकाश कवियो ने आशिक रूप से ही लीलाओ के स्फुट पद रचे हैं जो विभिन्न रासलीलाओ मे रासधारियो द्वारा जोड दिए गए हैं, केवल नारायण स्वामी व ब्रजवासीदास ही इसका अपवाद है जिन्होने क्रमश: ब्रज-विहार (पद शैली मे) तथा ब्रज-विलास (दोहा-चौपाई शैली मे) लिखा। नारायण स्वामी के अनुकरण पर मथुरा के रगीलाल जी ने भी एक ब्रज-विहार लिखा था जो मथुरा के श्याम काशी प्रेस से छपा था। रासलीलाओ के अनुकरण पर और भी कृष्णलीलाओ की रचना इस युग मे हुई। श्याम काशी प्रेस मे ऐसे और भी ग्रथ इस काल मे छपे थे, परतु रासधारियो ने उन्हे अपने यहा मान्यता नही दी।

नारायण स्वामी का लीला-साहित्य

चाचा वृदावनदास के वाद रासमच के लिए सर्वाधिक कार्य नारायण स्वामी ने किया। विभिन्न लीलाओ के स्फुट पदो के अतिरिक्त उन्होने रासमच के लिए अनेक लीलाओ की रचना की, जिनमे से ये लीलाए प्रमुख है.

(१) माखनचोर लीला, (२) उराहनौ लीला, (३) आख मिचौनी लीला, (४) श्री लाल जी की उत्थापन लीला, (५) पनघट लीला, (६) नवल सखी की दान लीला, (७) श्री छद्म दान लीला, (८) श्री देवी पूजन लीला, (९) नव दुलहन लीला, (१०) मान लीला (दोहावली), (११) खडिता मान लीला, (१२) श्री सभ्रम मान लीला, (१३) रूप गर्विता मान लीला, (१४) नवल पनिहारी लीला, (१५) श्याम विरहनी लीला, (१६) युगल छद्म-लीला, (१७) श्री प्रथम अनुराग लीला, (१८) चौसर लीला, (१९) सखी खडिता लीला, (२०) वशीलीला, (२१) श्री निकुंज हिंडोरा लीला, (२२) शयन लीला, (२३) सावरी छद्म झूलन लीला, (२४) वन झूलन लीला, (२५) बसत लीला, (२६) होरी लीला, (२७) गली होरी लीला, (२८) प्रेम परीक्षा लीला, (२९) रास-पचाध्यायी लीला, (३०) सखी अनुराग लीला, (३१) साझी लीला।

अवतरित रास, नित्य रास, छद्म, ऋतु तथा उत्सवो व सभी पर्वों को लेकर बडे व्यापक दृष्टिकोण से रास की पूरी परपरा को लीला के माध्यम से साकार करने का उद्योग नारायण स्वामी ने किया, अत वह रास के समग्र रूप के प्रतिनिधि गायक थे। स्वामी जी के जीवन-काल मे उनकी कई लीलाए स्वय उनके निर्देशन मे रास मडलियो ने तैयार करके मच पर उतारी थी और

वे जन-आकर्षण का केंद्र भी बनी थी। आज भी स्वामी जी की लीलाओ के अश विभिन्न लीलाओ मे आशिक रूप से सम्मिलित हैं। अपने समकालीन लीलाकारो मे रासमंच पर सर्वाधिक स्थायी प्रभाव आपका ही पडा है।

ललित किशोरी

ललित किशोरी जी लखनऊ छोड़कर जब वृंदावन मे बस गए तो रास के प्रति उनका आकर्पण भी बहुत बढ गया था। वह अपने युग के बड़े रईस, भक्त व साहित्यकार सभी कुछ थे, इसलिए जहा वह अपने शाह बिहारी जी के मदिर मे भव्य रासलीलाओ का स्वय आयोजन करते थे, वहा रासमंच के लिए मन की मौज मे साहित्य भी लिखते थे। उनकी लिखी ३ रचनाएं उपलब्ध हैं: मान लीला, नौका लीला व चीरहरण लीला। नौका लीला रासधारियो मे बडी लोकप्रिय है जिसका प्रदर्शन वे आज भी बडी रुचि से करते हैं। यह लीला भी एक छद्म लीला ही है जिसमे कृष्ण केवट का वेश धारण करके राधा व सखियो को नौका मे चढा लेते हैं और यमुना की बीच धारा मे ले जाकर वहा उन्हे छेड़ते हैं। ललित किशोरी जी के लीला संबधी स्फुट पद तो अनेक रासलीलाओ मे गुथे हुए हैं। ललित किशोरी जी के बाद वल्लभ संप्रदाय के गो० पुरुषोत्तम जी (पुरुषोत्तम प्रभु) का नाम इस क्रम मे अधिक महत्वपूर्ण है। उनके पद व रसिया अनेक रासलीलाओ मे सम्मिलित हैं।

भारतेंदु हरिश्चद्र

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने छोटे से जीवन मे जहा काव्य और नाटक के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण देन दी है वहा उन्होने रासलीलाओ की भी रचना की है। इन लीलाओ मे उनकी (१) देवी छद्म लीला, (२) रानी छद्म लीला तथा (३) वेणु गीत उल्लेखनीय हैं परंतु इन लीलाओ को रासमच पर अभी लीला रूप मे प्रस्तुत नही किया गया क्योंकि किसी समर्थ रासधारी की दृष्टि अभी इन पर नही पडी है किंतु उनकी 'चंद्रावली' नाटिका रासधारियो मे बड़ी लोकप्रिय रही है और उसे रासमच पर 'बडी चंद्रावली लीला' के रूप मे बडे रस के साथ प्रस्तुत किया जाता रहा है। भारतेंदु के स्फुट पद भी रासलीला मे प्रचुर मात्रा मे सम्मिलित है और उनके कवित्त सवैयो का विरह रस की लीलाओ मे सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है।

इस युग मे रासधारियो ने भी स्वतत्र रूप से कुछ लीलाए रची। उनकी चर्चा आगे रासधारियो द्वारा रचित साहित्य के संदर्भ मे की जाएगी।

वर्तमान काल (सं० २००० वि० से अब तक)

यह युग वह युग है जब साहित्य क्षेत्र से ब्रजभाषा उपेक्षित हो गई और खडी बोली को आग्रहपूर्वक काव्य-भाषा के पद पर स्थापित कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा के मच रास से साहित्यकारो का सबध भी टूट गया, क्योकि रास ब्रजभाषा का ही नाट्य मच है। यद्यपि युग के प्रभाव से रास मे खड़ी बोली तथा उर्दू का प्रभाव भी यत्किंचित पडा है जैसे कि महादेव लीला मे कुछ रासधारियो ने 'दर से तेरे उठ कर न जाएगे' जैसी गजल शामिल कर दी है। इससे पूर्व भी ललित किशोरी जी के लखनवी प्रभाव ने रास मे उनकी कुछ इस ढग की चीजे जोड दी थी, परतु मुख्य रूप से रास ब्रजभाषा के प्रति ही पूर्णत आस्थावान है और वही उसका सबसे बडा आकर्षण भी है।

ब्रजभाषा की उपेक्षा के कारण रत्नाकर जी के बाद कोई ऐसा समर्थ साहित्यकार नही हुआ जिसकी रचनाए रासमच तक पहुची हो। कविरत्न सत्यनारायण जी का 'भ्रमरदूत' यद्यपि एक महत्वपूर्ण रचना है और रास की वियोगिनी जसोदा के लिए उसमे कृष्ण को सदेश भेजने की मार्मिक सामग्री विद्यमान है परतु साहित्यकार और रासमच का सबध टूट जाने से वर्तमान ब्रज साहित्य रासमच से प्राय: उपेक्षित ही है।

रास के लिए लीला-साहित्य के रचयिता आज भी विद्यमान हैं। रास के लिए साहित्य-रचना का काम अब वृंदावन के भक्त साधु और स्वय रास-धारी लोग कर रहे हैं, परंतु आज के हिंदी साहित्य के इतिहासकारो की एकागी दृष्टि उन तक नही पहुची यद्यपि ऐसी अनेक रचनाए साहित्य की दृष्टि से उपेक्ष-णीय नही है। इस युग मे वृदावन जहा रास का केंद्र है वहा लीला-साहित्य की रचना का भी वही केंद्र बन गया है। ऐसा लगता है कि रास के रस को वृदावन ने इस कलिकाल मे समग्र रूप से अपने अत.करण मे सजोकर उसे पोषित करते रहने का सकल्प स्वयं ही ले लिया है। वर्तमान युग मे रास के लेखकों के दो वर्ग है (१) वृदावन के महात्मा और (२) स्वय रासधारी।

रासधारी लोगो मे आरभ से ही कुछ ऐसे समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व होते रहे हैं, जिनकी लीला प्रणयन मे रुचि रही है और उन्होने समय-समय पर भक्तो द्वारा रचित स्फुट पदो के साथ अपनी रचनाए लीला प्रबधो मे गूथकर अपनी कुशलता और नाटकीय प्रतिभा का परिचय दिया है, परतु इन रासधारी साहित्यकारो ने प्राय. अपने नामो का उल्लेख नही किया है। रास मे ऐसे बहुत से उच्चकोटि के पद सम्मिलित है जिनमे किसी की भी छाप नही मिलती। उनमे से अधिकाश को हम इन अज्ञात कवि रासधारियो की ही रचना मानते है।

परतु कुछ ऐसे रासधारियो की स्मृति भी अभी वयोवृद्ध रासधारियो को है जिन्होने पूरी लीलाओ की भी रचना की है और जो आज भी रासमच

पर होती हैं। रासधारियो द्वारा रचित ये लीलाएं हमने उक्त लीलाओ के वर्णन मे इसलिए सम्मिलित नही की, क्योकि वे हमारे मत से किसी सप्रदाय की मान्यता से प्रभावित नही हैं। वे सब आग्रहो से मुक्त केवल मन की मौज मे रासमच के लिए ही लिखे गए लीला नाटक हैं। यही कारण है कि हमने इन लीला लेखक रासधारियो की चर्चा अलग से की है।

महात्माओ द्वारा रचित लीला-साहित्य

इस युग के लीला-साहित्य के रचयिता महात्माओ मे सबसे महत्वपूर्ण नाम महात्मा प्रेमानन्द जी का है। प्रेमानन्द जी ने इस युग मे महत्वपूर्ण लीला-साहित्य लिखकर रासमच को प्रभावित किया है। प्रेमानन्द जी ने रास के लिए जो साहित्य लिखा है उसके तीन रूप हैं · (१) रास के प्रवचन, (२) श्रीकृष्ण लीलाए, (३) श्री गौराग लीलाए।

प्रेमानन्द जी के प्रवचन

रासलीला मे प्रवचन करने की जो परपरा इस युग मे आरभ हुई है, उसका उल्लेख हम कर चुके हैं। प्रवचनो की यह परपरा स्वामी प्रेमानन्द जी की मौलिक देन है। भक्ति के दार्शनिक सिद्धातो को सरल, सरस और ललित ब्रजभापा मे लिख देने मे प्रेमानन्द जी बेजोड़ है। उनके ब्रजभापा गद्य मे जो प्रवाह और लालित्य है उसने अनेक प्रवचनो के गद्य को भी पद्यमय बना दिया है। ब्रजभापा पर उनका जैसा अधिकार है वैसा अन्यत्र हमारे देखने मे नही आया। इन प्रवचनो के बीच-बीच मे प्राचीन पद और अर्वाचीन रसिया गूथ-गूथकर प्रेमानन्द जी ने उनका आकर्षण और भी बढा दिया है। आज के युग मे जब रास के कलात्मक स्तर (नृत्य तथा सगीत) का ह्रास हुआ है तब इन प्रवचनो ने रास मे एक नया सरस परिच्छेद जोड़ कर उसे एक नवीन भावभूमि प्रदान की है। आज इन प्रवचनो के साथ नृत्य और गायन करते समय भगवान कृष्ण के स्वरूप पर रुपयो की जो न्यौछावर होती है और 'धन्य है' तथा 'बलिहारी महाराज' की ध्वनि से वातावरण जिस प्रकार रस-सिक्त हो जाता है, उससे प्रभावित होकर सभी रास मडलियो ने प्रवचन की इस परंपरा को रास मे सम्मिलित कर लिया है। प्रेमानन्द जी के प्रवचन आज के रास के प्रमुख आकर्पण हैं।

प्रेमानन्द जी की लीलाए

प्रेमानन्द जी द्वारा लिखित लीलाओ मे 'चोरी माधुरी लीला' तथा 'गोमय शृंगार लीला' वृदावन की 'रसिक ग्रंथ माला' द्वारा प्रकाशित हैं। यह

लीला रास मे रास मडलियो द्वारा खेली जाती हैं। 'गोमय शृंगार लीला' मे व्रज की गोपाल संस्कृति खूब उभर कर आती है। भगवान के गोबर के शृंगार का इस लीला मे भावपूर्ण वर्णन हुआ है। लीलाओ के अतिरिक्त प्रेमानन्द जी ने स्फुट रास साहित्य व रसिया आदि भी लिखे है, परंतु उनके व्रजभाषा गद्य मे जो रस है वह उनके कवि रूप मे उभर कर नही आता।

श्री गौराग लीलाए

वृंदावन के मान्य सत हरिबाबा की प्रेरणा से प्रेमानन्द जी ने कृष्ण-लीलाओ के अतिरिक्त रास शैली मे महाप्रभु गौराग देव का पूरा चरित्र भी अनेक लीलाओ मे चित्रित किया है। ये लीलाए प्रसिद्ध रासधारी श्री हरि-गोविंद जी की मडली करती रही है। हरिबाबा ने इन गौराग लीलाओ के प्रचार-प्रसार मे प्रमुख भाग लिया था। वे जहा भी यात्रा मे जाते थे उनके साथ प्राय. गौराग लीला करने के लिए स्वामी हरिगोविन्द जी की मडली भी साथ जाती थी। बाबाजी के स्वर्गवास के अनतर भी ये लीलाए श्री हरिगोविन्द जी द्वारा निरतर की जाती रही हैं। स्वामी नत्थी व श्री घनश्याम की मडली तथा कुछ अन्य मडली भी अब इन गौरांग लीलाओ को करती है।

जयरामदेव जी महाराज की लीलाए

प्रेमानन्द जी के अतिरिक्त दूसरे महात्मा श्री जयरामदेव जी है जिन्होने लीला-साहित्य की रचना की है। उनकी चित्रा सखी की लीला विगत वर्षो मे प्रकाशित हुई है और उसे रासधारी मंच पर प्रभावशाली ढग से करते हैं। स्वामी हरिद्वारीलाल की मडली द्वारा हमने इस लीला का बडा सफल प्रदर्शन होते देखा था। यह लीला किसी पौराणिक वृत्त पर आधारित नही है वरन स्वय लेखक ने अपनी अनुभूति और भावना से इस लीला की रचना की है। लीला की सक्षिप्त कथा निम्न है :

भगवान कृष्ण माता जसोदा से एक चित्र बनवा देने का आग्रह करते है। माता आग्रह पूर्ण करने के लिए व्रज की एकमात्र चित्रकार चित्रा जी को बुलाती हैं। ब्रह्मचारिणी चित्रा जी नंदभवन मे कृष्ण को देखने आती है परतु कृष्ण की शोभा देखकर वह अपना समस्त वेदात और ब्रह्मचर्य भूल जाती है। घर लौटने पर कृष्ण की वियोग व्यथा मे उनका चित्रकार डूब जाता है तब वे सरस्वती की उपासना करके उन्हे प्रकट करती हैं। सरस्वती उन्हे बतलाती है कि कृष्ण का चित्र बनाना राधा की कृपा के बिना सभव नही, अतः चित्रा राधा जी की उपासना करती हैं। तब राधा अपने दैवी रूप मे प्रकट होकर उन्हे चित्र बनाने का वरदान देती है। इस प्रकार यह अनुपम चित्र तैयार हो जाता है।

जसोदा वह चित्र देखकर आनदविभोर हो जाती हैं और चित्रा जी को मुहमागा पुरस्कार देने के लिए वचनबद्ध हो जाती हैं। तब चित्रा कृष्ण को ही माग लेती हैं। यह देखकर जसोदा विह्वल हो जाती हैं। वह कहती हैं :

मो निरधन को धन गिरधारी।
मेरो छगन मगन मन मोहन, मम आंगन को चंद विहारी।
पलक ओट सत कलप से बीतें, हिय कम्पैं दृग बरषे वारी।
लखि याको मुख चद जियत हौं, या बिन सब जग मे अँधियारी।
या के बदले जो कछु चाहे, (सोई) देऊँ रतन धेनु धन भारी।

अत मे कृष्ण चित्रा जी को यह वरदान देकर कि मैं कभी तुमसे दूर नही होऊगा अपने आपको माता जसोदा को लौटवा देते हैं और वह चित्र अपने प्रिय सखा श्रीदामा को भेंट कर देते हैं जिसके आग्रह से वह बनवाया गया था।

श्री जयरामदास जी की लीला मे उनका कवि रूप अधिक उभरा हुआ है। लीलाओ के अतिरिक्त आपने विनयपत्रिका की शैली मे 'श्रीकृष्ण विरह पत्रिका' नामक एक और ग्रथ भी लिखा है जो उनकी कृष्ण-भक्ति की तीव्रता तथा सरसता का प्रमाण हैं। उनकी ये रचनाएं आज के युग में भक्ति युग की परंपरा की महत्वपूर्ण कडी हैं।

फुलवारी लीला

जयरामदास जी ऐसे भक्त कवि हैं जो राम और कृष्ण के प्रति समान रूप से आस्थावान हैं। वे अवध मे जन्मे और वृदावन मे बसे हैं, इसलिए उन्होंने कृष्णकथा के साथ रामकथा भी रास शैली मे रची है। वृदावन से प्रकाशित उनकी 'फुलवारी लीला' एक ऐसी ही रचना है जिसमे रास शैली मे ब्रजभाषा के माध्यम से जनकपुर की पुष्प वाटिका मे सीता-राम के मिलन का बड़ा ही सफल व सरस चित्रण किया है। इस कथा को ब्रज की कुछ रामलीला मडलिया करती हैं। रास की शैली मे रामकथा को सफलता से उतारने मे श्री जयरामदास जी को पूर्ण सफलता मिली है। इस लीला के सवाद खड़ी बोली मे हैं तथा कथा का सूत्र जोडने के लिए समाजी द्वारा 'रामचरितमानस' की ही चौपाइयो का प्रयोग कराया गया है। शृगार-रस के उद्रेक के लिए कवि ने ब्रजभाषा की सरस रचनाएं बीच बीच मे स्वयं जोडी हैं। एक रसिया देखिए। भगवान राम बार-बार बाटिका मे जाकर स्वयं पुष्प तोडने का आग्रह करते हैं, समझाने पर भी नही मानते तो मालिन उनके कोमल अगो को पुष्प-चयन के कठिन कार्य के अयोग्य मानकर करुण स्वर मे उन्हे समझाती है :

कैसे तोरौगे प्रभु फूल, अँगुरियन पँखुरी गढि जायगी।
अतिसय मृदुल कमल से करन, लचक पहुँचेन मे पडि जायगी।
फूल रही है बडी बडी डारी, कोई नीची कोई ऊँची भारी।
कोई डार कँटीली न्यारी।
फूले फूल गुलाव के, सोभा अमित अपार।
तोरत कर काँटे चुभे, यह करनी करतार।
उचकत ऊँची डार, कमर मे नस कहुँ चढि जायगी। कैसे०।
कहुँ कहुँ लगती वेलि कटीली, कहुँ कहुँ कलियाँ अतिही नुकीली।
कहुँ भ्रमरन की भीर रँगीली।
अतिहि सुगधित आपके अग महक रही छाय।
भौंरा फूलन छोडिकै, तुमहि घेरि है आय।
उन रसिया भ्रमरन की टोली, चहुँदिस अड जायगी। कैसे०।
कहुँ कहुँ लखि मुख चद तुम्हारे, ह्वै है चकित चकोर बिचारे।
शुक बैठि है भुजन पर न्यारे।
मृग के छौना घेरि है, आस पास चहुँ ओर।
घन सम तुम्हरो रूप लखि, नाचन लगि है मोर।
सघन लतन मे उरझि अलक, घुँघरारी लडि जायगी। कैसे०।

जनक की बाटिका की शोभा का चित्रण राम-लक्ष्मण के निम्न संवाद मे दर्शनीय है .

राम—
देखो हो लखन ये विचित्र फुलवारी, छवि—
कैसी मनोहारी मेरो मन हरि लीनो है।
फूले रग रग फूल, मेटत सकल सूल,
कोकिल की कूक ने करेजो टूक कीनो है।
बाटिका नही ये मनो नाटिका है मन्मथ की,
स्वर्ग हू के बन को घटाय मान दीनो है।
फूली दुलहनि सी लगत गुल चाँदनी ये,
दूलह सो फूलो ये कदब रग भीनो है।

लक्ष्मण—
थल पकज की छवि का वरनो, यह सावनी चपक देत अनद है।
यह मालती मोतिया बात करे, गुलदाऊदी की छवि मे छल छद है।
यह पानडी प्रेम दिखाय बुलावति, वीरन की ये करै गति मद है।
फुलवाडी नही रघुचद सुनो, मन मृग फँसावन को यह फद है।

इस प्रकार वृदावन के रास रसिक जहा आज भी रास रगमच के लिए

नए साहित्य की रचना कर रहे हैं वहा रास की रंगमचीय परपरा को कृष्ण लीला के क्षेत्र तक ही सीमित न रखकर उसे विस्तृत करने के यत्न भी स्वत. ही चल रहे है। 'गौराग लीला' तथा 'हरिदास जी की लीलाओ' के अतिरिक्त रास की शैली मे अब भक्त चरित्रो की नवीन रचनाए भी होने लगी हैं और उन्हे मच पर सफलतापूर्वक लाया जा रहा है। यह भविष्य ही बतलायेगा कि ये प्रवृत्तिया आगे चलकर रास की मचीय परपरा को कितना प्रभावित करती हैं और रागमच पर कालातर मे इनकी क्या प्रतिक्रिया होती है ?

रासधारियों द्वारा रचित स्फुट रासलीला-साहित्य

रासधारियो की रागमच की सेवा मे उनके द्वारा सृजित साहित्य का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। एक ओर जहा प्राचीन वाणियो मे से सामग्री का चयन करके उन्होने लीला नाटको का रूप खडा किया है वहा सरस कवि-हृदय रासधारी प्राचीन पदो की लीला शृखलाओ के बीच-बीच मे अपनी रचनाए भी लीला की कडी मिलाने को जोडते आए है। रासलीला नाटको मे बीच-बीच मे ऐसे अनेक सरस पद मिलते हैं जिनमे किसी के भी नाम की छाप नही मिलती। ऐसी रचनाए अधिकांशत. रास रगमच को रासधारियो की ही देन है। उदाहरण के लिए, माखन चोरी लीला मे सखी प्रतीक्षा मे वेहाल है कि किसी प्रकार नंदनंदन उसके घर आवें। इस भाव को सखी रास मे कवित्त और सवैयो मे प्रकट करती हैं। ऐसा ही एक कवित्त है :

चीरा की लटक औ लटक नवकुडल की,
भौंह की मटक मोहि आँखन दिखाउ रे।
जा दिन सुजान गुण रूप के निधान कान्ह,
बाँसुरी बजाय तन तपन बुझाउ रे।
ऐ हो बनवारी बलिहारी जाऊँ तेरी आज,
मेरी कुज आय नेंक मीठी तान गाउ रे।
नद के किसोर, चित चोर मोरपख वारे,
बंसीबारे सामरे, पियारे इत आउ रे।

हमारा अनुमान है कि किसी रासधारी ने ही यह कवित्त दयासखी के निम्न कवित्त का जोडा बनाने को रचा होगा, जिससे जब एक सखी दयासखी के निम्न कवित्त को पढे तो उसी की जोड़ का दूसरा कवित्त पढकर दूसरी सखी रसोद्रेक मे योग दे। दयासखी का कवित्त इस प्रकार है :

धेनु के चरैया प्यारे भैया बलभद्र जू के,
नंद के ललैया मोरे अँगना मे आउ रे।

दही दूध बहु प्याऊँ, माखन घनौ सौ लाऊँ,
मीठी मीठी तान नेंक गायकै सुनाउ रे।
प्यारे नद के किसोर, मेरे चित हू के चोर,
नेक तौ अधर धर बाँसुरी बजाउ रे।
या छवि के ऊपर हौं कोटि काम बारि डारो,
'दयासखी' प्रेम बस हिय मे समाउ रे।

इसी प्रकार 'उराहनौ लीला' मे कृष्ण की शिकायत करने गोपी जसोदा के यहा जाती हैं तब सब गोपिया अपनी-अपनी आपबीती उन्हे पृथक-पृथक सुनाती हैं। वहा कदाचित किही रासधारी को अलग अलग गोपियो के कथन के लिए ऐसे नाटकीय पदो की कमी लगी होगी जिनमे एक साथ बिना किसी व्याघात के पूरी शिकायत पेश की जा सके। इसीलिए उन्होने निम्न पद स्वय रच दिया होगा

राग देश

सुन री गुन कान्ह कुमार के ।
तेरौ री सुत चपल कहावे, यमुना के तट बसीवट के निकट,
नट झटक मटक दधि गटक गयौ।
वदन की छवि कान्हा मुकुट को सिर धर,
कदम के तरु तर कुवर दुर्यौ ।
वशी बजाई मेरी सुधि बिसराई कान्हा,
देख ललाई मेरौ कर पकर्यौ ।

उक्त पद किसी भी दशा मे साहित्यकार की रचना नही हो सकता क्योकि इसकी रचना की पक्तियो मे मात्राओ की असमानता स्पष्ट है। इस प्रकार की रचना तो वे सगीतज्ञ ही कर सकते हैं जिन्हे रागो की रचना का पूरा ज्ञान हो और उसी के अनुसार वे पंक्तियो को छोटा-बडा रख कर भी रागो मे गायन के समय उसे सही उतार कर श्रोताओ को चमत्कृत करने की शक्ति रखते हो। रासधारियो ने इस प्रकार की रचनाए करके हरिदास जी की उस साहित्य-रचना की परपरा को ही आगे बढाया जो पढने मे तो ऊबड-खावड लगती है, परतु जब वह सिद्ध गायक द्वारा गाई जाती है तो उसके सुगठन पर मुग्ध हुए बिना रहा नही जा सकता। रासधारी समय-समय पर सदैव ऐसा साहित्य लिखते रहे हैं। करहला के श्री छिद्दालाल जी का 'वृदावन बहार छाई' गीत रास मे काफी समय से गवता चला आ रहा है, परतु रास मे स्वरूप बनकर वर्षों से इन पदो को गाने वाले भी शायद छिद्दालाल जी को नही जानते होगे, यद्यपि वे आज भी वृदावन के सत्यनारायण जी के मदिर के कीर्तनिया है।

इस प्रकार के स्फुट पदो के अतिरिक्त रासधारियो ने पूरी रासलीलाओ की भी रचना की है। इस प्रकार की लीलाओ मे रास सर्वस्वकार राधा-कृष्ण रासधारी की 'विदुषी लीला' उनके प्रकाड पाडित्य का प्रमाण है। यह लीला मुख्यत सस्कृत श्लोको पर आधारित दार्शनिक भावभूमि पर स्थित होते हुए भी एक सफल लीला नाटक है। इसी क्रम मे हम मड़ोई निवासी श्री माखन चोर जी कृत 'खडिता मान लीला' को ले सकते हैं जो भाषा शैली, रस परिपाक, अलकार सौष्ठव के साथ अद्भुत नाटकीय स्थिति से भी परिपूर्ण है। इस लीला मे रात्रि के समय भगवान कृष्ण राधा जी के द्वार को खटखटा देते हैं। राधा उन्हे पहचान लेती हैं, परतु किवाड न खोलकर कृष्ण से उनका परिचय पूछती हैं। इस लीला के परिहासपूर्ण कुछ अश देखें :

कृष्ण—खोलो जू किवार।
राधा—तुम कोहौ ऐती बार।
कृष्ण—हरि नाम है हमारौ।
राधा—बसौ कदरा पहाड मे।
कृष्ण—हौ तौ आली माधव।
राधा—(तौ) कोकिला के माथे भाग।
कृष्ण—मोहन हौं प्यारी।
राधा—फिरौ मत्र के विचार मे।
कृष्ण—रागी हौ रगीली।
राधा—तौ जावौ क्यो न दाता पास।
कृष्ण—छली हौं छबीली।
राधा—जाय बसौ जू पतार मे।
कृष्ण—नायक हौ नागरी।
राधा—तौ टाँडौ क्यो न लादौ जाय।
कृष्ण—हौ तौ घनश्याम।
राधा—बरसौ जू काहू खार मे।

जिस समय वह कवित्त व्याख्या के साथ परस्पर कथोपकथन के रूप मे रास मे होता है तो दर्शक श्लेष के चमत्कार से अभिभूत होकर हसने लगते हैं। इस लीला मे प्रयत्न करने पर भी जब द्वार नही खुलता तो कृष्ण लौट जाते हैं और उन्हे गया जान कर राधा उनके विरह मे छटपटा उठती हैं। तब ललिता उन्हे धीरज देकर उन्हे कृष्ण के पास अपनी पीठ की ओट मे छिपाकर वंशीवट पर ले जाती हैं। वहा कृष्ण इसी प्रकार श्लेष मे ललिता से प्रश्नोत्तर करके राधा

का उपहास करते रहते हैं और बदला चुक जाने पर अत मे प्रिया-प्रियतम का सम्मिलन होता है।

इस प्रकार रासधारियो ने भी रासलीला साहित्य के निर्माण मे सक्रिय योगदान दिया है, परतु इस महत्वपूर्ण योगदान का लेखा-जोखा आज तक किसी ने भी नही लिया है। रास की लीला और उनमे प्रचलित पद भी लोक-रुचि के अनुसार बदलते रहे है। प्राचीन लीलाओ के अनेक पद समय-समय पर नवीन लीलाओ मे बदले जाते रहे है। ऐसी दशा मे प्राचीन रासधारियो ने इस मच के लिए कब-कब क्या रचनाए की यह स्वय अपने आप मे एक स्वतत्र अनुसधान का विषय है। हम तो यहा कुछ ऐसे रासधारियो के नाम भर ले देना चाहते है, जिन्होने अतीत मे लीलाओ की या लीला-साहित्य की रचना की थी। इन रासधारियो की कुछ चीजें अब भी रास मे प्रचलित है तथा कुछ इने-गिने बड़े बूढे रासधारियो को उनका कुछ पता है। ऐसे रासधारियो मे श्री माखनचोर जी, (सवत १९०० के आस-पास) मडोई के सुदर वैद्य जिन्होने रास की शैली मे ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चद्र आदि की लीलाए लिखी और उनका अभिनय भी किया, राधाकुड के गिरवर नदन रासधारी[२५] तथा बाबा कृष्णानद (रासधारी), जिन्होने (सवत १९८० के आस-पास मडली चलाई थी) 'प्रेम सपुट', 'कुजन कौ वर्णन' तथा महारास के प्रसग मे 'आसुरी महादेव सवाद' की रचनाए की, उल्लेखनीय हैं।

स्वामी मेघश्याम जी का साहित्य

वर्तमान युग के रास-साहित्यकारो मे स्वर्गीय मेघश्याम जी का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। वास्तव मे इस युग मे उन्होने चदसखी की परपरा को ठीक उसी रूप मे आज फिर से दुहरा दिया है। उन्होने जितने विशद परिमाण मे रास-साहित्य रचा उतना किसी रासधारी ने नही लिखा। मेघश्याम जी ने प्राचीन वाणी-साहित्य के भावो को सरल और सरस लोकधुनो मे बाध कर जहा रासधारियो के लिए रास करना बहुत सरल कर दिया है, वहा इस प्रयास से रास, जनसाधारण के निकट भी आया है। यही कारण है कि आज छोटी-बडी सभी मडलियो पर मेघश्याम जी का साहित्य छाया हुआ है। यद्यपि सुरुचि सपन्न प्राचीन वाणी-साहित्य के मर्मज्ञ रसिको को इस प्रयास मे रास के स्तर की हानि (साहित्य और सगीत दोनो मे ही) अखरती है, परतु साधारण स्तर का रास का दर्शन मेघश्याम जी के रास-साहित्य से अत्यधिक प्रभावित है। यही कारण है कि आज प्रत्येक रास-मडली के लिए स्वामी मेघश्याम जी का साहित्य

२५ विशेष विवरण के लिए देखें, हमारा ग्रथ 'सागीत एक लोक-नाट्य परपरा', पृ० ८०-८१.

एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। कुछ मडलियां तो अब नित्य-रास भी मेघश्याम जी के युगल गान से आरभ करके तथा बाद मे रास के परमलुओ पर नृत्य कराकर ही उसे समाप्त कर देती हैं। आरती के उपरात जैसे ही सखी प्रिया-प्रियतम से राम मे पधारने की प्रार्थना करती है वे नीचे पधार जाते हैं और युगल गायन प्रारभ हो जाता है। इस प्रकार रास मे सखियो के प्रारभिक नृत्य का काफी अश केवल प्रिया-प्रियतम के नृत्य-गायन मे ही पूरा हो लेता है। इससे राम मडली के सचालको को अब नृत्य मे अकुशल सखियो से भी रास मे काम लेने की छूट मिल गई है। मेघश्याम जी द्वारा रचित नित्य-रास मे गाए जाने वाले एक ऐसे ही युगल गायन की कुछ पक्तियाँ देखिए :

राधा—बनि नाचै नट नीकी आज नद कौ किसोर।
कृष्ण—राघे जगत नचायौ तेरी भौंह की मरोर ।
राधा—ब्रज के किमोर तोपै डारूं तृन तोर।
सुनि मुरली की घोर मेरौ मन भयौ मोर। बनि०।
कृष्ण—कमल कली कौ रग भानु की लली कौ,
मुखचद हू ते नीकौ नैंना मेरौ री चकोर। राधे०।
राधा—ग्रीव की लटक हरै मैन की खटक,
करै चित्त पै झपट पीरे पटुका कौ छोर। बनि०।
कृष्ण—मुख की निकाई भाल बिंदिया सुहाई,
मानौ खीर-सिधु माही रवि बन्न उग्यौ भोर। राधे०।
राधा—नैनन बसाय मूंदि राखूंगी छिपाय,
कहुँ भाजि न जाय, मेरी मुंदरी कौ चोर। बनि०।
कृष्ण—मोहन 'श्याम' राधे रग, बाँधि राख्यौ मग,
कहाँ जायगी पतग तेरे हाथ मे है डोर। राधे०।

इसी प्रकार सूरदास जी के पद 'ऐसी दुलहन भावै' के भाव का रसिया मेघश्यामजी ने इस प्रकार रचा, कि उसने अब उक्त पद का स्थान ले लिया है।

मँगाय दै वहू छोटी सी, मैया छीऊँ तेरे पाँम ।
मैं बाबा को लाला छोटो, माखन खाय भयौ अब मोटौ।
खाली एक बहू कौ टोटौ।

दो० ब्रजरानी कौ लाडिलौ देसन मे सरनाम।
जब ताँई क्वारौ रहूँ, बिगरै तेरौ नाम।
ऐसी मँगवाय दै नथवारी, मोते गोरी होय विचारी।
रोज जिमावै भरि भरि थारी।

दो०—गोद लेय पुचकारि कै, प्यार करै लै नाम ।
वह रूँठे तौ मनाऊँ मैं, पकरि कुमरि के पाम ।(२)
सूधौ भोरौ मैं सबहिन ते । ऊधम अब ना करूँ लरिकन ते ।
कछु कछु डरपूं व्रज गोपिन ते ।

दो०—तोहू मोकूं चोर कहै जाऊँ न इनके धाम ।
यह झूंठी कै मै बुरौ, (याकौ) न्याय करैगौ राम । (३)
सूधी तू मति जाने इनकूं, बहकामे ये ही नेगीन कूं,
मेरे ख्याल परी निसदिन कूं ।

दो०—जब कबहू आमै मगई कूं, चुप्प करूँ सब काम ।
न्यौतो दऊँ ना बतासे, (इनकूं) बसन न दुंगौ गाम । (४)
गुप्प चुप्प कौ ब्याह रचाऊँ । बाबा लै बरात करि आऊँ
गोपिन पै नाँय गीत गवाऊँ ।

दो०—राति राति मे ब्याहि कै, आऊँगौ घर माहि ।
विन हरदी रग चोखैई और न लगै छदाम । (५)
कौन गाम तै भई सगैया, चुप्प कान मे कहि दै मैया,
सुनि न लेय वलिदाऊ भैया ।

दो०—लगे रहे सब ताक मे, सुबल तोस श्रीदाम ।
ये सब पक्के मुढचढे (तेरौ) भोरौ लाला 'स्याम' (६)

इस प्रकार मेघश्याम जी ने रास को जहा एक नवीन दिशा देकर उसे सही अर्थों मे लोकमच बनाने का यत्न किया है वहा उन्होने साहित्यिक ढग की भी कुछ रचनाए की हैं । उन्होने 'भ्रमरगीत' के समान 'श्याम भ्रमर' लिखा है । उमका एक छद यहा प्रस्तुत है :

गहरु जनि लाओ सखा आज ही जाओ व्रज,
आवत है अधिक सुधि गोपी गोप गैया की ।
उठत उर पीर, नैक आवत ना धीर, होस
करत ना अधीर वास वशीवट छैया की ।
उन्हे समझैयो वेगि आमिगे कहियो, नेकु-
धीरज बँधैयो, पौरि जैयो नदरैया की ।
मेरौ लै नाम मेरी कहियो प्रणाम मैया,
मैया कै पायन मे ऊधमी कन्हैया की ।

स्वामी मेघश्याम इस युग के एक समर्थ रासधारी, भावुक रसिक, तथा सच्चे लोक गायक थे । व्रज की लोक-सस्कृति के अनेक चित्र उनके साहित्य मे

उभरे हैं। साथ ही वे एक हास्य-प्रिय और विनोदी जीव थे जो औरो के साथ अपने पर भी हमना जानते थे। रासधारियो के सब रूपो से उनका परिचय था और उन्होने मन की मौज मे रासधारियो,रास के कार्यकर्त्ताओ और स्वरूपो पर फब्रतियाँ भी लिख डाली थी। एक उदाहरण उसका भी प्रस्तुत है। स्वरूपो के माथ रहने वाले शृगारियो का एक खाका वारहमासी छद मे देखिए .

सुनो सिगारिन की प्रहरी।
भोगन कू भख जाँय सरूपन के पूरे वैरी।
गरी जाय वैठ समोचा ते।
वैसे डारें तौ डारें, नही डरवायलें नोचा ते।
काहू ने हेला दियौ, भाजि गयौ करिवे तेरा कूं।
दै छाती मे डुक्क निगल गयौ साजे पेडा कूं।
कोई सिगार मे आयके प्रेमिन भोग लगावैगी।
सब के खड्यो महाराज। रास मे सुस्ती आवैगी।

इस प्रकार मेघश्याम जी ने जो परपरा चलाई उस पर आज के कुछ और रासधारी भी चल पडे हैं। छाता के श्री कुवरपाल जी, वृदावन के श्री कल्याण प्रसाद 'किशोरी'तथा अन्य रासधारी भी अब प्राचीन वाणियो के स्थान पर अपनी-अपनी रचनाए रास मे सम्मिलित करके अपने स्वरूपो से गवाने लगे है। इस प्रकार की कुछ छोटी पुस्तिकाएं भी वृदावन से छपी हैं। यह प्रयास रास को और उसके स्तर को अत मे कहा ले जाएगा यह कहना आज बहुत कठिन है। अत्यंत खेद है कि इस प्रवृत्ति ने अब यहा तक जोर मारा है कि करहला की एक प्रसिद्ध रास-मडली के स्वामी जिनके पूर्वजो ने रास के विकास मे बडा महत्वपूर्ण योग दिया था, रास मे सिनेमा की धुनो का भी प्रयोग करते सकोच नही करते। 'सारी सारी रात तेरी याद सताए' की धुन पर यह स्वामी जी अपने रास मे सखियो से गवाते हैं :

ठाड़ी रहूँ जमुना पै आस लगाए।

हमारे विचार से इस प्रवृत्ति का इस रूप मे बढना रास के लिए घातक ही सिद्ध होगा।

३

रास का नृत्य और संगीत

रास के नृत्य

ब्रज के रास का वर्तमान रूप मुगल-शासन काल मे विकसित हुआ था। उस की मुस्लिम बादशाही मे कत्थक नृत्य का बोलबाला था। ऐसी दशा मे रास के नृत्यो पर उसका प्रभाव प्रमुखता से पड़ना अवश्यभावी था, क्योकि आगरा और फतेहपुर सीकरी स्वय ब्रजभाषी क्षेत्र में ही स्थित है जो उस समय की राजनीति के साथ-साथ (राजधानी होने के कारण) सस्कृति के भी केंद्र बन गये थे। सम्राट अकबर ने तो राजनीति और सस्कृति के मध्य स्वय सेतु बनकर महत्वपूर्ण भूमिका सपादित की थी, और वर्तमान रास-नृत्यो को रूप देने में अवकाश प्राप्त दरबारी नर्तक वल्लभ का हाथ प्रमुख रूप से था जैसा कि 'भक्तमाल' से प्रकट होता है। इसलिए रास नृत्यो की कत्थक से निकटता स्वाभाविक है, परतु कत्थक से अधिक प्रभावित होते हुए भी रास नृत्य कत्थक नृत्यो से भिन्न है। आजकल के विद्वान ऊपरी दृष्टि से देखकर ही रास नृत्यो को कत्थक का ही एक रूप समझ लेते हैं, हमारे विचार से यह उचित नही है। रास नृत्य कत्थक के निकट होते हुए भी स्वभावत मूल मे रास नृत्य की प्राचीनतम परपरा से भी अवश्य ही जुडे है जो उन्हे कत्थक से अलग करती है। हमारे विचार से भक्तियुग मे जब रास नृत्यो का रूप खडा किया गया होगा तब ब्रज की लोक नृत्य परपरा के मुक्ताओ को कत्थक नृत्य के सूत्रो में सजोकर गूथने का काम ही वल्लभ नर्तक ने किया होगा क्योकि रास में अनेक मुद्राए और नृत्य-स्थितिया ऐसी हैं जो कत्थक से सर्वथा भिन्न है और वे इन नृत्यो की प्राचीनता की प्रमाण मानी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, रास में होने वाला 'घुटनो का नाच' भरतनाट्यम की 'भ्रमरी' के अधिक निकट है। इसी प्रकार कृष्ण जिस प्रकार हाथ फैलाकर रास मे नृत्य करते है वैसी ही हाथ फैला-कर नृत्य करने की मुद्राएं हमने रूसी लोक नृत्यो मे देखी थी, रास नृत्यो की इन मुद्राओ की उन मुद्राओ से समानता की चर्चा जब हमने एक प्रसिद्ध नर्तक

से की जो रूसी नृत्य देखकर आ रहे थे तो वे बोले, "ऐसा लगता है कि इन नृत्यो का मूल उद्गम एक ही और बहुत प्राचीन है।" उनका कहना था कि "रास नृत्यो में हाथ को पूरा फैलाकर नृत्य करने की जो परपरा है, वह आदिम मूल नृत्यो की है जिसे रूसी नृत्यो में कालातर में कुछ मुकरता प्रदान कर दी गई है। यही नृत्य मुद्रा रास में अपने मूल रूप में विद्यमान है, जो उस समय की देन है जब मानव परिवार बहुत छोटा होगा और सब लोग परस्पर निकट ही रहते होगे। राम नृत्य और रूसी नृत्य की हस्तमुद्राओ में जो अतर आज दृष्टिगोचर होता है उसका मूल कारण लबे समय का व्यवधान ही मानना चाहिए, परतु मूल रूप में इन नृत्यो का उद्गम स्रोत अवश्य ही किसी एक ही नृत्य परंपरा में निहित है।"

रास नृत्य और कत्थक नृत्य

रास नृत्य का कत्थक नृत्य से क्या सबध है इस बारे में हमने वयोवृद्ध रासधारियों से पूछताछ की तो उनका भी यही कहना था कि रास नृत्य कत्थक नृत्य से सर्वथा अलग है। रास के परमलुओ और कत्थक के परमलुओ मे केवल शब्दो का ही नही नृत्य-पद्धति का भी अंतर है। रासधारियों का कहना है कि रास के परमलुओ में मात्राओ की समानता नही है, वह घट-बढ जाती है इसलिए रास के परमलुओ पर नृत्य करना कत्थक नृत्य के जानकार के वश से बाहर की बात है। रासधारियो का कहना है कि हमारी कुछ मुद्राओ को कत्थको ने अपने ढग से सजा और सवारकर अपने नृत्यो में जोड लिया है। इसलिए रास का नृत्य कत्थक जैसा प्रतीत होता है। रासधारियो का दावा है कि उनका नृत्य कत्थक नृत्य से ही कही अधिक प्राचीन है। जब हमने एक वयोवृद्ध रासधारी से रास और कत्थक की समानता की चर्चा की तो उनकी भावुकता को बड़ी ठेस लगी और वे बिगड़ कर बोले, "रास के नृत्य द्वापर में भगवान द्वारा नाचे गए पवित्र नृत्य है जबकि कत्थक नृत्य मुसलमानी और अश्लील है।"

रासधारी जी ने यद्यपि यह बात आवेश में कही थी परतु वह प्रभाव-कारी थी। ऐसी दशा में हमें रास कत्थक नृत्य का मूल भेद समझने की उत्कंठा बढ गई और हमने तुलनात्मक दृष्टि से कत्थको के नृत्य के कई प्रदर्शन देखे तो हमें लगा कि वास्तव में शैलीगत निकटता होते हुए भी कत्थक और राम नृत्यो में मौलिक भेद है। कत्थक नृत्य जहा शृंगारिकता और विलासिता की भाव-भूमि पर आधारित है वहां रास के नृत्यो मे सामाजिकता की एक अनूठी दिव्यता है। रास-नृत्यो में भी राधा-कृष्ण कई मुद्राओ में एकदम सट कर नृत्य करते है परतु उस नृत्य में जिस निर्विकार सामाजिकता के दर्शन होते है वह कत्थक नृत्य में प्राप्त नही हो सकती। हमने जब इस सबध में कुछ प्रसिद्ध

नर्तकों से बातचीत की तो उनका भी यही मत था कि रास नृत्यो मे जो भारतीय सास्कृतिक पृष्ठभूमि विद्यमान है वैसी किसी भी दूसरी वर्तमान भारतीय नृत्य परपरा मे उपलब्ध नही होती। यदि भारत को अपनी सस्कृति के अनुरूप ऐसा सामाजिक नृत्य खडा करना हो जिसमे स्त्री और पुरुष साथ-साथ नि संकोच नृत्य कर सकें तो हमे उस नृत्य के विकास के लिए रास-नृत्य की ही शरण लेनी होगी। कत्थक की कामुकता के साथ रास को नही जोडा जा सकता।

रास नृत्यो की प्राचीनता और दिव्यता का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि रास नृत्य का मुख्य वाद्य पखावज है तथा रास का समारभ धमार से होता है जबकि कत्थक आरभ से ही तबले की थाप पर त्रिताला या फिर कहरवा मे कहकहे लगाने का आदी है। ऐसी दशा मे वह रास नृत्यो की गरिमा को नही पा सकता, परतु दुर्भाग्य की बात यह है कि वर्तमान मे रास-नृत्य अपनी प्राचीन गौरव गरिमा को खो चुके है जबकि पिछले कुछ वर्षों मे कत्थक ने आशातीत विकास करके अपनी श्रीवृद्धि की हैं। यही कारण है कि आज रास-नृत्य कत्थक के सामने फीके और सीठे से प्रतीत होते है। कुछ महानुभावो का तो यह भी मत है कि रासमच पर वर्तमान मे नाचे जाने वाले नृत्य सही अर्थो मे नृत्य नही वरन् 'नृत्यभास' मात्र रह गए है, जबकि लोक कला मडल के संस्थापक श्री देवीलाल सामर का कथन है कि "रास को छोडकर प्राय सभी लोक-नृत्यो मे (चाहे बगाल की जात्रा हो अथवा हरियाणा के स्वाग, राजस्थान के परपरागत डाडिया नृत्य या प्रेमकथाएं हो अथवा दक्षिण का लोक-नृत्य) किसी न किसी रूप मे उनमे कुछ न कुछ विकृति आ गई है। रास इस दृष्टि से अभी भी अछूता है और वह अभी तक अपने मूल रूप को अक्षुण्ण बनाये हुए है। साथ ही देश मे जितनी आस्था रास के प्रति है, उतनी किसी लोक कला रूप के प्रति नही।"

क्या रास-नृत्य लोक-नृत्य है ?

हमारा अपना विचार यह है कि जिस समय वल्लभ नर्तक ने रास के वर्तमान नृत्यो को सजा-सवारकर खडा किया होगा उस समय उनके रूप शास्त्रीय आधार पर ही स्थिर किए गए होगे, परतु रासमच के सचालको की रूढिवादिता तथा अशिक्षा ने धीरे-धीरे उन्हे परपरागत लोक-नृत्यो की श्रेणी मे ही ला दिया है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि रास मडली से सबद्ध लोगो की शास्त्रीय आधार पर नृत्य और सगीत की शिक्षा नही हो पाती। अबोधावस्था से ही जो बालक रास मडलियो मे आ जाते हैं वे रासमच पर नाचते-गाते रहकर ही, वही मडली के स्वामी के सपर्क मे नृत्य सगीत और अभिनय की शिक्षा लेने है। ऐसी दशा मे जिस स्वरूप मे जितनी बुद्धि होती है तथा जिस

मंडली के स्वामी में सिखाने की जितनी क्षमता होती है उसी के अनुरूप कला-कार अपना विकास कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में जितना जिसके भाग्य में होता है या वह गुरु से जितना ग्रहण कर पाता है उतना ही सीख जाता है और शेष छूट जाता है। यह छूट ही उस स्थिति के लिए उत्तरदायी है जो रास के नृत्य-स्तर के ह्रास का कारण बनी है, परंतु छूटते-छूटते आज भी रास में जो कुछ रह गया है वह रासधारियों का निश्चित रूप से उनका अपना है। रासधारियों की रूढ़िवादिता ने रास के नृत्यों में जहां एक ओर विकास के मार्ग को अवरुद्ध करके उनको ह्रासोन्मुख किया है वहां अपनी इस प्रकृति के कारण वे बाह्य प्रभावों की छाया से भी बराबर बचे हैं। इस परंपरा की रक्षा उन्होंने एक पवित्र थाती की भांति की है, यह मानना ही होगा।

नृत्य-शिक्षा की परिपाटी

हमारी रास मंडलियों की यह भी एक विशेषता रही है कि उन्हें अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए कभी किसी बाहरी सहायता की अपेक्षा नहीं रहती यहां तक कि नृत्य और गायन की शिक्षा भी वह किसी पाठ्य पुस्तक के माध्यम से नहीं देते वरन् नृत्य गायन की पाठ्य पुस्तक भी उनका अपना परंपरागत लीला-साहित्य ही है। उदाहरण के लिए, गायन और नृत्य की शिक्षा की सामग्री रासधारियों को 'मुदरिया चोरी लीला' और 'गोचारण लीला' में मिल जाती है। 'मुदरिया चोरी लीला' में राधा को नृत्य सीखने की लालसा होती है तो वे गोपियों के मना करने पर भी कृष्ण से नृत्य सीखने जाती हैं और अपनी मुदरी गंवा आती हैं। इसी प्रकार 'गोचारण लीला' में कृष्ण को नृत्य सीखने की इच्छा जागृत होती है। 'मुदरिया चोरी लीला' की अपेक्षा 'गोचारण लीला' में नृत्य और गायन की पद्धति अधिक विस्तार से समझाई जाती है। 'गोचारण लीला' में कृष्ण गाय चराने सखाओं के साथ वन को जाते हैं। जब गायें चरने लगती हैं तो वन के खाली समय में कृष्ण को नृत्य और गायन सीखने की इच्छा होती है और वह ग्वालबालों से कहते हैं:

कृष्ण—अरे भैया ग्वालबालो।
ग्वाल—अरे हां दादा! कहि कहा बात।
कृष्ण—अरे भैया, आज मेरे हृदै में एक नवीन उत्कंठा उदै भई है।
एक ग्वाल—अरे दादा। कहि, वो कौनसी उत्कंठा है।
कृष्ण—सुनो भैया! आज हमारे घर ब्रजगोपी आई ही, सो विन्ने भोत ही सुंदर नाच्यौ हो। सो भैया मैं हू नाचनो सीखूंगो।
ग्वाल—अच्छौ। पर भैया, तू नृत्य सीखकै कहा करैगो।

कृष्ण—अरे सारे, मैं नाच-नाच के व्रज गोपिन कू रिझाऊंगो और उनपै ते तुम्हे माखन मिस्री दिवाऊंगो।

ग्वाल—सो तौ ठीक है भैया कृष्ण, पर तुमपै तौ बिना नाचे ही व्रज गोपी ही कहा सबरौ व्रज रीझि रह्यौ है।

कृष्ण—भैया, बात मति काटै, मैं नृत्य अवश्य सीखूगौ, तुम जें बताऔ कि तुम मे ते सब ते अच्छौ नाच कौन जानै है।

ग्वाल—सुनो श्याम हम चतुर सब, तदपि सखा एक तोष।
वा समान हमकू नही, नृत्य गान को होस।

कृष्ण—ठीक है भैया, तौ फिर तोष कू ही बुलबाऔ, मैं वाते ही नृत्य सीखूगौ। (सखान कौ तोष कू पुकारनौ, तोष कौ शृंगार मे सो निकसि कै आनौं)

तोष—अरे भैया! आज कहा वातै, तुम सब आज या बन मे कैसे इकट्ठे हो। भला मोय कौन कारन सो बुलायौ है।

कृष्ण—भैया तोष! मैं आज तुमपै ते नृत्य सीखूगौ।

तोप—अरे भैया कृष्ण! तुम्हारे कोमल चरन है और नृत्य भौत कठिन है।

कृष्ण—भैया, चाहे कितनौ हू कठिन होय पर मैं नृत्य अवश्य सीखूगौ। मोय तुम अब नृत्य सिखाय देउ।

तोष—तौ भैया, तू नृत्य मे कहा कहा सीखैगौ।

कृष्ण—सुन भैया—

नांचन कू जो सिखाऔ सखा मोहि।
तोरा और ग्रीव की लटकन, हस्त भाव दरसाऔ सखा मोहि।
सारगी और वीन पखावज, सवहि मिलाय बताऔ सखा मोहि।
रागन के सब भेद विविध विधि, सबही गाय सुनाऔ सखा मोहि।
वृदावन हित रूप लाडिले, मन मे मोद बढाऔ सखा मोहि।

तोष—भैया, जो तिहारी ऐसी ही इच्छा है तौ आऔ सीखौ।
(तोप कौ ठाकुर जी कू सामुने करिकै अपने अनुकरन पै उनकू नृत्य करानौ और ठाकुर जी कौ तोष कू देखि कै नृत्य करनौ तब तोष कौ गानो)

नाचहु स्याम नचाऊँ मैं तुमकौं।
जेहिं विधि पग मैं धरूँ धरनि पर, लखि तुम हू जो धरो चरन कौ॥
सप्त स्वरन इक्कीस मूर्छना, रागन के बहु भेद बरन कौ।
'सूर स्याम' प्रभु या विधि नाचो, भक्तन के मन मीन हरन कौ॥

इस प्रकार गायन के उपरात पहले तोप कृष्ण को सगीत-शास्त्र सिखाता है जिसका हम संगीत के प्रसग मे आगे उल्लेख करेंगे और उसके उपरात कृष्ण से कहता है।

तोप—आ भैया, कृष्ण, अव तोय नृत्य सिखाऊँ। देख नृत्य मे चार वात मुख्य हैं—चलन, चितवन, ग्रीव की लटकन और मुस्कान। इनको ध्यान राखिकें मेरे सग नृत्य कर।

कृष्ण—अच्छो भैया।

इसके उपरात त्रिताले पर निम्न वोलो को वोलकर तोप स्वय नाचता है और भाव वताता है—

तत्त तत्त थुन थुन, तीघा तिरकत थेई, तत्त थुन थुन तीघा किरकिट थेई,
तत्त तत्त थुन थुन तीघा किट किट थेई।
तीघा तिटकत थेई, तीघा तिटकत थेई, तीघा तिटकत थेई।
काधा, काधा, धाधा, काधा काधा धा।
धाधा, धाधा, काधा।

इस वोल पर कृष्ण को नृत्य करा कर फिर वह कृष्ण को चालो के नमूने सिखाता है। इनमे से चोर की चाल दर्शको का अच्छा मनोरजन करती है। अस्तु, गोचारन लीला के इस प्रसग से रास की नृत्य-परपरा पर अच्छा प्रकाश पडता है। रासवारी रास के अभिनेता स्वरूपो को नृत्य की शिक्षा भी इसी आधार पर देते हैं जो इस लीला मे वर्णित है। १, २, ३, ४, के साथ पाव लेने लग जाने के वाद 'थेई तत्त थेई तत्त' पर जव वालक पग संचालन करने लगते हैं तव त्रिताल पर उन्हें उक्त वोलो पर ही नृत्य की शिक्षा दी जाती है। त्रिताल वर्तमान रास नृत्यो की मुख्य ताल है।

रास-नृत्यो के (छोटे-वड़े परमलु)

परमलु लय के आधार पर हर ताल मे चलते हैं। रास के परमलुओ की विशेषता यह है कि इनके परमलुओ मे मात्राएं समान नही होती अत. स्वरूपो को इन मात्राओ को अपनी कुशलता से पूरा करके सम पर आना पडता है। इसी लिए रासधारी कहते हैं कि हमारे नृत्यो को हम ही नाच सकते हैं। इन्हे अच्छे से अच्छा नर्तक भी नही नाच सकता और न कोई वाहर का कुशल वादक ही पखावज पर इन नृत्य के साथ सगत ही कर सकता है। हमने नित्य-रास के मचीय स्वरूप का वर्णन करते हुए रास के पात्रो के जो परमलु दिये हैं उनसे इस कथन की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, कृष्ण का परमलु २८ मात्रा का है (देखें पृष्ठ १७४ पर) जबकि राधा का परमलु २० मात्रा का है (देखें पृष्ठ

१७५ पर)। इसी प्रकार गोपियो के नृत्य के प्रथम दो परमलु २४-२४ मात्रा के है जबकि तीसरे परमलु मे २८ मात्राए हैं (देखे पृष्ठ १७५)।

पता नही रास के नृत्यो को एक विशेप क्षेत्र मे सीमित रखने के लिए आरभ मे ही ये परमलु इसी प्रकार विपम (अधिक कम मात्राओ के) रखे गये थे अथवा बाद मे परपरा के साथ घिसते-घिसते यह इस भाति विकृत हो गये है। कारण चाहे कोई भी हो, आज तो रास की सभी मंडलियो मे ये परमलु इसी रूप मे समान ढग से प्रचलित हैं।

रास नृत्यों मे चलन, चितवन, ग्रीव की लटकन और मुस्कराहट

परमलुओ पर नृत्य के साथ सही ढग से पग ताल देना तथा आगे-पीछे हटना जहा नृत्यो मे आवश्यक है वहा रास के नृत्यो मे पगो के साथ हस्त-सचालन, ग्रीव संचालन, और मुख-मुद्राओ को भी विशेष महत्व दिया जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रास के स्वामी रास नृत्यो मे चलन, चितवन, ग्रीव की लटकन और मुस्कराहट पर विशेष बल देते है। 'चलन' का अर्थ है चलने का ढग। नृत्य करते हुए स्वाभाविक रूप से आगे-पीछे हटना तथा लीला के अनुसार पात्रो के परस्पर आमने-सामने एक दूसरे से नेत्र मिले रहे और जब स्वरूप (विशेष रूप से कृष्ण) दर्शको पर दृष्टिपात करें तो उनके नेत्रो की मुद्रा ऐसी आकर्षक हो जिससे दर्शक अभिभूत हो उठे। नेत्रपात रास के स्वरूपो को कुशल स्वामी विशेष रूप से सिखाते है। रास के कुछ स्वामी चलन के साथ 'अदा' को भी रास-नृत्यो का आवश्यक अग मानते है। उनके अनुसार 'अदा' का अर्थ रास के नृत्यो मे वही है जो अग्रेजी शब्द 'ग्रेस' से व्यजित होता है कि नृत्यो मे कही अश्लीलता या हल्केपन का आभास न हो। नाचते समय स्वरूपो मे एक सहज गरिमा विद्यमान रहे यह आवश्यक है। नृत्य मे पग और हस्त-संचालन के साथ ग्रीवा की हिलन और मुडन का भी रास से अनन्य सबध माना जाता है और उस पर स्वरूपो को विशेष ध्यान देना होता है। साथ ही स्वरूप नृत्य करते हुए सहज भाव से एक-दूसरे को देखकर परस्पर मुस्कराते हुए नृत्य करें तथा कभी-कभी अपने ओष्ठो की मधुर मुस्कराहट और सहज चितवन से दर्शको के मन मीन को भी हरते रहे यह रास नृत्यो के लिए आवश्यक माना गया है। नृत्यो मे ग्रीवा का तथा नेत्रो का सचालन करने मे जो अभिनेता सफल होता है तथा जिसकी मुस्कराहट मे जितनी सहजता विद्यमान रहती है, रास नृत्यो मे वह उतना ही अधिक सफल सिद्ध होता है।

लोक-नृत्यों का समावेश

इन मूल परमलुओ के आधार पर जहा नित्य-रास का प्रदर्शन होता है वहा

रासलीलाओ मे रास के इन नृत्यो के अतिरिक्त ब्रज के लोक नृत्यो का भी पूरा प्रतिनिधित्व रहता है। जाटो का ठेंगा दिखाकर नाचने का नृत्य, गूजरो के नृत्य तथा अन्य लोक-नृत्य इन लीलाओ मे वहा विशेष आकर्षण की सृष्टि करने मे समर्थ होते हैं, जहा कृष्ण और उनके सखाओ की गोपियो मे चुहल या लेन-देन के प्रसंग उपस्थित होते है। रास मे मनसुखा की अटपटी भावभगिमाओ से पूर्ण मुद्राओ मे किये जाने वाले नृत्य हास्य-रस का बडा ही सजीव वातावरण उपस्थित करने की क्षमता रखते है और दर्शको को लोटपोट कर देते हैं। कंस-वध लीला मे धोबी-वध से पूर्व धोबी का उसकी पत्नी व पुत्र के साथ धोबी नृत्य बडी कुशलता से प्रदर्शित किया जाता है। मडोई गाव के वयोवृद्ध रासधारी श्री रामचद्र इस नृत्य को अपनी जवानी मे बडी चटक-मटक से 'घर मे समुझत नाय लुगाई' लोक-गीत के साथ नाचते थे। धोबिन के नाच मे छाता के श्री गोकुलचद की भी अच्छी ख्याति रही है।

तांडव नृत्य

'महादेव लीला' मे जब भगवान शकर जसोदा से कृष्ण-दर्शन की प्रार्थना करते है और जसोदा उन्हे दर्शन नही कराती उस समय जसोदा के आगन मे शकर का ताडव नृत्य रास मे अपना अलग ही रग रखता है। रास की प्राचीन पीढी के रासधारियो मे लच्छमन स्वामी जी की 'महादेव लीला' प्रसिद्ध रही है। इस 'महादेव लीला' के नृत्यो मे स्वामी कुवरपाल जी ने ताडव के रूप को अपने कौशल से उभार कर उसके आकर्षण मे वृद्धि की है। नवोदित पीढी के रास-धारियो मे श्री दानविहारी गोस्वामी ने इस ताडव शैली को बहुत अच्छी प्रकार आत्मसात किया है। वह महादेव का नृत्य बहुत ही सुदर करते है। रास की 'महादेव लीला' मे ताडव नृत्य का अब अच्छा प्रतिनिधित्व होने लगा है। वैसे रास मे 'कालीनाग लीला' मे भी कृष्ण के ताडव-नृत्य की झलक बडी सजीवता से प्रस्तुत हो सकती है, परतु रास मे कालीनाग का दृश्यबध बनाकर उसके मस्तक पर कृष्ण को खडा करने की दृश्य योजना के विधान ने कृष्ण के ताडव नर्तक रूप को उस लीला मे अब तक नही उभरने दिया था जिसे हाल मे ही स्वामी हरिगोविन्द जी ने उभारा है। उनके कलाकारो मे श्री श्रीराम शर्मा व श्री रामदेव शर्मा दोनो ही कुशल नर्तक हैं।

रास-नृत्यो की विविधता और नृत्य-मुद्राएं

रास प्रमुख रूप से मडलाकार नृत्य है। इसीलिए रास के लिए पधारते समय रासके स्वरूप गाते हैं· 'चलौ चलै सब मडल चलिये', परतु मडलाकार नृत्य के आरभ होने के उपरात रास मे पक्तिबद्ध नृत्य का भी विधान है। पहले

पक्तिबद्ध नृत्य गलवाही डालकर सामूहिक रूप मे होता है और स्वरूप पगताल देते हुए चारो दिशाओ मे चार फेरे (हर ओर एक वार) देते है। इसके उपरात राधा-कृष्ण पृथक-पृथक और सखिया दो-दो की जोट मे नृत्य करके अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करती है। दडावादन नृत्य जो प्राय. सव नृत्यो के उपरात होता है वह भी मडलाकार है। इस भाति आरभ और अत मडलाकार होते हुए भी रास के बीच-बीच मे दूसरे नृत्य भी सजोये गये हैं।

राधा-कृष्ण के युगल-नृत्य की मुद्राए

प्रिया-प्रियतम का नृत्य जो किसी युगल-गान के साथ होता है रास मे अपना अलग ही आकर्षण रखता है। इस नृत्य मे राधा-कृष्ण एक-दूसरे से सट कर पावो मे पाव जोडकर परस्पर मुखमडलो को सटा कर एक हाथ दूसरे की ठोढी पर लगाकर, दूसरे दोनो हाथो को परस्पर जोडकर ऊचा उठा देते है। तब 'एक देह दो प्राण' की नयनाभिराम मुद्रा बन जाती है। इसी प्रकार राधा-कृष्ण आपस मे एक-दूसरे से सट कर जब खडे होते हैं तब कृष्ण वशी बजाते हैं और राधा अपने हाथ को उनकी पीठ के पीछे दूसरे कधे पर जमा लेती हैं और दूसरा हाथ उनके मुरली वाले हाथ पर रख लेती है तव नयनाभिराम 'युगलैक' मुद्रा वन जाती है।

जव राधा-कृष्ण दोनो मंडलाकार नृत्य करते है उस समय वाये हाथ को मोडकर और हथेली को छाती की सीध मे सीधी फैलाकर दाये हाथ की अगूठे के पास वाली अगुली को सीधी बाये हाथ वाली हथेली की सीध मे लगभग ६ से ८ इच तक की दूरी पर शेष अगुलियो को अगूठे से दाब कर (मुट्ठी बाधकर) एक मुद्रा वनाये नृत्य करते है। इस मुद्रा मे लय के साथ दाये हाथ की अगुली हिलती है और उस अंगुली पर दोनो स्वरूप तिरछी चितवन को जमाये ग्रीवा को सचालित करते हुए नृत्य करते हैं तो नृत्य मे शृगार का एक सरस वातावरण निर्मित हो जाता है।

रास और सगीत

रास मे कठ सगीत का नृत्य के उपरात महत्वपूर्ण स्थान है। रासमच के सगीत की विशेषता यह है कि वह मुख्य रूप से शास्त्रीय सगीत को आधार मानकर चलता है लोक-सगीत को नही, परतु लोक-संगीत भी रास मे उपेक्षित नही है। श्री मेघश्याम जी का साहित्य जव से रासमच पर अधिक प्रचार पा गया है तव से तो रासमच पर लोक-सगीत का पक्ष और भी अधिक सशक्त हो गया है, क्योकि उनका अधिकाश साहित्य व्रज की लोक-धुनो पर ही आधारित है। उनके रसिया तो वहुत ही अधिक लोकप्रिय है। परपरागत धुनो के अतिरिक्त

मेघश्याम जी ने रसिया की अपनी धुनें भी बनाई है जो रास मे सर्वसाधारण को बडी रोचक प्रतीत होती है। यहा एक रसिया की कुछ पक्तिया देखिये जो मेघश्याम जी की सुनिर्मित धुन पर आधारित हैं .

बसीवट जमुना तट निकट बजी मुरली नागर नट की।
मन मुदित, उदित भयौ चद, बढी सुखमा सुकुमाकर की।
उदित मयक भये, कुमुद सशक, प्राची वधु के निसक मुख मलत अबीर।
वीर भयौ रतिनाथ, राका रति मिलि साथ, पुष्प सायक लै हाथ,
किये लोकन अधीर।
धीरन मन धीरज नाहि, थाह थकी मुनि मानस घट की ॥ बसीवट०[1] ॥

रसिया के साथ-साथ रसिया मे लावनी, गाली, पारसी रगमच से प्रभावित धुनें ठुमरी, दादरा, कवित्त, सवैया तथा अन्य अनेक लोकछद भी सम्मिलित है। रास के बाद की लीलाओ मे लोकधुनो का विशेष रूप से समावेश हुआ है। परपरागत शास्त्रीय रागो और लोकधुनो के साथ रासमच पर रासधारियो की समय-समय पर निर्मित विभिन्न धुनो को भी प्रमुख स्थान प्राप्त है जो विभिन्न मडलियो मे लगातार एक ही प्रकार से गाई जाती रहने के कारण परपरागत हो गई है। रासधारियो ने प्राचीन वाणियो को प्रभावोत्पादक रूप मे दर्शको के समक्ष रखने के लिए समय-समय पर मच की आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न धुनो का निर्माण किया है जो रास की सगीत के क्षेत्र मे उसकी अपनी देन है। हम इस प्रकार के सगीत को राम का अपना सगीत कह सकते हैं। रास का यह मंचीय सगीत अधिक मौलिक तथा प्राणवान है। यहा हम सक्षेप मे रास के सगीत (गायन रूपो के इन तीनो प्रकारो) की चर्चा करना चाहेगे।

शास्त्रीय सगीत और रास

जैसा कि हम 'गोचारण लीला' के प्रसग मे लिख चुके हैं रास मे शास्त्रीय सगीत का ज्ञान रासधारियो को गोचारण जैसी लीलाओ के माध्यम से ही प्राप्त होता है। अब अधिकाश मडलियो का यह सगीत-ज्ञान बहुत सीमित है। कृष्ण को सगीत सिखाते समय साधारण मडलियो मे तोप कृष्ण को केवल सात स्वरो या रागो के नाम भर गिनाकर इस प्रसग को समाप्त कर देता है परंतु कुछ प्रमुख मडलियो मे जहा स्वामी लोग अधिक गुणी है और जिनकी सगीत की जानकारी अधिक अच्छी होती है उनमे तोप अधिक विस्तार से संगीत की

१. 'रसिया स्याम', तृतीय भाग, पृ० १३-१४।

चर्चा करता है। ऐसी मंडलियो मे वह निम्न दोहों को सुनाकर कृष्ण को उनका अर्थ समझाता है :

राग प्रथम भैरौं कह्यौ, मालकोस पुनि जानि ।
हिंडोल राग तीजौ कह्यौ, दीपक राग बखानि ।
श्रीराग कवि कहत है, मेघ राग पुनि सार ।
षट रागन के नाम ये, कहे भेद विस्तार ।

इसके बाद इन छ रागो की शक्ति का वर्णन तोष द्वारा इस प्रकार कृष्ण को समझाया जाता है .

दोहा—भैरो स्वर सुरता गहे, कोल्हू चलै जो धाय ।
मालकोस तव जानिये, पत्थर पिघल बहाय ।।
चलै हिंडोलौ आप ही, सुनत राग हिंडोल ।
बरसै जल घन धार अति, मेघ राग के बोल ।।
श्रीराग के सुर सुने, सूखौ वृक्ष हराय ।
दीपक दीयौ बर उठै, जो कोई जाने गाय ।।

जिस राग का कथन जिस पंक्ति मे हुआ है, इन दोहो मे वह पंक्ति उसी राग के स्वर मे गायी जाती है। राग-शक्ति के वर्णन के बाद उनके विस्तार का वर्णन निम्न दोहो द्वारा किया जाता है। राग मे इस विस्तार का कथन रागो की पत्नी के रूप मे समझाया जाता है। एक-एक राग की ५-५ पत्नी कही जाती है।

भैरो की पुनि भैरवी, बगाली बैरारि ।
मधु माधव और भैरवी, पाँचो विरहिन नारि ।।
टोडी, गौरी, गुनकली, खभायच पहचानि ।
और झँझोटी कहत हैं, मालकोस की जानि ।।
रामकली षटमजरी, और कहे देवसाखि ।
ये नारी हिंडोल की, ललित त्रिलावल राखि ।।
देशी नट और कान्हरौ, केदारौ कामोद ।
दीपक की प्यारी सबै महाप्रेम परमोद ।।
धनासरी आसावरी, मारू बहुरि बसत ।
श्रीराग की रागिनी, मालसिरी है अंत ।।
भोपाली अरु गूजरी, देसकार मल्लार ।
वंक वियोगिनि कामिनी, मेघराग की नार ।।

रागो के इस वर्णन के उपरांत उनके गायन का समय इस प्रकार बतलाया जाता है

पिछले पहरे निसि समय, भैरो राग वखानु ।
मालकोस तव गाइयें, जब सव निकसे भानु ॥
एक पहर जव दिन ढरै, करै राग हिंडोल ।
ठीक दुपहरी के समय, दीपक के सुर वोल ॥
श्रीराग चौथे पहर, जौलौं दिन अथवाय ।
मेघराज तवही भलो, जवै मेह वरसाय ॥
फागुन मे ये राग सव, जागत आठौ याम ।
वसंत ऋतु मे निसि समै, एक याम विश्राम ॥
भैरो सरद कुसक सिसिर, अरु हिंडोल बसत ।
दीपक ग्रीपम हेमश्री, मेघ सु पावस अत ॥

इस प्रकार आज के रासधारी साधारणत. सगीत के शास्त्रीय ज्ञान से इतना ही परिचय रखते हैं। सगीत शास्त्र की इससे अधिक जानकारी उन्हे प्रायः नही होती। जहा तक सगीत के व्यावहारिक ज्ञान की वात है रास मे उक्त सभी रागो के पदो का गायन होता है और इन पदो को याद करने के साथ-साथ उनकी धुनो को गाते-गाते सभी रागो के स्वरो से उनका परिचय हो जाता है, परतु रासधारियो के शास्त्रीय सगीत की गायन शैली सामान्य गायक से विशिष्ट होती है। रासधारियो के सगीत की कुछ ऐसी विशेषताए हैं जो सगीतज्ञ से उन्हे पृथक करती है। मोटे रूप से ये विशेपताए निम्न प्रकार हैं .

(१) सगीतज्ञ गायन मे शव्द को कम महत्व देकर नाद सौदर्य को व्यक्त करना चाहता है जवकि रास के गायक के समक्ष शव्द का महत्व सर्वोपरि है। पद-गायन मे पद का एक-एक अक्षर श्रोता तक स्पष्ट और सरस ढग से पहुचे यह रास गायको का मुख्य उद्देश्य होता है, अत' रास-गायन मे आलाप, तान, पलटा आदि को उतना महत्व नही मिल पाता जितना स्वतत्र रूप से गाने वाले देते हैं।

(२) रास गायक को रास की गति तथा लीलाओ मे घटनाचक्र को भी उचित रीति से चलाना होता है अत वह अनावश्यक गलेवाजी न करके सीधे गायन को ही महत्व देता है, क्योकि उसे निरतर यह ध्यान रखना होता है कि गायन लीला के रसोद्रेक मे सहायक होकर ही दर्शक के श्रवणो मे पहुचे, क्योकि रास-दर्शक गायन का आनद लेने के उद्देश्य से नही, रास और लीला का आनद प्राप्त करने के उद्देश्य से ही रास देखता है।

(३) रासधारी अधिकतर ब्रज के ग्रामीण क्षत्र से आते है, अत. उनके शास्त्रीय गायनो मे तथा तानो और आलापो मे लोकधुनो का प्रभाव किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहता है।

लोक-संगीत और रास

प्रारंभ मे रास मे शास्त्रीय संगीत ही सर्वप्रमुख था परंतु बाद मे चद-सखी तथा वर्तमान मे मेघश्याम जी जैसे महानुभावो के प्रभाव से उसमे लोक-धुनो का समावेश भी समय-समय पर होता रहता है। यो तो रास मे ब्रज की सभी प्रमुख लोकधुनो का समावेश रहता है, परंतु ब्रज लोक सगीत के सम्राट रसिया को रास मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। ब्रज मे रसिया की लगभगभ २० धुनें प्रचलित है जिनमे से ८-१० धुनो का रास मे अधिक प्रचार है। हम यहा इन रसिया की धुनो के विस्तार मे न जाकर सामान्य रूप से ३-४ उदाहरण मात्र यहा उद्धृत कर देना चाहते है ·

(१) रास मे विभिन्न भावो के दोहो को रसिया की टेक के साथ गूथ कर उन्हे प्रभावोत्पादक शृंखलाबद्धता के साथ प्रस्तुत करने से लयात्मकता और नाटकीयता मे वृद्धि होती है, अतः रासधारी इस परिपाटी से लीला मे दोहा गायन प्रस्तुत किया करते हैं। जैसे—

टेक—बंसीबारे ते लगाय लै दोऊ नैन, उमर तेरी कटि जायगी।
दोहा—राम नाम लीयौ नही, कियौ न हरि सौ हेत।
वे नर यो ही जायँगे, ज्यो मूरा कौ खेत ॥ उमरि तेरी० ॥

(२) सामूहिक गायन के लिए रसियाओ की निम्न धुनें अच्छी मानी जाती है :

कदम नीचे आय जइयो कटीले काजर वारी।
कटीले काजर बारी, तू सुनि बरसाने बारी। कदम०
जो तेरी सास ननँद तोय रोके, गूँठा उन्हे दिखाय अइयो। कटीले०

या—

दर्सन दै निकसि अटा मे ते, दर्सन दै।
तू है श्री वृषभानु नदिनी, जैसें प्रगट्यौ है चद घटा मे ते, ॥ दर्सन दै० ॥

(३) किसी घटना का वर्णन करने, किसी मत के प्रतिपादन या सिद्धात की व्याख्या करने के लिए निम्न धुनें अधिक उपयुक्त हैं :

मेरौ ब्रज ृदावन धाम लगै मोय जगते प्यारौ है।
जग मोय पूजै सीस नवावै। यहाँ गोपी नित नाँच नचावे।
जोगिन ते दुर्लभ गति पावें।
दोहा—यहा जसोदा माय पै स्वय बँधाऊँ हाथ।
वहाँ जग कौ पालक यहाँ, चोरी करि दधि खात।
चक्र सुदरसन त्याग वन गयौ वसीवारौ है। मेरौ०

कुछ पद शैली की रचनाएं भी रसिया की धुनो मे गा ली जाती है।

जैसे :

सामरौ जग तारन कौ आयौ ।
निस दिन तेरौ ध्यान धरत है, सुर मुनि पार न पायौ ।
भानुसुता मे कूद पडे हरि, विषधर जाय जगायौ ।
फन पै नाच पताल पठायौ तीन लोक जस गायौ ।

रसिया की प्राचीन धुनें रास मे वहुत लोकप्रिय रही है । एक उदाहरण देखें :

माखन की चोरी छोड सामरे मैं समझाऊँ तोय ।
नौ लख धेनु नद बाबा घर, नित नयौ माखन होय ।
बरसाने से आई रे सगाई तेरी, नित नई चरचा होय ।
वडे घरन की वाला लाला, नाम धरेगी मोय । माखन०

इस प्रकार रसिया का रास से पुराना सवध है । रास और रसिया का यह सवध वडा ही सौहार्दपूर्ण है और रास ने रसिया तथा रसिया ने रास के प्रचार मे महत्वपूर्ण योग दिया है । चदसखी, घासीराम, कुदन विप्र, पुरुषोत्तम प्रभु जैसे पुराने रसिया लेखको के साथ आधुनिक युग मे कई रासधारियो ने भी लीला सवधी रसियो की पर्याप्त मात्रा मे रचना की है ।

रसिया के उपरात रास मे लावनी को स्थान मिला है । नारायण स्वामी की कुछ लावनिया रास मे बडी लोकप्रिय है । उदाहरण के लिए, एक गोपी की विवशता देखिए .

सखी ! कैसी करूँ मैं हाय न कछु बस मेरौ ।
विन देखे सामरौ चन्द हिये मे अँधेरौ ।

लोक जीवन मे प्रचलित ख्यालबाजी (लावनी गायन) की परंपरा मे ख्यालो की धुनो मे बडी विविधता का समावेश मिलता है । व्रज के 'भगत' के मंच पर भी २४ मात्रा की लावनी को तो छोटी लावनी के नाम से ही स्वीकार किया जाता है, परतु वहां भी इन ख्यालो और लावनियो की कई रगतें प्रमुखता पा गई है, जैसे 'शकिस्त' या 'लगडी लावनी'[1] लगड़ी लावनी विरह, वियोग और करुण रस के चित्रण के वेजोड छद है । रास मे भी इस छद का प्रयोग पिछले दिनो मे वढ गया है । कालीदह लीला मे कृष्ण के वियोग मे कातर माता जसोदा का विलाप मेघश्याम जी की एक लगडी लावनी मे इस प्रकार चित्रित है .

१ विशेष विवरण के लिए देखें हमारा ग्रथ 'सागीत एक लोक नाट्य परपरा', प्रकाशक राजपाल एड सज, दिल्ली ।

कहाँ छिप्यौ मो लाल, भई बेहाल हाय गति मैया की।
कबहु न भूलूँ सुघर सूरति, मेरे वा कुँवर कन्हैया की।
पिछले पन दुख दियौ, लेहु सुधि मेरी जीवन-नैया की।
परी भँवर मे, बाट देखत हौ नाव खिबैया की।
गोपी ग्वाल विहाल, ख्याल करि धौरी धूमरि गैया की।
सूनी करिगौ, अभागिनी गोदी दुखिया मैया की।
ठाडी जमुना तीर, उठत उर पीर धीर क्यो धारूँगी।
माखन मथि के, खबावन वेर मैं काहि पुकारूँगी।
कौन करैगौ पच्छ, इद्र ते ब्रजजन बास बसैया की।
परी भँवर मे नाव, बाट देखत हूँ पार लगैया की।
स्याम तेरे बिन आज, अथाँई सूनी रे नदरैया की।
सुरति न आवै, अरे निरमोही भोरी मैया की।

परंतु रसिया और लावनी ही नही, वाणी-साहित्य के साथ-साथ चूरन-चटनी की भाति व्रज की अनेक लोकधुनो का भी रास मे समावेश रहा है। विवाह के अवसर पर बरातियो को छत पर बैठी ब्रजबालाए भोजन के समय जिस धुन मे प्रेम भरी 'गारी' गाती है ठीक उसी धुनि मे कृष्ण और उनके सखा 'श्याम-सगाई' लीला मे बरसाने मे राधा की माता और सखियो को गाली सुनाते हैं। कुछ पंक्तिया देखें :

रँग वरसैगौ हां हां, राम रँग बरसैगौ।
रँग वरसै कछु इमरत बरसै, और बरसै कस्तूरी ॥ रँग०।
सब सारे बरसाने बारे, रावल वारे सारे।
वाबाजी भानोखर बारे, प्रेम सरोवर बारे ॥ रँग०।
महल तिबारे सब ही सारे, सारे बहुत पनारे।
वाग बगीचा सब ही सारे, सारे सीचन हारे ॥ रँग०।
इन गारिन कौ बुरौ न मानो, कृष्णचद के प्यारे ॥ रँग०

इस गारी मे किसी भी सखी की किसी भी सखा से जोडी मिलकर ग्वाल-बाल गाते है ·

जा लाला की सगाई ते भई राजी, दै-दै राजी।
जा मनसुखा ते जुगति लगाय सखी, काजर बारी। रँग०।

इसी प्रकार रास मे प्रचलित हास्य रस का एक लोकगीत देखिये जो कृष्ण और कस दोनो ही पक्षो मे वडे रस के साथ नाचकर गाया जाता है। यह गीत भी स्वामी मेघश्याम जी की ही रचना है। कृष्ण-पक्ष मे जब किसी लीला मे गोप मडली इकट्ठी होती है तो वहा यह गीत सखियो द्वारा मनोविनोद के

लिए गाया जा मकता है और कंस के दरबार मे [कस के मंत्री जी इस गीत को अपनी मोटी थोद को हिला-हिलाकर नाच-नाचकर अपने महाराज कस की प्रसन्नता के लिए गाते हैं। गीत है .

हमारो मन मोहि लियौ आम की खटैया।
लड्डू पेडा खुरचन रबड़ी, बरफी और मलैया।
चना चिरपिरे दारसेव मे, लग जाय मिर्च ततैया॥
सपने मे भयौ व्याह हमारो, मगन भये हम मैया।
आँख खुली तब देखन लागे, करम न लिखी लुगैया॥
ससुर हमारे ने दई दहेज मे, कुतिया और बिलैया।
सासूजी ने बडे प्रेम ते, कर दई दान गवैया॥

ब्रज का यह लोक-सगीत रास के साधारण स्तर के दर्शको के मनोविनोद का सुदर माध्यम है।

ब्रज की ही नही, अन्य जनपदो की लोकधुनो का भी रास मे समावेश पाया जाता है। ललित किशोरी जी कृत दानलीला मे एक पजाबी झूलना का रूप देखें .

घट-घट मे सग-सग सखियन के डोले प्रीतम प्यारा है।
ढूंढे आप ढुंढावै आपी, चोर आप रखवारा है।
ललित किसोरी मोरे मन मे, जादू सा कछु डारा है।
पकरि न पावै कर गहि धावै, ऐसा खेल सँवारा है।[1]

ललित किशोरी जी लखनऊ के नवाबी दरबार के मुख्य सामतो मे से थे जो भक्ति के रग मे रगकर वृदावन मे आकर बस गये थे। वे कवि और रास के भक्त ही नही रासधारियो के बडे सबल पोषक भी थे। अपने शाह बिहारी जी के मदिर मे वे राजसी थाट से रासो का भी आयोजन कराते थे। उनका रास पर गहरा प्रभाव पडा और जहा तक हमारा अनुमान है उनके प्रभाव मे ही ब्रज के इस मच पर उर्दू का भी रग थोडा-सा चढ गया। नित्य रास मे आज भी ललित किशोरी जी की ऐसी माझ गाई जाती हैं जो हमारे उक्त मत की पुष्टि करती है। एक माझ है·

गौर श्याम वदनारविंदु पर जिसकी पीर मचलते देखा।
नैनबान मुसकान जान फँस, फिर नही नेक सम्हलते देखा।
ललित किशोरी जूझ प्रेम मे केतो का घर झुलते देखा।
डूबा प्रेम सिंधु का कोई फिर नही नेक उछलते देखा।

१ वृदावन मे प्रकाशित 'दानलीला', पृ० ७।

रास सगीत पर उर्दू काव्य का प्रभाव

उर्दू भाषा का प्रभाव इस मांझ पर उतना गहरा नही जितना उस भाव-भूमि का है जो उर्दू शायरी की जान मानी जाती है, परंतु रास पर उर्दू भाषा और उसके छदो की छाप भी अधिकाश रूप से दृष्टिगोचर होती है, उदाहरण के लिए, उर्दू का यह प्रभाव महादेव लीला मे कभी-कभी बहुत उभरता है। भगवान शकर माता जसोदा के यह कह देने पर कि वह उन जैसे भयंकर वेश-धारी साधु को अपने पुत्र कृष्ण के दर्शन नही करायेंगी जब वे उसके द्वार पर अलख जगा देते है तब वे कृष्ण से दर्शन देने के लिए नाना प्रकार की अनुनय-विनय करने के साथ-साथ उन्हे उपालभ भी देते हैं, साथ ही इस अवसर पर उन्हे 'आरत कहा न करहि कुकुरमूं' के न्याय से अनेक भाषा बोलने की भी कदाचित पूरी छूट दे दी गई है। एक शेर देखिये :

> क्या वह स्वभाव पहला सरकार अब नहीं है।
> दीनो के वास्ते क्या दरबार अब नही है।
> या तो दयालु मेरी दृढ दीनता नही है।
> या दीन की तुम्हे भी, दरकार अब नही है।

और यह है एक गज़ल की पक्तिया जिन्हे मेघश्याम जी ने स्वय रचकर पहली बार रास मे गवाया था। तब से महादेव जी इस गजल को अब तक गाते चले आ रहे हैं :

> हम दर पै तेरे आज ही धूनी रमायेंगे, उठकर न जायेंगे।
> जब तक दरस तेरा मोहन न पायेंगे, उठकर न जायेंगे॥

रास सगीत और पारसी थियेटर

इस प्रकार जहा रास पर ब्रज की लोकधुनो का प्रभाव पडा है, वहा इसके साथ ही साथ वह पारसी थियेटर से भी प्रभावित हुआ है। पारसी थियेटर की कुछ धुनें तो रास मे बहुत ही लोकप्रिय हुई हैं। उदाहरण के लिए, 'चद्रावली लीला' मे एक गीत आता है कि जब चद्रावली सखी की बहिन बनकर छद्म वेशधारी कृष्ण उसके घर पहुचते हैं तो चद्रावली उनका स्वागत करके उनसे पनघट चलने का आग्रह करती है तब कृष्ण उसको उत्तर देते है ·

> पानी मेरी हो जायगी बलाय।
> अरी अँगना मे कुआँ खुदाय, रेसम की डोरी तो मँगाय। पानी०
> सोने को कलसा भराय,
> ठाढी मृगनैनी झोटा खाय। पानी०

सागर पानी भरत ही मछरी ने मारी लात ।
छै महीना तक परी रही, मेरी काहू न पूछी बात ।
कँकरिया चुभ-चुभ जाय । पानी०
नदी किनारे केवडा, झुकि-झुकि झोका खाय ।
पडित होय तौ समझियौ, कोई मूरख गोता खाय ।
ठाडी मृगनैनी झोटा खाय ।

इसी प्रकार 'वशी लीला' मे राधिका से वंशी लौटा देने के लिए अनुनय-विनय करते हुए कृष्ण ठीक पारसी मच की थियेटरी धुन मे ही गाते हैं ·

वशी मेरी प्यारी दीजै, प्रान, प्रान, प्रान ।
याही ठौर काल्ह भूल्यौ री सुख दान, दान, दान ।
नही काम की तिहारी दीजै आन, आन, आन ।
जाते करूँ मैं तेरौ री गुणगान, गान, गान ।
विनती सुनौ हमारी, दै कान, कान, कान ।
कीजै कृपा रसिक पै, जन जान, जान, जान ।

पारसी थियेटर पर उक्त अनेक धुनो के साथ ठुमरी व दादरा गाने का भी आम रिवाज था । रास मे भी उसी प्रभाव के कारण ठुमरी व दादरा का अच्छा प्रचलन है। प्रसिद्ध रासधारी लछमन स्वामी ने पारसी थियेटर युग मे ही एक दादरा लिखा था जो बाद मे भी अनेक मडलियो द्वारा नित्यरास मे समूह गीतो के साथ गाया जाने लगा है । यह दादरा निम्न है :

आली चलौ आली चलौ पनघट पै ठाडौ छैल ।
रोकै गैल वरजोरी, मोरी गागर फोरी ।
अगर वगर झगर करत मानत नाहि ।
नदलाल री, हाँ हाँ हाँ नदलाल री, ए ए ए ए । आली चलौ०
मोते कीनी वरजोरी, गागर मोरी फोरी ।
गहि वहियाँ मरोरी, ऐसौ निपट निडर ।
झगर करत मानत नाहि री, ए ए ए ए । आली चलौ०

'गोरे ग्वाल लीला' मे कृष्ण द्वारा चंद्रमा से राधा के मुख व श्रृंगार की तुलना चन्द्रमा से निम्न ठुमरी मे की जाती है :

चन्दा सौं वदन जामें चन्दन की विन्दा दिये ।
चन्दा तन चितवत, चन्दा छवि छाई प्यारी ।
चन्दन की सारी सोहे, चन्दन कौ हार हिये ।
चन्दन कौ लँहगा सोहे, चन्दा मुख भाई प्यारी ।

चन्दन की कंचुकी, चन्दन को बंदनो।
चन्दन की बँगली चन्दा तनु भाई प्यारी।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै।
त्यारौ मुख देखे चन्दा गयौ है लजाई प्यारी।[1]

इस दृष्टि से रास एक जीवित और जागृत मच है जिसका संगीत जहा सदैव लोकरुचि तथा सामयिक स्थितियो से प्रभाव ग्रहण करता है वहां अपना प्रभाव भी सहयोगी मचो और लोकरुचि पर डालता है। वर्तमान युग मे हाथरस मे जिस स्वाग परपरा का विकास हुआ वह कानपुर की नौटकी से संगीत के क्षेत्र मे कही आगे है। उसमे सगीत की यह मधुरता रास के ब्रज क्षेत्र मे व्याप्त व्यापक प्रभाव का ही प्रताप है। ब्रज मे एक कहावत प्रचलित है कि 'ब्रज की मॉटी वाजनी है।' इसका अर्थ यह है कि ब्रज की सगीत मे सहज ही अभिरुचि है और इस लोकरुचि के निर्माण मे रास का प्रमुख हाथ रहा है। रास मे प्रचलित इन सहज लोकगीतो को गुनगुना कर ही ब्रजवासी वचपन से ही सगीत के सस्कार अपने व्यक्तित्व मे समोते आये हैं। इस दृष्टि से रास मे प्रचलित लोकसंगीत की भूमिका बड़ी प्रभावकारी और महत्वपूर्ण है।

रास ने एक ओर ब्रज मडल मे जहा संगीत का सहज वातावरण वनाया है वहा साथ ही साथ उसने निरक्षर लोगो तक मे कृष्णलीला और काव्य के प्रति सहज अनुराग और काव्य-रचना की सहज वृत्ति का भी सृजन किया है। निरतर काव्य और सगीत के वातावरण मे रहने के कारण रासधारी केवल गायक ही नही, कवि भी वन जाते हैं और कभी-कभी उनकी प्रतिभा कोई ऐसी कृति भी दे जाती है जो वर्षो रासमच पर छाई रहती है। धीरे-धीरे ऐसी रचनाए लोकमानस की जिह्वा पर भी आसीन हो जाती हैं, और वे लोक साहित्य का एक अभिन्न अंग वन जाती है। अभी हाल मे ही श्री लछमन जी के पुत्र श्री तोताराम जी ने हमे अपनी एक लगडी लावनी की कुछ पक्तिया सुनाई थी, जिन्हे वह 'पांडे लीला मे गाते हैं। जसोदा के पीहर से आया हुआ पाडे जब नदगाव के लोगो से जसोदा के घर का पता पूछता है तो वे उत्तर मे कहते है :

ऊँची सिखिर लखात, धुजा जापै सतरग मँडरावै हैं।
सो सत महल जहाँ जसुमति लालन कू गोद खिलावै है।
मोतिन वदनवार बँधे जहँ, कचन कलस लखावै है।
तहँ कनिया लै, जसुमति रानी चूमि-चूमि पय प्यावै है।

1 रास रत्नाकर, पृष्ठ ६१।

कहना न होगा कि जिन्होने नंदगाव मे पर्वत-शिखर पर वना नंद वावा का मदिर देखा है, इन पंक्तियो को सुनते ही उस मदिर का एक भावभीना चित्र उनके नयनों के समक्ष स्वय ही घूम जाता है।

व्रज लोक-संगीत को रास की देन

रास ने जहा लोक-साहित्य को नई रचनाएं दी हैं वहा उसने लोक-संगीत को भी समृद्ध वनाने मे महत्वपूर्ण भाग लिया है। रासमच के कलाकार प्राय व्रज क्षेत्र के ग्रामीण अचल से आते हैं। इसलिए उनका लोक-जीवन और लोक-सगीत से भी घनिष्ठ परिचय रहता आया है। स्वर्गीय श्री मेघश्याम जी ने रास मे कई धुनो के रसियाओ की रचना करके उन्हे मंच पर प्रस्तुत किया और रासमच से यह धुनें व्रज के लोक-मानस के कंठ मे पैठ कर अव व्रज के गांव-गाव मे गूज उठी हैं। श्री मेघश्याम जी द्वारा रसिया को दी गई ऐसी कुछ धुनो के वोल यहा उद्धृत किए जा रहे हैं .

(१) छवीली तेरी चितवन मे चित भूल्यौ।
(२) भायेली मनुआ वावरौ नाँय माने विन वोले।
(३) कैसेहुँ छूटे नाँय छुटाये रसिया वँध्यौ प्रेम की डोर।
(४) नाजो नैना री नुकीले नये ढग, खेल रहे रग होरी।
(५) मस्त महीना फागुना कौ रस वरसै वाँकौ।

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसिद्ध रासधारी श्री कुवरपाल जी ने भी रसिया मे कुछ नवीन धुने जोडी हैं। जैसे :

(१) को लै गयौ चुराई हमारौ गहनौ।

रास का मंचीय संगीत

प्रतिभाशाली रासधारी समाज ने समय-समय पर प्राचीन वाणियो को अपनी सुनिर्मित धुनो मे वाधकर रास के सगीत मे नवीन धुनो का समावेश करने मे अपनी अनुपम योग्यता का परिचय दिया है। इन धुनो का सदा से रास मे चलन रहा है और ये धुनें एक मडली से दूसरी मडली मे पहुच कर अपनी लोकप्रियता सिद्ध करती रही है। ऐसी भी अनेक धुनें हैं जो रास का एक अग ही वन गई हैं। इन धुनो को हम रास की उसकी अपनी धुनें कह सकते हैं जो रास के मचीय मंगीत की अपनी उपलब्धि है। रास मे वियोग, झूला, शयन के पद अपने अलग रग मे गाये जाते है। इन धुनो पर कोई संगीत के मर्मज्ञ कलाकार विद्वान पृथक से शोध करें तो इस महत्वशालिनी विधा का सही मूल्याकन हो सकता है। यहा हम केवल सुविधा के लिए ऐसी कुछ धुनो

के बोल (सकेत मात्र के लिए) लिख रहे हैं।

रास की एक विशेष धुन

वियोग की धुनें	(१) कान्हा रे बसुरिया वारे रे
	(२) आओ सखी पाती सुनो यह जो लिखी व्रजराज।
शयन के पदो की धुन	(३) तुम पौढ़ौ मैं सेज बिछाऊँ।
झूला की धुन	(४) देखौ री मुकुट झोका लै रह्यौ।

रास ने इस भाति जहा नवीन धुनो का निर्माण किया है वहा उसने इसके साथ ही गायन की प्राचीन परपरा के ऐसे रूपो को भी अपने अतर मे सजोकर रखा है जो रास के न होने पर आज दूसरे माध्यम से कदाचित नही सुनी जा पाती। हम भागवत के गोपी गीत, जयदेव के 'गीत-गोविंद', नददास की 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमर-गीत' का इस सबध मे विशेप रूप मे उल्लेख कर सकते हैं जिन्हे रासधारियो ने अपने कठ मे संजोकर इस गायन-शैली को सुरक्षित रखा है।

परतु रास मे कोई पद निश्चित धुन मे ही गाया जाय ऐसा कोई प्रतिबंध नही है। रासमंच परपरावादी होते हुए भी बधनमुक्त वातावरण का हामी है और इसी दृष्टिकोण ने उसे निरतर युग के साथ बनाये रखा है। रास के एक ही पद को अनेक धुनो मे अपनी रुचि और समय के अनुरूप गाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हम स्वामी हरिदास का 'बेनी गूँथ कहा कोई जाने, मेरी सी तेरी सो राधे।' पद का उल्लेख कर सकते हैं जिसे विभिन्न मडलियो के स्वामी अपनी योग्यता के अनुसार विभिन्न धुनो मे गाते रहे है।

रास के वाद्य-यंत्र

हरिवश पुराण के अनुसार रास जब आरभ हुआ तब उसके नृत्यो और गायनो मे वाद्य-यत्रो का अभाव था। यहाँ गोपिकाओ के बजने वाले आभूषणो ने ही वाद्यों की भूमिका संपादित की थी, परतु परवर्ती पुराण ग्रथो तक आते-आते रास मे वाद्य-यत्रो की एक श्रृंखला सम्मिलित मिलती है। हिंदी के भक्त कवियो ने व्रजभाषा काव्य के माध्यम से भावात्मक रास के चित्र अकित किये तो उन्होने उस युग के सभी प्रचलित वाद्यो को रास के साथ संबद्ध कर दिया। स्वर्गीय श्री चुन्नीलाल शेष ने व्रज साहित्य मडल द्वारा प्रकाशित अपने ग्रथ 'अष्टछाप के वाद्य-यत्र' मे इन सभी वाद्यो का विस्तृत सचित्र परिचय प्रस्तुत किया है, अतः यहा रास की प्राचीन वाद्य परपरा की चर्चा अनावश्यक है,

परतु वर्तमान मे रास के प्रचलित वाद्यो की चर्चा न करने से तो यह प्रसग ही अधूरा रहेगा।

वाद्यो के प्रकार

हमारे संगीतज्ञो ने वाद्य-यंत्रो के चार भेद लिखे हैं · (१) तत्, (२) सुपिर, (३) आनद्ध या अनद्ध, (४) घन। जो वाद्य ततु (तार या तात) लगाकर वनाये जाते हैं वे 'तत्' कहे जाते है और जो वायु के दवाव से स्वर उत्पन्न करते हैं वे 'सुषिर' कहे जाते हैं। चमड़ा मढ कर वनाये गये वाद्य 'अनद्ध' और जिन वाजो को एक-दूसरे से ठोक कर वजाया जाता है वे घन कहलाते हैं। इन वाद्यो मे कुछ स्वर वाद्य हैं और कुछ ताल वाद्य हैं। वर्तमान रास मे जिन वाद्यो का प्रयोग होता है उनमे सारंगी—'तत्' वाद्यो का प्रतिनिधित्व करती है। यह रास का सवसे प्रमुख स्वर वाद्य है। सारगी लगभग दो फुट लवी होती है जिसमे खैर की लकड़ी का वना हुआ पेट होता है जो नीचे से चपटा तथा ऊपर से डमरू जैसे आकार का होता है। यह लकडी को खोखला करके उस पर चमडा चढा कर वनाया जाता है। इसके पेट के वीच मे घुडच लगी होती है। पेट के नीचे से तात या तार घुड़च पर से होकर ऊपर खुटियो पर लगा दिए जाते हैं जिनको कमान और नखो की सहायता से वजाया जाता है। वायें हाथ की उगलियो के नखो से तात को पार्श्व से दबाकर इच्छानुसार स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। सारगी मे सहायक तन्त्री भी लगी होती है, जिसको तरव कहते हैं। वैसे विना तरव की सारगी भी होती है जिन्हे गावो मे जोगी आदि वजाते हैं। रास मे तरव वाली सारंगी ही प्रयुक्त होती है। सारंगी हमारे देश का प्राचीन वाद्य है जिसके आदि निर्माता लकाधिपति रावण कहे जाते हैं। इसीलिए सारगी को 'रावणास्त्र' या 'रावण हस्त वीणा' भी कहते हैं।

रास मे पहले प्राय दो सारगी एकसाथ वजाई जाती थी जिन्हे समाज के दोनो छोरो पर लेकर दो समाजी वैठा करते थे, परंतु अव धीरे-धीरे रास मे अच्छे सारंगी वादको का अभाव होता जा रहा है और उनका स्थान हारमोनियम वाजा लेता जा रहा है। आजकल कई मंडलियो मे से तो सारगी विलकुल ही उठ गई है और कुछ मडलियो मे वह केवल दिखावे के लिए ही हाथ मे ले ली जाती है। अव ऐसी केवल दो-एक मडलिया ही शेप हैं जिनमे सारगी को रास मे प्रमुखता प्राप्त है। वर्तमान युग मे घर्मसिगा के श्री लछमन स्वामी, जतीपुरा के श्री हरिवल्लभ जी तथा मुखराई के श्री कन्हैयालाल जी रास की पुरानी पीढी के सारगी वादको मे विशेष ख्याति-प्राप्त रहे हैं जिन्होने रास मे अपनी सारंगी के सम्मोहन से दर्शको को मुग्ध करके विशेप नाम प्राप्त किया है। इसी परपरा मे छाता के स्वामी रामधन जी भी थे।

अतीत मे भी रास मे ख्याति प्राप्त सारंगी-वादक समय-समय पर होते रहे हैं। करहला के स्वर्गीय स्वामी चोथाराम जी की सारगी आज भी स्मरण की जाती है। स्वामी चोथाराम जी सारगी के प्रसिद्ध वादक होने के साथ-साथ रास के मचीय सगीत की अनेक धुनो के निर्माता थे। वे मौलिक प्रतिभा के धनी थे, सारगी हाथ मे लेकर मन की मौज मे उनके कठ से जब जो स्वर निकल जाते थे वही एक नई धुन का निर्माण कर देते थे। अतीत मे श्री सोहनलाल जी भी रासधारियो मे बडे प्रसिद्ध सारगी-वादक हो गये है। कहते है कि उनकी ध्रुपद और धमार की वदिशें वेजोड थी।

सुषिर वाद्य सुषिर वाद्य के रूप मे जो वाद्य सबसे प्राचीन कहा जा सकता है और जिसका रास और रास के सस्थापक कृष्ण से सर्वाधिक घनिष्ठ सबध है वह वासुरी है, परतु दुर्भाग्य से रास मे वाद्य के रूप मे आजकल बासुरी का प्रयोग भी नही होता, वह प्राय भगवान कृष्ण की फेंट मे दिखावे के लिए ही खुमी रहती है। रासलीला मे जब कृष्ण के बासुरी वादन की आवश्यकता होती है तो उसे ओष्ठो से लगाकर कृष्ण केवल वासुरी वादन का अभिनटन भर कर देते है। श्रीकृष्ण का स्वरूप बनने वाले वालक प्राय. वासुरी-वादन नही जानते, कुछ स्वरूप ही उसे थोडी बहुत वजाना जानते है।

आनद्ध वाद्य . रास मे आनद्ध वाद्य का प्रतिनिधित्व पखवाज या पखावज करती है। पखावज की लवाई १२ मुट्ठी तथा मध्य की गोलाई इससे कुछ अधिक होती है इसका मुख १२ अगुल का होता है जो मेष के चमडे से मढा होता है। मुख के वाहरी ओर लोहे के दो कडे लगे रहते है, जिनमें २०-२० छेद होते है। इन दोनो ओर के मुखो को चमडे के तस्मो से कस दिया जाता है। रस्सियो को इच्छानुसार खींचने के लिए दाईं ओर लकडी की गिट्टके लगी रहती है। ध्वनि को सुदर बनाने के लिए दाईं ओर के मुख पर मध्य मे ६ अगुल गोलाकार लोहचूर्ण लगाया जाता है तथा वाईं ओर वजाने के समय आटा गूथ कर लगा दिया जाता है।

पखवाज या पखावज का जन्म प्राचीन मृदग से माना गया है। रास के नृत्यो और गायनो में पखावज का महत्त्वपूर्ण स्थान है परतु धीरे-धीरे अब रास मे पखावज का स्थान भी तवला लेता जा रहा है। इनी-गिनी एक-दो मंडलियो मे अभी भी पखावज को ही मान्यता प्राप्त है। रासधारियो में समय-समय पर ऐसे कुशल पखावजी और तवला-वादक हुए हैं जिन्हे इस क्षेत्र मे भारी ख्याति प्राप्त हुई है। करहला के रामदेव पखावजी ने पखवाजी मे अच्छी ख्याति पाई थी। उनकी पखावज की तैयारी वहुत ही अच्छी थी और चारो ही घरानो की सगत उन्हे याद थी। मथुरा के मक्खन जी पखावजी भी अपने फन मे वडे माहिर थे और अच्छे-अच्छे गुणी उनका आदर करते थे। आकाशवाणी दिल्ली के पखा-

वज वादक श्री प्रेमवल्लभ भी रास की ही देन हैं। आपने भी पखावज-वादन रास से ही आरंभ किया था। तबला-वादको मे आनद जी तबलची बडे प्रसिद्ध हो गये हैं, उनके हाथ मे विशेष चमत्कार था। करहला के मदनलाल जी की भी तबला-वादन में अच्छी ख्याति है। आजकल आप रास मडली छोडकर कलकत्ता के एक मदिर में कीर्तन सेवा में योग दे रहे हैं। रास के वर्तमान पखावजियों में मडोई गाव के नत्थीलाल तथा धर्मसिघा के तोताराम जी ही पुरानी परपरा के प्रतिनिधि हैं।

घन वाद्य : रास के घन वाद्यो मे झाझ प्रमुख है। झाझ वादन से नृत्यो में विशेष चमत्कार आ जाता है। झाझ छोटे-बडे कई आकार के होते हैं परन्तु रास में बहुत बडे आकार के झाझो का प्रयोग नही होता। रास में बजने वाले झाझ प्राय. ८-१० अगुल के आकार के होते है जो मध्य में स्तनो के समान बाहर की ओर लगभग दो अगुल उठे होते है। इनके मध्य मे निकली डोरी में कपडा बाध कर उन्हे हाथ की मुट्ठी मे पकडने योग्य बना लिया जाता है। यह दोनो हाथो से एक-दूसरे पर प्रहार करके बजाये जाते हैं। पहले रास में किगरी या किन्नरी भी बहुत प्रचलित थी, परतु आजकल उसके किसी भी मडली में दर्शन नही होते। वह हमारे देखते-देखते ही रास मे उठ गई है।

४
रासमंच और अभिनय

ब्रजलीलाओं के अभिनय की परपरा

ब्रज के वर्तमान रासमच पर जहा नित्य रास मे नृत्य और सगीत प्रधान है, वहा नित्य रास के अनतर होने वाली भगवान कृष्ण की ब्रजलीलाओ मे नृत्य और गायन के साथ-साथ अभिनय भी महत्वपूर्ण हो उठता है। इस अभिनय परपरा की विशेषता यह है कि रास का अभिनय शुद्ध भारतीय नाट्य सिद्धातो पर आधारित है और उसमे सस्कृत की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परपराओ का अपनी विशिष्टताओ के साथ समन्वय दृष्टिगोचर होता है। भगवान कृष्ण की ब्रजलीलाओ के अभिनय की यह परपरा, जिसका वर्तमान ब्रज का रास रगमच प्रतिनिधित्व करता है, बडी प्राचीन और प्रागैतिहासिक है।

वर्तमान ब्रजरास मे अभिनय तत्त्व के विकास का श्रेय श्री नारायण भट्ट को है। हम पहले ही कह चुके हैं कि भक्ति-युग मे रास के साथ ब्रजलीलाओ का प्रचलन श्री नारायण भट्ट ने किया था और इन लीलाओ से ही रास मे अभिनय-तत्त्व का विकास हुआ है। इसीलिए भट्ट जी के वंशज गोस्वामी जानकी प्रसाद भट्ट ने अपने ग्रथ 'नारायण भट्ट चरितामृत' मे कहा है कि रास के इस नाट्य-रूप के प्रकट करने के लिए स्वय भगवान की आज्ञा से नारद जी ने नारायण भट्ट के रूप मे शरीर धारण किया था। भगवान का आदेश था कि :

"सर्व लीलानुकरण, कर्तव्यं मे प्रयत्नतः।
यस्या तिथौ यद्दक्ष स्यात, लीलाकाले ममानद्य ॥"[1]

और इस आदेश का अक्षरश· पालन श्री नारायण भट्ट ने अपने जीवन काल मे किया। 'नारायण भट्ट चरितामृत' के अनुसार ब्रज मे आकर :

अथ नारायणाचार्य श्रीकृष्णाज्ञाप्रणोदितः।
ब्राह्मणं सुन्दरं वाल कृष्णवेष विधाय च ॥ (१८)

१. 'नारायणभट्ट चरितामृतम्', प्रकाशक वावा कृष्णदास, पृ० ७२, श्लोक ४४।

राधा वेप तथाचैक गोपवेपास्तथापरान् ।
रासलीला स सर्वत्र कारयामास दीक्षित. ॥ (१२९)

श्री नारायण भट्ट ने आरंभ मे जो रासलीलाएं की उनका वर्णन इस ग्रथ मे निम्न प्रकार है :

कुत्रचित् गोप वेषेन गोवत्सान् चारयन् हरिः ।
तथा लीला च कृतवान् कालीयदमनादिजाम् ॥ (१३१)
साझिकारचन क्वपि राधा गोपीभिखेच ।
अन्या बहुविधा लीलाया, या कृष्णश्चकारहा ॥ (१३२)

इस प्रकार रासलीलाओ का श्रीगणेश इस ग्रथ के अनुसार गोचारण, कालियदमन, साझी, तथा दान और मान जैसी लीलाओ मे हुआ। इन सभी लीलाओ की कथा और वातावरण सभी कुछ पूर्णत. लोक-जीवन मे सटा हुआ है। ब्रज के रासमच ने ब्रज की लोकधर्मी नाट्य परपरा का व्यापक रूप से प्रतिनिधित्व किया है। ब्रज के इस रासमच के नेता या नायक गोप कुमार श्रीकृष्ण हैं, जो लोकनायक भी है। कृष्ण कारागृह मे जन्म लेते हैं, गोपो की वस्ती मे विभिन्न कठिनाइयो को झेलते हुए विकसित होते है। वे घोप वस्ती के लाड, प्यार, रार, घात-प्रतिघात सभी मे ब्रज के लोकनायक के रूप मे विद्यमान रहते हैं तथा अत मे सव उत्पातो के मूल कारण कस को मार देते हैं। कस की मृत्यु के साथ जैसे ही उनका सवंध लोक-जीवन से टूट कर राजसी जीवन से जुडता है रास की कथा वही विश्राम करने लग जाती है। अत कृष्ण का शुद्ध लोक-जीवन से सवद्ध रूप ही रास को मान्य रहा है। रास-मच पर ब्रज के 'वन, पर्वत, नदी, गोप, गाय, तडाग, घोप जीवन, लोक-सस्कृति सभी का यथा प्रसंग चित्रण होता है। ऐसी दशा मे अपनी कथावस्तु और नायक के आधार पर रास पूर्णत लोकधर्मी मच है।

लोकधर्मी स्वरूप

रास जब उदित हुआ था उस समय ब्रजभापा इस देश की सास्कृतिक भापा की भूमिका सपादन कर रही थी। साथ ही साथ वह कृष्ण के लोक-जीवन के क्षेत्र शूरसेन जनपद की भापा थी, अतः रास के सवादो मे भी उसे ही मान्यता मिली थी और रास ने उसके सुसंस्कृत गद्य रूप को विकसित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निवाही, परतु आज तो ब्रजभापा एक जनपदीय भापा मात्र रह गई है अत भापा की दृष्टि से रास भी अब एक लोकधर्मी मच ही है, परंतु ब्रजभापा के जनपदीय रूप के प्रति आज भी पूरे देश का अनुराग यथावत् बना हुआ है और उनके मिठलौने स्वरूप का आकर्षण रासमच के लिए एक सजीवनी

बूटी सिद्ध हुआ है। ब्रजभाषा की मधुरिमा का ही यह प्रसाद है कि रास लोकधर्मी होते हुए भी केवल जनपदीय लोकमंच नही। आज भी रास के रसिक पूरे उत्तर भारत के साथ-साथ गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण तक विद्यमान है। ब्रजभाषा के आकर्षण ने ही रास को एक विशिष्ट भारतीय मच बनाये रखने मे योग दिया है। यदि आज रास ब्रजभाषा को छोड दे और उसके सवाद खडी बोली मे होने लगे तो निश्चय ही वह अपनी लोकप्रियता खो देगा। हा, रासमच पर कसादि जैसे हेय समझे जाने व्यक्तियो की भाषा कभी-कभी खडी बोली भी (और अब उर्दू) होती है। उसे इस मंच पर अधम लोगो की बोली के रूप मे स्थान मिला है।

भरत मुनि ने लोकधर्मी रूपक (नाट्य उपरूपक) की जिन विशेषताओ का उल्लेख किया है रास उन सभी से अभिमडित है। ब्रज के रगमच की विशेषता यह है कि उसमे ब्रज की लोक-सस्कृति पूरी तरह से बोलती है। ब्रजवासियो के चक्क भोजन, सरल स्वभाव, गोपालन वृत्ति, विनोदप्रियता, सरल जीवन की छटा रासलीलाओ के अभिनय मे स्थल-स्थल पर उभरती है। ब्रज के मध्यकालीन जीवन के सस्कार रासलीलाओ मे पूरी तरह साकार हैं। रास का पात्र मनसुखा, सस्कृत नाटको के विदूषक का जहा रास मे सफल प्रतिनिधित्व करता है वहां वह एक सहज और सरल अल्हड मस्त ब्रजवासी की भूमिका भी बड़ी खूबी से संपन्न करता है। रासमच पर ब्रजनागरी उसे सहज मे ही बुद्धू बनाकर दर्शको के मनोरंजन और हास-परिहास की सुदर स्थितिया उत्पन्न कर देती हैं। मनसुखा कृष्ण का अनन्य सखा है और वह पूरी तरह कृष्ण को ही समर्पित है। वह बुद्धू रहकर भी प्रकाड पडित है और कभी-कभी वह दार्शनिक व्याख्यान भी अपने वार्तालाप मे प्रस्तुत करता है परतु रासमच पर कदाचित उसने अपनी बुद्धि को भी कृष्णार्पण ही कर दिया है, यही उसकी विशेषता है।

रासलीलाओ की कथा प्राय. हमारे पुराण ग्रथो से गृहीत है जिसका ब्रजभाषा के कवियो ने भक्ति-युग मे अपनी-अपनी भावनाओ के अनुसार खुलकर विकास और प्रचार किया। इसलिए रास के सभी कथानक प्रसिद्ध लोकनायक कृष्ण के क्रियाकलापो और लोक प्रसिद्ध आख्यानो पर आधारित है। साथ ही रास के अभिनय मे सर्वत्र ही स्वाभाविकता की एक अद्‌भुत आभा विद्यमान है जो मूलतः लोक-जीवन से गृहीत है। इसमे पात्रो का आना, जाना, उठना-बैठना, हसना-बोलना, मरना-मारना सब सहज स्वाभाविक रूप मे उसी प्रकार होता है जैसा कि हम उसे प्रत्यक्ष जीवन मे देखते हैं। रास मे नाटकीय परंपराओं, नियमो या अभिनय के मान्य सिद्धातो का रूढिगत रूप मे परिपालन नही होता। इस दृष्टि से भी यह एक शुद्ध लोकधर्मी नाट्य मच है। हा रास ने

अभिनय के क्षेत्र मे कुछ अपनी परपराएं अवश्य स्थापित की हैं, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

रास के रस

जहा तक रस और रस के सहयोगी स्थायी तथा अन्य भाव, विभावो और अनुभावो की वात है वह भी रास मे वास्तविक जीवन से ही आते हैं। वात्सल्य, शृगार (सयोग और वियोग दोनो ही) भक्ति, हास्य, करुण और शात-रस शास्त्रीय दृष्टि मे रास के मुख्य रस हैं। वीर रस का भी राम-लीलाओ मे नाम मात्र के लिए समावेश होता है, परतु यहा वह उभर नही पाता। कस का कोई असुर जव कृष्ण के वध के लिए भेजा जाता है तो राम मे वह भयानक रस की अवतारणा न करके रास दर्शको के मन मे स्मित हास्य की ही सृष्टि करता है जो उसके मरने के समय अट्टहास वनकर मुखरित हो उठती है। रास की अनेक लीलाओ मे कंस खलनायक के रूप मे आता है परतु वहा भी वीर या रौद्र रूप उभर नही पाता। रासमच पर कंस एक चाटुकारिता-प्रिय मूर्ख नरेश के रूप मे ही चित्रित होता है जो हास्य का ही पात्र अधिक है। कदाचित् कस को यह रूप इस मच के निर्माताओ के भक्ति भाव के अतिरेक के कारण प्राप्त हुआ है क्योकि उनका उद्देश्य चरित्र को भी लीला के रूप मे ही प्रस्तुत करना था, परतु हमारे मत से इस भावना से रास के कलात्मक स्तर को आघात पहुचा है और कृष्ण के शक्ति-संपन्न पौरुप का उभार रास मे पूरी तरह नही हो पाता। कस और उसके असुरो के साथ भगवान कृष्ण का युद्ध मानो वीर रस को शात रस का उद्दीपक बनाने की एक चेष्टा हो ऐसा भासित होता है। मरते समय असुरो की ऐंडी-बेंड़ी उक्ति और हाव-भाव प्राय हास्य की ही सृष्टि कर देते हैं। किसी भी राक्षस के मरते ही दर्शक पुकार उठते हैं—'बोल लाडिली लाल की जैं'। इस प्रकार वीर रस, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक जैसे रसो का वर्तमान रास मे अभाव ही है।

शृगार और वात्सल्य के विविध रूपो का जैसा उभार और विकास रासमच पर सभव है वैसा श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नाटको मे भी कठिन है। वास्तव मे रास के मुख्य रस यही हैं और उनके सहयोगी रस के रूप मे हास्य आदि रसो का रासमच पर समावेश होता है, परतु रासमच से उद्भूत शृगार रस लौकिक नाटको के रस से सर्वथा भिन्न और उच्चकोटि का है। इस मंच पर मानो सव रसो की चरम परिणति भक्ति और शात रस मे आभासित होती प्रतीत होती है, यह इस मच की अलौकिक दिव्यता और विशेषता है, जो इसे लोकधर्मी नाट्य से कही ऊपर उठा देती है। रास मे भक्ति, आस्था और समर्पण की जो एक अलौकिक दिव्यता की अनुभूति दर्शक को मिलती है वह

अवर्णनीय, अनुपम और अलौकिक है। यह अनुभूति किसी अन्य लोकधर्मी नाट्य तो क्या अच्छे-अच्छे नाटको मे भी प्राप्त नही होती। रास की यह एक ऐसी विशेषता है जिसने इस लोकधर्मी नाट्य को अलौकिक बना दिया है और इसकी इसी विशेषता के कारण बड़े-बडे सत, महंत, राजमुकुट, विचारक और दार्शनिक भी इस मंच को सदैव श्रद्धापूर्वक नमन करते आये हैं और आगे भी करते रहेंगे।

संस्कृत-नाटक और रास

लोकधर्मी नाट्य होते हुए भी रास अपना विशिष्ट स्थान रखता है और आज वर्तमान रूप मे भी वह सस्कृत नाटक की अनेक परपराओ को अपने मे सजोये है। यदि हम रास की सस्कृत-नाटक से तुलना करें तो हमे रास और सस्कृत नाटक मे अनेक समानताओ के दर्शन होगे।

कथावस्तु : सभी विद्वान इस संबंध मे एकमत है कि हमारे सस्कृत नाटक रसोभिमुख थे—वे आज के नाटक के समान द्वंद्व प्रधान नही थे। इस दृष्टि से रास और संस्कृत-नाटक मे अद्भुत साम्य है। यदि सच पूछा जाय तो रास रसात्मकता मे संस्कृत-नाटक से भी आगे है, क्योकि रास तो है ही 'रसना समूह'। रस का पुज होने के कारण ही तो इसे रास कहा गया है। रासमच की स्थापना का उद्देश्य भी रस का आस्वादन है और यही कारण है कि रास के कथानको को 'लीला' कहा गया है क्योकि लीला किसी प्रयोजन के लिए नही, वह निष्प्रयोजन होती है। इसका उद्देश्य ही सुख पाना और सुख देना है। रास का यह रस किसी भी प्रकार अपनी इस दिव्यता से च्युत न हो और लौकिक द्वद्व से दूर रहे इसीलिए भगवान कृष्ण के द्वारका के सघर्षपूर्ण जीवन को रासमच से आग्रहपूर्वक दूर रखा गया था।

रासमंच पर प्रदर्शित होने वाली अधिकाश लीलाओ की दूसरी विशेषता यह है कि वे सब स्थूल देहात्मक हलचल पर नही वरन् सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भावमूमि पर आधारित हैं। रास मे हृदय की सूक्ष्मतर भावनाओ के चित्रण से कथावस्तु का निर्माण होता है, लौकिक हलचलो से नही। उदाहरण के लिए, खडिता मानलीला मे राधा के यहा आकर कृष्ण लौट जाते हैं क्योकि मानवती राधा द्वार नही खोलती। निराश कृष्ण वशीवट पर जाकर विरह सागर मे निमग्न हो जाते हैं। इधर यह सुनते ही राधा का सारा मान गलित हो जाता है कि कृष्ण चले गये। वह एकदम विरह मे कातर हो उठती हैं। सखी उन्हे अनेक प्रकार के उपचार करके सावधान करती हैं और धैर्य दिलाती हैं, परंतु वह अपने को सम्हाल नही पाती। ऐसी स्थिति मे रासमच पर सखियो से घिरी राधा कृष्ण की चर्चा मे निमग्न कातर भाव से जब यह पद गाती हैं कि :

नींद तोहि बेचूगी आली, जो कोई गाहक होय ।
आये मोहन फिर गये अँगना, मैं वैरिन रही सोय ।।
कहा करूँ कछु वस नही मेरो, आयो धन दियो खोय ।
'लछीराम' प्रभु अबके मिलें तो राखौंगी नयन समोय ।।

तो राधा के स्वरूप की हिचकियो के साथ दर्शको की भी आखें वरसने लग जाती है ।

सस्कृत-नाटक की कथावस्तु की शैली की दृष्टि से दूसरी विशेपता यह है कि उसमे गद्य-पद्य और नृत्य की क्रियाओ का उचित समावेश रहता है । इसी कारण सस्कृत नाटक के अभिनेता के लिए शास्त्रीय नर्तक न होने पर भी नृत्य के मूलभूत अनुशासन का अनुभव आवश्यक माना गया है । इसी प्रकार सगीत का ज्ञान भी सामान्य रूप से उसके लिए आवश्यक है । रास के नृत्य भाग 'नित्य-रास' (जिसमे नृत्य व गायन प्रमुख हैं) को छोडकर यदि हम केवल रास की लीलाओ पर ही विचार करें तो उन लीलाओ के सही प्रदर्शन के लिए रास के अभिनेता को भी नृत्य और सगीत मे सस्कृत-नाटक के पात्रो से भी अधिक कुशलता की आवश्यकता है । साथ ही साथ रास के अभिनेता को संस्कृत नाटक के समान ही रास की मुद्राओ का ज्ञान और भाव-भगिमाओ का अभ्यास भी आवश्यक है क्योकि सस्कृत नाटक के समान रास मे सदा सब गीतो को गाया नही जाता । आवश्यकता के अनुसार यदि कभी उनका सस्वर पाठ होता है तो कभी वे कथोपकथन के ढंग से सवाद के रूप मे भी बोल दिये जाते है । कभी एक ही गीत को पहले पद्य मे नृत्य के समय गाकर बाद मे उसको गद्य के ढग से बोलकर अभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति कर दी जाती है । कभी-कभी एक ही पद्य-पक्ति को रास के अभिनेता अपने कंठस्वर से उतार-चढाव और भावो की विभिन्न अभिव्यक्तियो के आधार पर ८-८ या १०-१० बार दुहरा कर भी गाते है परतु उस आवृत्ति से दर्शक ऊबते नही वरन् वे कथन की उस पद्धति की नाटकीयता तथा विविधता मे स्वय विभोर होकर खो जाते हैं । हमारे विचार से संस्कृत रूपको मे भी शायद पहले यही परपरा रही होगी । इसलिए रास और सस्कृत-नाटक दोनो मे ही मचो के अभिनेता का कठस्वर सरस होना और सभापण की योग्यता साधारण मंच के अभिनेता से अपेक्षाकृत अधिक व छनीय है ।

अभिनय शैली . लोकधर्मी रूप होते हुए भी रास मे नाट्यधर्मी रूपक के अनेक तत्त्वो का समन्वय है । उदाहरण के लिए, मस्कृत नाटको के समान ही वर्तमान रास आगिक वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनय का सफल प्रति-निधित्व करता है, जिसका प्रेरणा-स्रोत उसे व्रज की रज से प्राप्त हुआ है ।

आगिक और वाचिक अभिनय

रास के अभिनय मे अग सचालन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अभिनय की भावाभिव्यक्ति के लिए रास मे उसकी अपनी मुद्राओ का प्रचलन है जिनकी चर्चा हम आगे करेगे। रास के अभिनय मे सस्कृत नाटको मे अधिक एक और विशेषता यह है कि कृष्ण के नटनागरीय व्यक्तित्व के कारण यहा अभिनय मे नृत्य का पुट देकर उसे कभी भी उभारा जा सकता है। इस प्रकार रास मे दर्शको को मोह लेने की सस्कृत नाटक से कही अधिक क्षमता है, परंतु इसका यह अर्थ नही कि लीलाओ मे नृत्य का प्रयोग अधिक करके सवादो द्वारा भावाभिव्यक्ति को रास मे गौण स्थान दिया जाता है, ऐसा कदापि नही है। रास मे रास के सवादो को बोलने का भी ढंग विशिष्ट है। यह सवाद कुछ ऐसे ढग से (रेसिटेटिव स्टाइल मे) बोले जाते है कि उनमे एक संगीतात्मकता बनी रहती है।

संस्कृत नाटक के आकाशभाषित का स्थान रास मे प्रवचन ने ग्रहण कर किया है जो सीधा दर्शको को संबोधित करता है। भगवान कृष्ण का प्रवचन रास की अपनी मौलिकता है। दस या पद्रह मिनट तक दर्शक कृष्ण के कुशल अभिनेता के इस एक पात्री भाष मे ही उलझे रहते हैं। यह परपरा रास के वाचिक अभिनय की सामर्थ्य को प्रगट करती है।

सस्कृत नाटक के समान रास मे भी यथा आवश्यकता अभिनटन का प्रयोग किया जाता है। जब कथा मे किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती है जो मंच पर प्रस्तुत नही हो सकती तब उसमे अभिनटन का आश्रय ले लिया जाता है। उदाहरण के लिए, किसी कुशल मडली की उद्धवलीला मे जब एक सखी भौरे के आने की सूचना देती है तो सभी सखिया उसी ओर अपनी गहरी दृष्टि डाल देती है जहा भौरे की स्थिति बतलाई जाती है। फिर वे सब दृष्टि एक-साथ ऐसे जमाव के साथ भयातुर मुद्रा मे मच पर इधर-उधर भटकती हैं कि दर्शक को मच पर इधर-उधर घूमते भौरे का सचमुच ही भ्रम हो जाता है। वास्तव मे ऐसी स्थितियो का सफल निर्वाह विशेष रूप से रास के उन स्वामियो की अभिनयवृत्ति और सूझ-बूझ पर निर्भर करता है जो इन स्वरूपो को प्रशिक्षित करते हैं। रास के आगिक अभिनय मे हस्तमुद्राओ, नेत्र सचालन, ग्रीव सचालन, भ्रकुटिपात, मृदु मुस्कान आदि लोकधर्मी मुद्राओ का सहज और स्वाभाविक प्रयोग अभिनय मे बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का सपादन करता है। रास के सवादो में अभिधा के साथ लक्षणा और व्यजना शक्तियो का भी पूरा प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, रास मे जब मनसुखा जी आकर अपनी अटपटी चाल से गोपियो के बीच मे खडे हो जाते है और कृष्ण सबधी चर्चा चलने पर

गोपी अभिधा में पूछती हैं कि गोपाल कहा हैं तो मनसुखा जी स्वय अपने को ही गोपाल सिद्ध करते हुए कहते हैं कि 'जो गाय पालै सो गोपाल', 'तेरे गुपाल में का कोई सुरखाव के पर लगे हैं सखी ।' यह सुनकर सव दर्शक उनकी इस उक्ति पर मुग्ध हो जाते हैं। अपने को गोपाल वतलाकर वे सब गोपियो से माखन खिलाने की मनुहार करते है तो सस्कृत नाटक का विदूषक नेत्रो के सामने नाचने लगता है ।

रास में समाजियो का जो महत्वपूर्ण योगदान है वह भी वाचिक अभिनय के अंतर्गत ही माना जायेगा। यह समाजी रास के सूत्रधार, निर्देशक और सहायक तो हैं ही, साथ ही वे उसके प्रमुख गायक व वादक भी हैं।

समाजी की परपरा

साहित्य-शास्त्र में 'सामाजिक' उन सहृदय व्यक्तियो को कहा गया है जिनको अनुकरण से सहानुभूति होती है। 'सामाजिक' शब्द एक प्रकार से रसिक का ही पर्यायवाची है । रास में प्रिया प्रियतम को नेत्रो के समक्ष नृत्य करते देख कर जव स्वामी हरिदास जी और हरिवंश जी जैसे भक्ति भावना मे परिपूर्ण भावुक गायक आत्म-विस्मृत होकर गायन करते होंगे तो वे रास के एक पात्र के समान ही स्वय भी रासमच के एक अग ही बन जाते होगे। इसलिए रास ने रसिको को 'सामाजिक' की उपाधि से विभूपित किया और वही 'सामाजिक' शब्द वाद मे 'समाजी' होकर रास के गायको के लिए रूढ हो गया । राधा-वल्लभीय सप्रदाय और हरिदासी सप्रदाय मे आज भी मदिरो मे पर्वों और उत्सवो पर आयोजित सगीत को 'समाज' और इस सगीत के गायको को 'समाजी' कहा जाता है । इससे भी यही प्रगट होता है कि रास मे 'समाजी' की प्रतिष्ठा वृदावन की रस-भक्ति के आचार्यों की ही देन है और उन्ही से रास को यह 'समाजी' शब्द भी मिला है। वृदावन-भक्ति से ही रास रगमच ने समाजी को ग्रहण किया और उसको रास मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया ।

समाजी की महत्ता

रासमच के लिए 'समाज-संगीत' की यह व्यवस्था वास्तव मे एक संजीवनी बूटी ही सिद्ध हुई है । उसने रास को वहुत शक्तिशाली वनाया है । रास मे 'समाज-सगीत' की भव्य संयोजना है। प्राचीन सस्कृत-युग मे ग्राथिक जो भूमिका प्रस्तुत करते थे वर्तमान रास मे समाजी उसी के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं। इस समाजी की जो विशेपताएं हैं उन्हे मोटे रूप मे इस प्रकार समझा जा सकता है :

(१) रास का समाजी रास के मंच पर आरंभ से अंत तक उसके सूत्र-
ार का कार्य करता है और कथा की कडी को जोडे रखने के साथ-साथ वह
ंकों के ध्यान को इधर से उधर भटकने का अवसर नही देता। रासारंभ के
र्व समाजी वंदना गाकर रास के अनुकूल वातावरण तैयार करते है। रास मे
ब कथा का क्रम बदलता है तो वह तदनुरूप पद गायन करके इसका संकेत
रते है और बिना ही किन्ही पर्दो या पटाक्षेप के बडी स्वाभाविकता से गायन
ारा ही दृश्य परिवर्तन कर देने की सामर्थ्य रखते हैं। रास मे दृश्य परिवर्तन
ी यह शैली अन्य मंचीय परंपराओ से कही अधिक स्वाभाविक और सहज ही
दयगम्य है। इसके साथ ही रास के समाजी अवसर के अनुरूप रागो के गायन
ारा आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण करते है तथा मंच की दृश्य-वर्णना ललित
ठ से करके वे रास मे दृश्य-बंध (सैटिंग) के अभाव की भी संगीत और
ाहित्य के माध्यम से पूर्ति करते हैं।

(२) सूत्रधार होने के साथ-साथ समाजी रास के निर्देशक भी होते है।
रास के पात्रो के कही भी भटक जाने पर तुरत स्थिति को यथास्थान संभा-
ने तथा नियंत्रित करने की भी अपूर्व क्षमता रखते हैं। आंखो ही आंखो मे
ास के स्वरूपो को उनकी भूल का ज्ञान कराने मे वह पारंगत होते है। प्राय
र्शक को ऐसी अनेक भूलो का अनुमान भी नही हो पाता और वे समाजी और
्वरूपो की आंखो ही आंखो मे संभल जाती हैं।

गाते समय यदि कोई स्वरूप बेसुरा हो जाए या कुछ गलत गा जाए
थवा भूल जाए तो समाजी तुरत ही गायन के उस अंश को स्वयं बीच मे से
ी टीप मे गाकर दुहराने लगते हैं और गायन की आवृत्ति पूर्ण होते-होते पात्र
ुरत अपने को संभाल लेता है। इसी प्रकार संवाद बोलने मे यदि कोई पात्र
ुछ गलत बोल जाय या भूल जाय तो समाजी तुरंत कहते है, 'बलिहारी महा-
ाज' या 'जै-जै' ऐसा करने से दर्शक का ध्यान पात्र से हटकर समाजी की ओर
ाकृष्ट हो जाता है। वह समझता है, शायद कोई महत्वपूर्ण बात हुई है और
सलिए स्वामी जी भाव-विभोर हुए ऐसे कह रहे है, परंतु स्वरूप तुरत सही
र्थ को हृदयंगम करके अपने को सुधार लेता है। कभी-कभी इस संकेत को
ाकर स्वरूप को क्या करना है यदि यह उसकी समझ मे नही आता तो वह
्वामी जी' की ओर देखता है तब स्वामी जी ओठो ही ओठो मे उसको अपना
भिप्राय समझा देते हैं।

(३) रास मे समाजी का एक तीसरा महत्वपूर्ण कार्य है, मंच का नियंत्रण
जसमे नाटकीय स्थितियो के कारण मंच पर होने वाले समय के व्यवधान का
ाभास भी दर्शको को न हो और वे यथावत मंच की ओर ही आकर्षित रहे,
सकी व्यवस्था भी सम्मिलित है। यह कार्य भी समाजी अपने गायन द्वारा

ही सपन्न करते हैं। कभी-कभी जब पर्दा डालकर अदर कोई झाकी सजाई जाती है और वह ठीक समय पर तैयार नही हो पाती और पर्दा खुलने मे विलब होता है, अथवा कभी कोई पात्र शृंगार मे देर कर देता है और समय पर मच पर नही पहुच पाता तो ऐसे अवसरो पर भी यह समाजी मच को खाली नही छोडते। वे उस समय किसी सामयिक पद के गायन द्वारा आगामी दृश्य का वर्णन या लीला के वातावरण का चित्रण करना आरभ कर देते हैं। यदि समयोपयोगी कोई पद भी याद न हो तो ऐसे अवसर पर वे कभी किसी कीर्तन के द्वारा या कभी लडीबद नीति या भक्ति-संबधी पद-गायन के द्वारा अथवा कभी आगे आने वाली कथा की भूमिका की पक्तियो को ही बार-बार गाकर दर्शको को अपनी ओर आकृष्ट किए रहते है और उन्हे मच की रिक्तता नही खलने देते। नित्य-रास के बाद जब स्वरूप विश्राम करते है और लीला आरभ होने मे कुछ विलब लगता है तब भी ये समाजी अपने गायन के द्वारा उस रिक्तता को भरते है।

(४) इसके साथ-साथ समाजी स्वरूपो के गाये हुए पदो और गायनो को साथ-साथ दुहराने का काम करके अभिनेता को विश्राम भी देते हैं। वैसे भी गीतो के बोलो को आमने-सामने से बराबर दुहरा कर गाने से उसकी प्रभावोत्पादकता तथा नाटकीयता मे वृद्धि होती है।

(५) समाजी रास के रस की भी प्रतिष्ठा करते हैं। कृष्ण राधा के समक्ष जिस हरिदासी हरिवशी परपरा से वे श्रद्धा भक्ति पूर्ण आचरण करते हैं, उससे भक्ति रस की प्रतिष्ठा मे सहायता मिलती है और अनुशासन बढता है।

इस प्रकार रास के यह समाजी रास के प्रदर्शन के सबसे प्रधान अंग हैं। यदि समाजी योग्य है तो वह रास के स्तर को स्वरूपो के कमजोर होने पर भी दुगुना करके दिखा सकता है। रास का समाजी सस्कृत के सूत्रधार से अनेक रूपो मे बहुत आगे है।

पता नही जब वृंदावन के रसिको ने रास को यह समाजी प्रदान किया तो उन्हे उसकी ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका का पूर्वाभास था या नही, परतु आज तो समाजी ही रासमच की वह धुरी है जिस पर रास का समस्त ताना-बाना स्थित है। यदि मूल को टटोला जाय तो समाजी ही रास का सर्वस्व है, क्योकि जहा एक ओर वह रास का सूत्रधार है वहा दूसरी ओर वह उसका अभिनेता और निर्देशक भी है। यही नही, इस समाजी की एक सबसे विचित्र स्थिति यह है कि वह जहा रास का एक अभिनेता है वहा साथ ही साथ उसी समय वह रास का सबसे अधिक जागरूक दर्शक भी है। रास के प्रत्येक कार्यकलाप और व्यवस्था पर उसकी दृष्टि रहती है। रास मे अपनी भूमिका से जहा वह दर्शको को आनद देता है, वहा अपने नेत्रो के ही सामने होने वाले रास के स्वरूपो के

अभिनय से वह स्वय भी आनदित होता है। रास मे किसी मार्मिक प्रसंग के उपस्थित होने पर जव रसोद्रेक मे समाजी (या रास के भी) की आखें छलछला आती हैं और कठ रुध जाने पर रास का प्रधान समाजी (जो प्रायः मडली का मालिक या प्रमुख होता है और स्वामी जी कहलाता है) भरे गले से गाता है तो रास के दर्शको के नेत्र भी वरस पडते हैं।

इन महत्वपूर्ण भूमिकाओ का अधिष्ठाता यह समाजी अभिनेता और दर्शक के वीच की एक महत्वपूर्ण कडी भी है। प्रदर्शन के समय जहां एक ओर वह स्वरूपो का मार्गदर्शन व नियत्रण करता है वहा दर्शको मे व्यवस्था व अनुशासन वनाये रखना भी उसी का काम होता है, जिसे वह खूवी से गायन के द्वारा तो करता ही है आवश्यक होने पर किसी दर्शक को झिडक देना या कभी रास के वीच मे खडे होकर दर्शको को कुछ सुझा देना भी उसी का कार्य है क्योकि वही इस मच का व्यवस्थापक होता है।

आहार्य अभिनय : सस्कृत नाटक के समान ही रास अभिनेता-प्रधान रगमंच है। इस कारण अभिनेता के व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के लिए रूप-सज्जा, वेशसज्जा व स्वाभाविक मचीय उपकरणो को रास मे उचित महत्व दिया गया है। रास मे सिंहासन एक अनिवार्य अग है जो झाकी खुलने के समय से अंत तक स्थितियो के अनुसार रास की कथा के विकास के विभिन्न रूपो मे प्राय हाथ से लगाये गए पर्दे का सहयोगी वना रहता है। इसके अतिरिक्त रामलीलाओ मे वृक्षो, गमलो, पुष्पो आदि का पूरा उपयोग किया जाता है। लीला की आवश्यकता के अनुसार माखन, दधि की गगरी, मथानी आदि भी रासलीला मे काम आते हैं परतु जैसा पहले कहा गया है जो स्थितिया या वस्तु मच पर नही आ सकती उनके स्थान पर अभिनटन से काम चलाया जाता है। रास की वेशभूषा को चटकदार और बहुरंगी वनाया जाता है जिससे वातावरण मे वे अधिक नाटकीयता की सृष्टि कर सकें। रास मे प्राय. एक बार एक पात्र जो वस्त्र पहन लेता है उसे वह पूरी भूमिका मे धारण किए रहता है। कभी-कभी कथा की आवश्यकता के अनुसार वेश परिवर्तन की परपरा अपनाई जाती है। उदाहरण के लिए, जव भगवान कृष्ण छद्मलीलाओ मे गोपी-वेश धारण करते है तो उनके मुकुट के ऊपर कपडा वाध दिया जाता है और कटिकाछनी के ऊपर साडी वाध दी जाती है जो क्षण भर मे ही छद्म के समाप्त होने पर मच पर ही स्वय अभिनेता द्वारा खोल दी जाती है और वह अपने मूल रूप मे आ जाता है। हमारे विचार से आहार्य अभिनय की दृष्टि से रास और सस्कृत नाटक मे पूर्णतः साम्य है।

सात्विक अभिनय : रास मे सात्विक भावो का विकास चरमोत्कर्ष पर देखा जा सकता है। अक्रूर लीला या उद्धव लीला मे कृष्ण के वियोग का प्रसग

आने पर पात्रो की आखो के छलकते अश्रु दर्शको की भी हूकरी वधा देते हैं। सात्विक भावो का पूर्णत आस्वाद करके कृष्ण चरित की साक्षात अनुभूति प्राप्त करना ही रास के मच की स्थापना का उद्देश्य था, इसलिए सात्विकता को तो रास की आत्मा ही माना जाना चाहिए। रास मे ऐसी अनेक घटनाए बराबर होती रही है जब रास के दर्शक रास देखते-देखते ही कृष्ण के प्यारे हो गए हैं। लछमन स्वामी जी ने अपने रास मे घटी एक पजाब की ऐसी ही प्रत्यक्ष घटना का वर्णन हमे सुनाया था। 'भक्तमाल' मे भी ऐसे कई प्राचीन उल्लेख है जिनका विवरण हम पहले दे चुके हैं।

श्री रामस्वरूप जी रासधारी ने वृदावन मे प्रचलित एक अनुश्रुति हमे सुनाई जिसके अनुसार स्वामी हरिदास जी भी रास देखते-देखते ही कृष्णलीला मे निमग्न हो गए थे। उनका कहना था कि एक बार वृदावन मे जब महारास हो रहा था तो महादेव जी के वेश मे आने वाले पात्र को कथा के प्रसंग के अनुसार ललिता सखी ने रास से बाहर ही रोकने का उपक्रम किया। यह देख कर महादेव बनने वाले पात्र ने स्वामी हरिदास जी से जो स्वय समाजी के रूप मे रास मे सम्मिलित थे, कहा कि, "महाराज, आप तो साक्षात् ललिता सखी के अवतार है। क्या आपके रहते भी हम रास दर्शन से वचित रहेगे।" यह सुनते ही स्वामी जी को सखी भाव का आवेश हो आया और उन्होने महादेव जी को रास मे प्रवेश की अनुमति देकर स्वयं भगवान रासविहारी के नयनो मे नयन डालकर शरीर त्याग दिया।

परतु स्वामी हरिदास जी के शरीर-त्याग का यह प्रसग किसी प्राचीन ग्रंथ मे हमे दृष्टिगोचर नही हुआ। स्वामी जी के शिष्य विट्ठल विपुल के रास मे शरीर-त्याग का उल्लेख तो 'भक्तमाल' मे हुआ है।

मंच : सस्कृत नाटको की रगशाला मे तीन प्रकार के मचो की स्थिति प्रकट होती है (१) विकृष्ट, (२) चतुरस्त्र, (३) त्रयस्त्र। परतु हमारा रास का मच इनको स्वीकार नही करता। भक्ति युग मे के रास ब्रज मे सैकडो पक्के मच बनाए गए थे, वे सब मडलाकार है जिनके एक सिरे पर सामने के भाग मे दो सीढियो का या तीन सीढियो का एक पक्का सिहासन बनाया जाता था। यह मडलाकार मच रास के मडलाकार नृत्य-प्रधान रूप की अभिव्यक्ति के साथ-साथ ब्रज के मडलाकार रूप की ओर भी प्रतीकात्मक रूप से सकेत करता है, क्योकि रास ब्रज-सस्कृति का सदेशवाहक मच है, परतु रास का यह मडलाकार मच भी सस्कृत के नाटको के चतुरस्त्र मच का ही एक परिर्वतित रूपातर है। अतर यही है कि सस्कृत के चौकोर मच ने यहा मंडलाकार रूप धारण कर लिया है। हो सकता है कि शायद सस्कृत नाटको मे भी बाद मे इस मडलाकार मच की महत्ता मान्य हो गई हो। श्री हबीब तनवीर ने 'मृच्छकटिक'

का जो रूपातर १९५२ मे 'मिट्टी की गाडी' के नाम से किया उसको प्रस्तुत करने मे उन्होने रास के इस मडलाकार मच का ही आश्रय लिया था। इस सबध मे उनका कथन है, "यह कैसे सभव है कि चारुदत्त हमारी आखो से एक पल भी ओझल हुए बिना पहले वसतसेना से अपने घर के भीतर बात करता हुआ दिखाई पडे, फिर अगले क्षण ही उसके साथ सडक पर जाता हुआ और फिर वसतसेना को घर पहुंचाता हुआ। इसलिए अत मे मैंने अपने दृश्यबध के लिए लोक रंगमच मे प्रचलित एक सादा गोलाकार चबूतरा निश्चित किया, क्योकि नाटक की सारी गतिया गोलाकार ही हैं।"[1]

बात यह है कि रास या सस्कृत नाटक दोनो ही अवति का बधन नही मानते, इसीलिए वहा घटना-स्थल बदलते रहते है। रास मे समाजियो के गायन द्वारा स्थल परिवर्तन की सूचना सहज ही दी जा सकती है। सस्कृत नाटको मे भी वातावरण की सृष्टि काव्य द्वारा करने का विधान अवश्य रहा होगा, जिसके कारण वही एक मच थोडे से आहार्य अभिनय से हर परिस्थिति मे नया रूप धारण करने की सामर्थ्य रखता होगा। सस्कृत नाटको मे यह सब कैसे होता था इसका प्रत्यक्ष दर्शन रास में विभिन्न नाटकीय स्थितियो के अध्ययन से सहज में ही किया जा सकता है।

इस प्रकार रास के रगमच मे आज भी सस्कृत नाटको के प्रदर्शन की पूरी शैली समाहित है। यदि रास की नाटकीयता का अध्ययन करके हमारे नाट्य-निर्देशक सस्कृत नाटको के प्रदर्शन सूत्र खोजे तो यहा उनकी अधिकाश समस्याओ का समाधान हो सकता है। उन निर्देशको को जो सस्कृत नाटक के स्वरूप को समझने के लिए 'कुडिअट्टम' और 'कच्चीपुडी' की शरण मे जाते हैं, रास की जीवित और जाग्रत नाट्य परंपरा को निकट से देखना और समझना चाहिए।

सस्कृत नाटक और रास की अभिनय पद्धति मे वास्तव मे अधिक अतर नही है। हा, इन दोनो विधाओ मे प्रदर्शन के कुछ शैलीगत भेद अवश्य है जो मोटे रूप मे इस प्रकार हैं :

(१) रास मे सस्कृत नाटक के समान नादीपाठ नही होता। यहा रग-शीर्ष मे भरत के कथनानुसार इद्र का ध्वजस्तभ भी स्थापित नही होता और न नट-नटी की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि रास मे राधा-कृष्ण ही सर्वोपरि है। उनका मगलाचरण ही यहा रासारभ मे समाजियो द्वारा होता है और वे ही नट-नटी या सूत्रधार के कामो को भी पूरा कर देते है।

(२) सस्कृत नाटको के समान रास मे अक विधान तथा कथानक

1. नटरग वर्ष १, अक १, पृष्ठ १२।

मे विष्कंभक, प्रवेशक या प्रकरी, पताका आदि की आवश्यकता नही होती क्योकि रास भगवान कृष्ण की केवल एक लीला का ही एक बार मे प्रदर्शन करता है। इस कथा के साथ किसी सहायक कथा या अंतर्कथा की भी कोई आवश्यकता नही रह जाती। कृष्ण की यह एक लीला भी एक ही रस से समाविष्ट प्राय: एक ही दिन की घटना होती है। इस दृष्टि से रास पाश्चात्य संकलन-त्रय के सिद्धात के अधिक निकट है क्योकि रासलीलाए पृथक-पृथक रूप मे एक-एक एकाकी नाटक हैं। ऐसी दशा मे हम यदि रास को संस्कृत नाटक का एकाकी रूप कहे तो अधिक उचित होगा।

(३) रास के समाजियो की भूमिका सस्कृत नाटको के गायको और वादको से अधिक महत्वपूर्ण है। गायन और वादन के साथ यह समाजी सूत्र-धार की भूमिका का सपादन भी करते हैं जो रास की अपनी विशेषता है। रास के इस ढंग ने उसकी प्रदर्शन पद्धति को संस्कृत नाटको की अपेक्षा अधिक सुगम बना दिया है, परतु शैलीगत इन भेदो का अधिक महत्व नही है। सस्कृत नाटक और रास की अभिनय शैली लगभग एक जैसी ही है, उनमे जो एक अनोखा साम्य है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत मे रास ही वह जीवित और जाग्रत मच है जो सस्कृत नाटक की परपराओ का आज भी समर्थ प्रतिनिधि है। उसने अपना कलेवर लोकधर्मी और नाट्यधर्मी प्राचीन परपराओ से निर्मित किया है। ब्रज का वर्तमान रासमच यदि सच पूछा जाय तो सस्कृत की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनो ही परपराओ का समन्वित स्वरूप है, परंतु अभिनय के क्षेत्र मे स्वय रास की कुछ अपनी विशिष्टताए भी हैं जिनमे उसकी अपनी मौलिकता समाहित है।

रासलीलाओ का नाटकीय स्वरूप

नाटकीय स्वरूप की दृष्टि से रासलीला नाटको पर यदि विचार किया जाय तो हम उन्हे एकाकी नाटक की कोटि मे पाते हैं। रास की समस्त लीलाए यदि एकसाथ मिलाकर की जा सकें तो वह सब मिलकर अपने समग्र रूप मे एक महानाटक के रूप मे सूत्रबद्ध की जा सकती है, परतु प्रत्येक लीला जिस रूप मे आज विद्यमान हैं वह अपने आप मे एक पूर्ण एकाकी ही है। यह सब मिल कर निश्चय ही महानाटक है क्योकि नाटक का वर्तमान स्वरूप कृष्ण की इन विस्तृत ब्रजलीलाओ को अपनी सीमा मे आत्मसात करने की सामर्थ्य और क्षमता नही रखता।

रास की प्रत्येक लीला अपने आप मे एक नृत्यगीत-प्रधान एकाकी है कारण कि रास मे एक समय मे प्राय एक दिन या समय की (कृष्ण के ब्रज जीवन की) कोई एक ही लीला प्रस्तुत की जाती है। हा, यदि लीला बहुत ही

छोटी हो जैसे 'हाऊ लीला' या 'पुरातन कथा लीला' (जो सूरदास जी के एक एक पद पर ही आधारित है) तो कभी-कभी एकसाथ दो लीलाए भी हो जाती है, परतु रास के प्रेमी कृष्ण की एक लीला को देख कर ही तृप्त नही हो पाते, इसलिए प्राय रास को कई दिन तक कराने मे रास के रसिक सदा से रुचि लेते आये है। जब कोई रासमडली देशाटन को जाती है तो प्राय रास प्रेमी उससे एक रास न कराकर एकसाथ अनेक रास कराते है। एक रास के लिए प्राय कोई भी रास मडली को बाहर नही बुलाता और न रास मडली ही जाना पसद करती है। जहा रास के अनेक प्रेमी होते हैं वहा वे सब मिलकर सामूहिक रूप से एक मास या पद्रह दिन के लिए किसी सार्वजनिक स्थल पर रास का आयोजन रख देते है और वहा नित्य रास के दर्शक निरतर नित्य नवीन लीला नाटको का प्रदर्शन देखते है। कभी-कभी तो एक स्थान पर रास-लीला कई महीनो तक भी हो जाती है।

रास के लीला नाटको पर एकाकी होते हुए भी संकलन त्रय का पाश्चात्य सिद्धात लागू नही होता, क्योकि एक ही लीला मे एक ही समय की विभिन्न स्थितियो का चित्रण और निरूपण भी आवश्यक हो सकता है। उदाहरण के लिए गो-वर्धन-लीला की कथा मे पहले कृष्ण नंद भवन मे जसोदा को पकवान बनाते देखते हैं, इसके बाद नद बाबा की अथाई पर जाकर इद्र पूजा का विरोध करते हैं तब कृष्ण के प्रस्ताव पर विचारार्थ वही गोपो की पचायत जुडती है और तब सब गोप गो-वर्धन प्रस्थान करके गिरिराज पूजा करते है। ऐसी अनेक स्थितिया रास मे आ सकती है।

रास के ये लीला नाटक केवल अपने स्वरूप मे ही नही वरन् भावभूमि मे भी पूर्णत एकाकी है। इनमे सस्कृत नाटक के समान गायन और उसके साथ ही साथ नृत्यो का भी सुदर विधान रहता है। रास को हम प्राचीन भारतीय एकाकी परपरा का वर्तमान युग मे एकमात्र जीवित नाट्यरूप कह सकते है।

कथावस्तु. रास के लीला साहित्य पर हम पहले काफी विचार कर आये हे। अत. यहा हम केवल इन लीला नाटको के नाटकीय रूप की ही चर्चा करना चाहेगे। आज के युग मे नाटक की कथा की सबसे बडी विशेषता उसका द्वद्वात्मक होना माना जाता है, परतु रास इस द्वद्व से एकदम अछूता है। जैसा हम पहले कह चुके है इसका कारण यह है कि रासलीला की कथावस्तु किसी लौकिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपना ताना-बाना नही बुनती। लीला का अर्थ ही उसका निरुद्देश्य होना है। यह केवल स्वय आनंद प्राप्त करने और दूसरो को आनद देने के लिए ही रची जाती है। ऐसी दशा मे रास की कथा मे एक सहज मथरता प्राय. विद्यमान रहती है। रार मे प्यार और प्यार मे

रार के चित्र इन कथानको मे खुलकर उभरते हैं, वे कथा को आगे बढाने के लिए अपने को सकुचित नही करते। रास मे मिलन और वियोग के चित्र मनोवैज्ञानिक भावभूमि पर खडे किए जाते है जिनमें खुलकर रस छकने और छकाने की सामर्थ्य विद्यमान है, राधा-कृष्ण का पारस्परिक परतु क्षणिक वियोग का प्रसग आने पर भी दोनो नायक-नायिकाओ के प्राणो पर बन आती है। राम की कथाएं या तो वात्सल्य रस प्रधान है या वे फिर सयोग और वियोग शृगार की है, मान लीलाओ जैसी कुछ लीलाओ में सयोग और वियोग का सहज और सरस चित्रण एकसाथ ही मिल जाता है। हास्य रस का पुट उद्दीपन के रूप में प्राय: वात्सल्य और शृगार की इन लीलाओ मे मनसुखा के रूप में विद्यमान रहता है। करुण रस की भी इनी-गिनी लीलाए रास मे सम्मिलित है जैसे 'अक्रूर लीला' या 'मथुरा गमन'। भक्ति-रस रास का सर्वप्रमुख आकर्षण है जो रासलीला के कथानक के पूरे ताने-बाने पर तबू के समान तना रहता है। इस प्रकार आज के सघर्ष और भौतिकता के युग से रास के लीला-नाटक सर्वथा अप्रभावित हैं। १५वी शताब्दी के समर्पण, श्रद्धा, आत्मिकता और आस्था के स्वरो के सधान मे सलग्न यह लीला-नाटक श्रात, क्लात, और उद्भ्रात मानवता के लिए शाति, विश्राति और सहज प्रेम की सुखद पृष्ठभूमि प्रदान करते है, यह रास के इन कथानको की सबसे बड़ी विशेषता है।

विषयवस्तु की दृष्टि से रास के लीला-नाटको को हम तीन वर्गो में बाट सकते है (१) पौराणिक अवतरित लीलाए, (२) भावनात्मक लीलाए, (३) स्फुट लीलाए। यदि रासलीलाओ की गणना की जाय तो वह शताधिक है। फिर नई लीलाओ के रचने का क्रम भी निरतर चलता रहता है। ऐसी दशा में इन लीला-नाटको की सूची बनाकर उनका वर्गीकरण करना सभव नही है। फिर भी विषय को स्पष्ट करने के लिए हम यहा प्रचलित प्रमुख-प्रमुख लीलाओ का वर्गीकरण करने की चेष्टा करेंगे जिसका पृष्ठ २८१ पर अकित सारणी से स्पष्टीकरण हो सकता है।

रास के लीला-नाटकों का वर्गीकरण
(१) पौराणिक अवतरित लीलाए
(१) वात्सल्य लीलाए
(२) शृगार लीलाए
(३) ऐश्वर्य लीलाए
(२) भावनात्मक लीलाए
(१) द्वापर युग की भावना वाली कृष्ण लीलाए
(२) द्वापर युग की भावना वाली राधा लीलाए
(३) नित्य-विहार की निकुज लीलाएं
(१) प्रगट प्रेम लीलाए
(२) छद्म लीलाएं
(१) कृष्ण की छद्म लीलाए
(२) राधा की छद्म लीलाएं
(३) स्फुट लीलाए
(१) कृष्णकालीन लीलाए
(२) कृष्ण भक्तो की जीवन-घटनाए
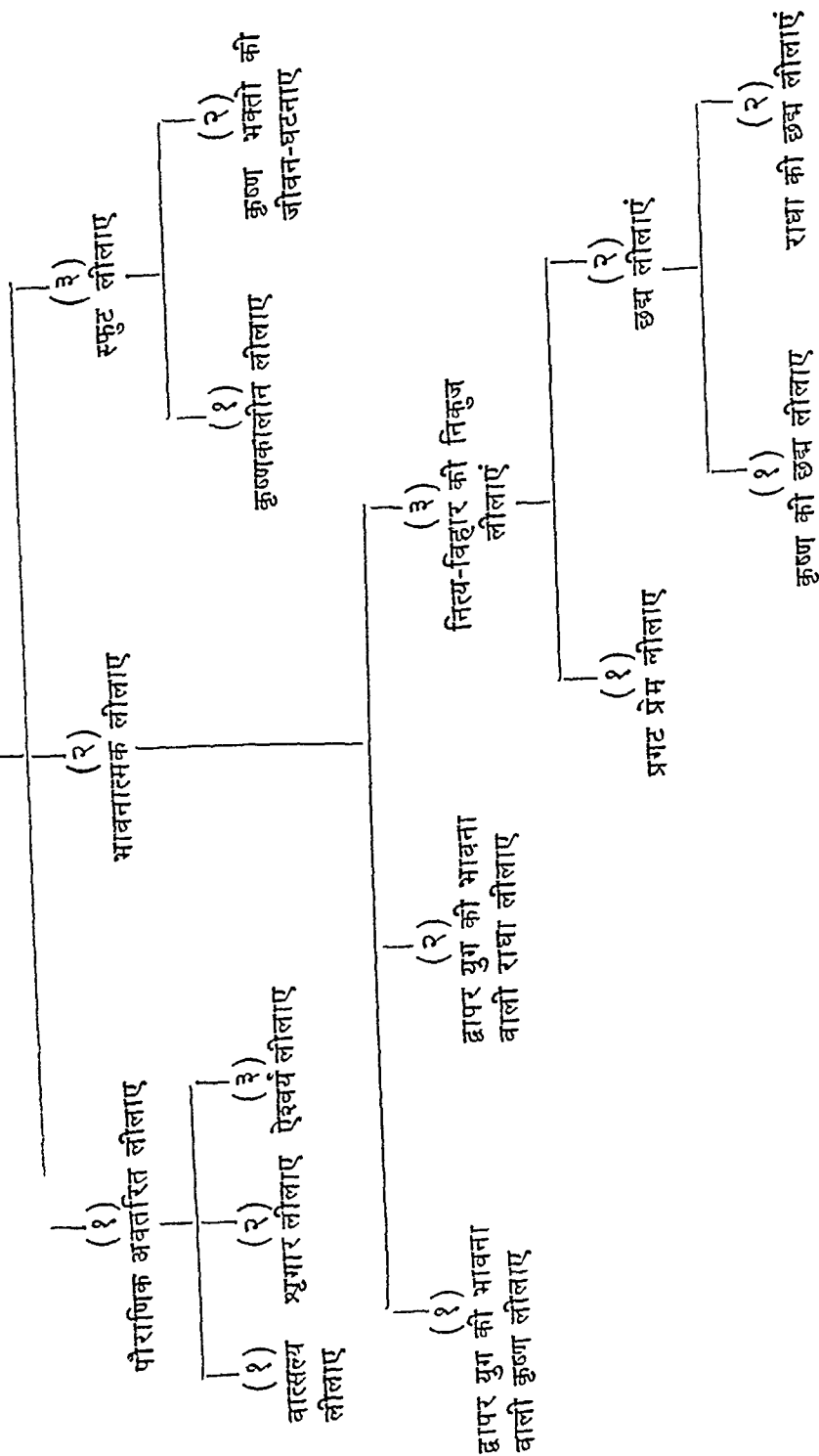
(१) **पौराणिक अवतरित लीलाएं**—इस वर्ग मे हम उन लीलाओ को सम्मिलित कर सकते हैं जो कृष्णावतार के पौराणिक उल्लेखो पर आधारित हैं। इन लीलाओ मे हम निम्नलिखित लीलाओ को रख सकते हैं .

(१) श्रीकृष्ण जन्म लीला, (२) नदोत्सव, (३) पूतना, शकटासुर व तृणावर्त वध की लीलाए, (४) नामकरण लीला, (५) ऊखलबंधन लीला, (६) अघासुर वध लीला, (७) ब्रह्मा व्यामोह लीला, (८) गौचारण लीला, (९) धेनुकासुर वध लीला, (१०) कालीनाग लीला, (११) प्रलबासुर वध लीला, (१२) चीरहरण लीला, (१३) यज्ञपत्नी लीला, (इसे चौबे लीला भी कहते हैं), (१४) गो-वर्धन लीला, (१५) वरुण लीला, (१६) महारास लीला, (१७) केशी व व्योमासुर के वध की लीलाए, (१८) अक्रूर लीला, (१९) कसवध लीला, (२०) उद्धव लीला, (२१) सुदामा लीला। यह लीलाए ३ वर्गों मे बाटी जा सकती है, (१) वात्सल्य लीलाए—जैसे नदोत्सव, नामकरण, ऊखल बधन आदि। (२) शृगार लीलाए जैसे चीरहरण, महारास, उद्धव-गोपी सवाद। (३) ऐश्वर्य लीलाए जैसे पूतना तृणावर्त आदि असुरो की वध लीलाए या कालीनाग लीला जैसी (दृश्य की) लीलाए।

उक्त सभी लीलाओ मे नदोत्सव महारास लीला और उद्धव लीला को छोडकर शेष सभी लीलाओ का मूलाधार ब्रजवासी दास जी का 'ब्रज-विलास' ग्रथ है। बीच-बीच मे भक्तकवियो के पदो का भी इन लीलाओ मे यथा अवसर समावेश रहता है। नदोत्सव लीला पद-साहित्य तथा लोक-साहित्य के समन्वय द्वारा अपने कलेवर का निर्माण करती है जिसमे ब्रज मे पुत्र-जन्मोत्सव के समय मध्य काल मे होने वाले ब्रज के सास्कृतिक उरलाग तथा नेगियो के दान-मान के सुदर चित्र उभरते हैं। महारास और उद्धव-गोपी सवाद-लीला मुख्य रूप से सूरदास जी और नददास जी की रचनाओ पर आधारित हैं, जिनमे अन्य ब्रज के कवियो को भी उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

(२) **भावनात्मक लीलाए**—इन लीलाओ मे हम रास की उन लीलाओं को सम्मिलित कर सकते है जो पौराणिक नही है वरन् जिनका ताना-बाना भक्तो ने अपनी भक्ति-भावना के आधार पर स्वय निर्मित किया है। इन लीलाओ मे ऐसी भी अनेक लीलाए है जिन्हे आज कोई भी ब्रजवासी यह मानने को तैयार न होगा कि वे द्वापर युग की लीलाए नही है। यह कथाए पौराणिक कथाओ के समान ही लोक-मानस के हृदय मे गहरी पैठ गई है। इसलिए इन लीलाओ को भी हमे दो वर्गों मे बाटना पडेगा (१) द्वापर युग की भावना वाली कृष्ण लीलाए, (२) नित्य वृंदावन विहारी कृष्ण की निकुज लीलाए।

(१) **द्वापर युग की भावना वाली कृष्ण लीलाएं**—इस वर्ग मे हम उन लीलाओ को सम्मिलित करना चाहेगे जो भक्ति-युग मे कृष्ण के अवतार स्वरूप

के पूर्ण विकास के उजास मे भक्तकवियो ने निर्मित कीं और रासमच पर उतर कर वे वैसी ही महत्वपूर्ण हो गई जितनी कि कृष्णावतार की पौराणिक लीलाए। ऐसी कुछ लीलाओ की भावभूमि गर्ग सहिता, गीत गोविंद तथा कुछ अन्य प्राचीन ग्रथो से ली गई हैं और कुछ सर्वथा मौलिक है। इन लीलाओ मे कृष्ण परब्रह्म के रूप मे गोप बालक चित्रित किए गए है। इन लीलाओ मे राधा और कृष्ण के माधुर्य के साथ उनके ऐश्वर्य का भी चित्रण विशेष रूप से हुआ है। यहा भक्त लीलाकारों के श्रद्धापूर्ण नमन, और समर्पण के भाव अपने पूरे उभार पर है। ऐसी लीलाओ मे हम निम्न मुख्य लीलाओ की गणना कर सकते हैं :

(१) महादेव लीला, (२) माखन चोरी लीला। रास मे माखन चोरी लीला कई रूपो मे प्रचलित है। मुख्य रूप से तीन माखन चोरी प्राय सभी रास-धारी करते है : (1) माखन चोरी, (11) माधुरी माखन चोरी, (111) मणि-खभ की माखन चोरी। (३) हाऊ लीला, (४) पुरातन कथा लीला, (५) माटी खावन लीला, (६) उराहनौ लीला, (७) दान लीला (रास मे दान लीला भी अनेक है जैसे साकरी खोर की दानलीला, गोवर्धन की दान लीला आदि), (८) मान लीला (मान लीला भी रास मे अनेक हैं जैसे बडी मान लीला, छोटी मान लीला, परस्पर मान लीला, खडिता मान लीला आदि), (९) श्रीधर लीला, गोवर्धन गोप लीला, और (१०) पनघट लीला। इन लीलाओ मे मणिखभ की माखन चोरी, हाऊ, पुरातन कथा मुख्यत: सूरदास की वाणी पर आधारित हैं तथा श्रीधर लीला और गोवर्धन गोप लीला ब्रज-विलास के आधार पर होती है, शेप लीलाओ मे विभिन्न कवियो की प्रतिनिधि रचनाओ का सुदर समन्वय हुआ है।

रासमच पर राधा को रासेश्वरी का पद दिया गया है अत कृष्ण लीलाओ के साथ द्वापर युग की भावना वाली इन राधा-लीलाओ का भी समावेश है। रासमच पर राधा कृष्ण की प्राण प्रियतमा और स्वकीया नायिका के रूप मे मान्य है। राधा चरित से संबधित निम्न लीलाए रास मे प्रचलित है।

(१) राधा जू की जन्मलीला, (२) श्री राधा जू की महादेव लीला (यह चाचा वृंदावनदास जी की लिखी है जिसे केवल कुछ निम्बार्कीय मडलियां ही करती है), (३) गुडिया लीला (चाचा वृंदावनदास जी कृत), (४) स्वप्न-लीला (चाचा वृंदावनदास जी कृत), (५) स्याम सगाई लीला, (६) ब्याहुलौ लीला (यह लीला अनेक रूपो मे अनेक प्रकार से की जाती है), (७) बनजारौ लीला (चाचा वृंदावनदास जी कृत)।

राधा से सबधित उक्त लीला नाटको की विशेषता यह है कि इन लीलाओ मे केवल स्वप्न लीला को छोडकर शेष लीलाओ मे राधा की भूमिका ही प्रमुखता मे उभरती है। स्वप्न लीला मे नायक यद्यपि बाल कृष्ण हैं परंतु पूरी लीला मे राधा को स्वप्न मे देख कर उसी से ब्याह की चाह मे बालजनित मनोरम छटपटाहट व्यक्त करते है। अत. राधा के मच पर न रहने पर भी, यह लीला आदि से अत तक राधामयी ही है। कृष्ण के समान ही राधा के क्रियाकलापो को साकार रूप देना चाचा वृंदावनदास जी की मौलिक सूझबूझ का परिणाम है। यह राधा सबधी लीलाए या तो चाचा वृदावनदास जी कृत है अथवा दूसरे कवियो के पदो के साथ-साथ उनमे उनकी वाणी प्रमुखता मे उपयोग मे लाई गई है।

उक्त लीलाए द्वापर युग की उन कृष्णलीलाओ से अधिक रसात्मक भावभूमि पर स्थित हैं जो प्राय: ब्रज विलास के आधार पर वर्णनात्मक पद्धति से की जाती हैं। इन लीलाओ की कथा-रचना अधिकांशत विभिन्न कवियो की वाणी को एक सूत्र मे पिरो कर की जाने के कारण भक्तो की रागात्मकता, कृष्ण और राधा का ऐश्वर्य तथा माधुर्य-वर्णन इनमे खूब उभरता है जिससे लीला के कथानक मे रगीनी बहुत बढ जाती है।

नित्य-विहार की निकुंज लीलाए—यह रस-लीलाए रासमच का सबसे बडा आकर्षण है जिनकी कथा द्वापर युग के कृष्ण से सीधा सबध नही रखती। भगवान राधा-कृष्ण सदैव वृदावन विहारी हैं और रहेगे। वे स्वयं सुख पाने और भक्तो को सुख देने के लिए नित्य ही कोई न कोई नवीन लीला रचते रहते हैं। उसी भावभूमि पर इन लीलाओ का निर्माण हुआ है। शृगार-रस का बडा हृदयग्राही रूप इन लीलाओ मे उभरा है। यह लीलाए उस वृदा-वनी रस-भक्ति की प्रतिनिधि हैं जिसका पूर्ण विकास रसिकत्रयी ने किया था। इन लीलाओ को भी हम दो वर्गो मे बाट सकते हैं· (१) प्रगट प्रेम लीलाए और (२) छद्म लीलाए।

प्रगट प्रेम लीलाएं—इन लीलाओ मे (१) वशी चोरी लीला, (२) गोमय लीला, (६) दुलरी लीला (चाचा वृदावनदास जी कृत), (४) अनु-राग लीला (सूरदास जी के पदो पर आधारित), (५) आखमिचौनी लीला (परमानददास जी के पदो पर आधारित), (६) वेणी गूथन लीला (हरिदास जी के पदो पर आधारित), (७) साझी लीला (नागरीदास जी के पदो पर आधारित), (८) नौका लीला (ललित किशोरी जी के पदो पर आधारित), (९) रज-रसाल लीला जैसी अनेक लीलाओ के नाम लिये जा सकते हैं। इन सभी लीलाओ का गठन रस-सिद्ध भक्तो की वाणी के आधार पर हुआ है।

छद्म लीलाएं—छद्म लीलाएं वह लीलाए हैं जहा कृष्ण राधा से मिलने

या विनोद करने के लिए किसी न किसी रूप मे छद्म वेश धारण करके उनके द्वार बार-बार खटखटाते हैं। कभी-कभी श्रीकृष्ण राधा के अतिरिक्त कुछ प्रमुख गोपियो को छकाने के लिए भी छद्म वेश धारण करते है जैसे चद्रावली लीला मे (चद्रसखी कृत) परतु ऐसी छद्म लीलाए बहुत कम हैं जिनमे कृष्ण किसी अन्य गोपी के यहा इस प्रकार गये हो। अधिकाश छद्म वेश कृष्ण ने राधा के लिए ही धारण किए है। इन छद्म लीलाओ के भी हम रास मे तीन रूप पाते है। (१) कुछ छद्म लीलाए रास मे सस्कृत श्लोको को मुख्य आधार मानकर रची गई है। ऐसी लीलाओ मे (1) विदुषी लीला, (11) गोपदेवी लीला, (111) प्रेम सपुट लीला, (iv) राजदान लीला, (v) ब्रह्मचारी लीला आदि के नाम लिये जा सकते है। (२) व्रजभाषा साहित्य की अधिकाश छद्म लीलाए चाचा वृदावनदास कृत हैं परतु उनमे भी पहले के कवियो की वाणी मे छद्म की प्रवृत्ति पाई जाती है। (३) महाकवि सूरदास जी ने भी छद्म के पदो की रचना की है। व्रजभाषा के कवियो के साहित्य पर आधारित प्रमुख छद्म लीलाए निम्न हैं :

(१) मदरिया चोरी, (२) परतीत परीक्षा (मुख्यत. सूरदास के पदो पर आधारित), (३) वैद्य लीला, (४) जोगिन लीला, (५) नट लीला। चाचा वृदावनदास जी ने यद्यपि प्रचुर मात्रा मे छद्म लिखे, परतु रास मे उनके निम्न छद्म ही प्राय लीला के रूप मे अधिक प्रचलित है : (१) गौने वारी, (२) चितेरिन, (३) सुनारिन, (४) मनिहारी, (५) मालिन, (६) बिसातिन (७) पटविन, (८) बीनावारी, (६) गधिन, (१०) रग-रेजिन तथा (११) ब्रह्मचारिन लीला।

राधा जी की छद्म लीला—कृष्ण की छद्म लीलाओ के साथ-साथ राधा की छद्म लीलाओ की परंपरा भी रासमच पर विकसित हुई जिसमे छद्म वेश बनाकर कभी-कभी राधा भी कृष्ण के पास जा पहुचती है। ऐसी प्रमुख लीलाएं हैं :

(१) सिद्धेश्वरी लीला, (२) गोरे ग्वाल लीला, (३) प्रेम सखा लीला।

स्फुट लीलाएं—इन लीलाओ के दो विभाग किये जा सकते हैं (१) कृष्ण संबधी लीलाए। (२) कृष्णभक्तो की लीलाए। कृष्ण लीलाओ के उदाहरण मे हम चित्रा सखी की नवीन लीला का उल्लेख कर सकते है जो मुख्य रूप से चित्रा सखी के चरित्र को उभारने के लिए रची गई है परतु नायक की भूमिका यहा कृष्ण ही करते हैं। कृष्ण की गोलोक सबधी नवीन लीलाए भी इसी वर्ग मे मानी जायेंगी। कृष्णभक्तो की लीलाओ मे हम गौराग लीलाओ

और हरिदास लीलाओ तथा भक्तमाल की उन लीलाओ को रखना चाहेगे जो पिछले कुछ समय मे रास रगमच पर लाई जा रही हैं।

इस प्रकार रास की कथावस्तु मे जहा भगवान कृष्ण के ब्रज जीवन की सभी पौराणिक व भक्तो की भावनाजनित लीलाओ का समावेश है वहा अब उनमे कृष्णभक्तो की जीवनी को भी स्थान मिलने लगा है। यह सब लीलाए भारतीय नाट्य परपरा के अनुसार सुखात हैं। कठिन वियोग के उपरात अत मे लीला की परिणति सदैव ही कृष्ण-मिलन के परमानद मे होती है यहा तक कि उद्धव लीला का अत भी रास मे सुखात ही होता है। उद्धव ब्रज से लौटकर जब कृष्ण को गोपियो की असह्य विरह व्यथा सुनाकर उनकी कठोरता और निष्ठुरता को धिक्कारते हैं तो कृष्ण अत मे मुस्करा कर उन्हे समझाते है कि ·

मो मे उनमे अनरो, एको छिन को नाहि।
ज्यौं देखो मो माँहि वे, त्यो मैं उनही माहि।
तरगनि वारि ज्यो।

और इस उक्ति के समाप्त होने के साथ ही एक झीने पारदर्शी आवरण मे गोपियो के साथ ब्रजविहारी कृष्ण की झाकी खुल जाती है और तब समाजी गा उठते हैं .

अपनो रूप दिखाय कै, लीनो बहुरि दुराय।
नददास पावन भयो, जो यह लीला गाय।
प्रेम रग पुज की।

इस प्रकार रास के लीला-नाटको का ताना-बाना पूर्णत भारतीय नाट्य दृष्टिकोण के अनुरूप तो है ही, साथ ही साथ वह एक मौलिक, सुचिंतित और भक्ति की विशिष्ट भावभूमि पर स्थित है।

पात्र-परिचय

रासलीला-नाटको के नायक कृष्ण, नायिका राधा और उनकी सहयोगिनी उपनायिकाएं सखिया हैं, जिनकी प्राय सभी लीला नाटको मे आवश्यकता पडती है। कुछ असुर सहारक लीलाएं ही रास मे ऐसी हैं जहा राधा और गोपियो की आवश्यकता नही होती, शेष सभी लीलाओ मे उनकी भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। असुर सहारक लीलाओ मे गोपियो का स्थान प्राय कृष्ण के ग्वालवाल ले लेते हैं। ऐसी लीलाओ मे गोपी बनने वाले ये पात्र ही पुरुष वेश धारण करके गोप रूप मे कृष्ण का साथ निवाहते हैं। वात्सल्य लीआओ मे जसोदा की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण होती है, जितनी कि शृगार-रस की

लीलाओ मे राधा की रहती है। नदबावा इन वात्सल्य लीलाओ मे जसोदा के सहयोगी बनकर रस के उद्रेक मे सहायक होते है। एक-दो लीलाए ऐसी भी हैं जहा कन्हैया के प्रति प्रेम के अतिरेक के कारण पति-पत्नी झगड भी पडते है। उदाहरण के लिए, ऊखल-बंधन लीला मे जसोदा कृष्ण के हाथ बाध देती है तब कृष्ण उस ऊखल को खीचकर दो वृक्षो के बीच मे फसा देते है और दोनो वृक्षो को धराशायी कर देते है। जब नदबावा यह समाचार सुनकर अथाई पर से घर आकर यह दृश्य देखते हैं कि जसोदा ने थोडे से दूध के लोभ मे कन्हैया के लिए प्राण-सकट खडा कर दिया तो वह अपनी लाठी उठाकर क्रोध का नाट्य करते हुए जसोदा को मारने दौडते हैं और मनसुखा आदि गोप दौडकर बाबा की लाठी पकड़ कर बीच-बचाव कराते है। नद बाबा का यह क्रोध नाट्य दर्शको को जहा खिलखिलाकर हसा देता है वहा जसोदा का पछतावा उन्हे ममतामयी माता के हृदय के छलछलाते रस-सागर मे गोता लगाने को बाध्य करता है।

रासलीलाओ मे खलनायक के रूप में कस और उसके सहयोगी के रूप मे विभिन्न राक्षस—जो मृत्यु का वरण करने गोकुल जाते है—सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न लीलाओ मे भिन्न-भिन्न पात्रो की यथा आवश्यकता अवतारणा होती है जैसे बलराम, नारद, ब्रह्मा, महादेव, वसुदेव, देवकी, वृषभानु, कीरत, मनसुखा, तोष, गर्गाचार्य आदि। रासमच पर होने वाली अनगिनत लीलाओ मे अनेक पात्र समय-समय पर केवल अल्प समय के लिए ही आते और चले जाते है। कुछ पात्र ऐसे भी है जो केवल एक ही लीला में दर्शन देते हैं जैसे स्याम सगाई लीला मे पूरनमासी पुरोहितानी, मथुरा गमन लीला में अक्रूर या भ्रमरगीत लीला मे उद्धव। परतु इस एक-एक लीला मे ही इन पात्रो की भूमिका इतनी अधिक महत्वपूर्ण है कि उन्हे किसी प्रकार भी गौण नही माना जा सकता। रामलीलाओ की कथा के रूप को समझने के लिए इन पात्रो का रासमच पर प्रस्तुत चरित्र भी जान लेना आवश्यक है, अत हम यहा रास के मुख्य पात्रो का चरित्र-चित्रण करने की चेष्टा करना चाहते हैं, परतु रास के पात्रो का चरित्र-चित्रण वस्तुत बडा कठिन काम है, क्योकि रास की अनेक लीलाओ में एक ही पात्र अनेक मनःस्थितियो में भी आता है और उसे घटनाचक्र के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह करना पडता है। रास के नायक कृष्ण के तो विभिन्न लीलाओ में विभिन्न प्रकार के बहुमुखी व्यक्तित्व उभरते हैं, ऐसी दशा मे रास के पात्रो का सामान्य ढग से चरित्र-चित्रण सभव नही लगता, फिर भी रास के सभी पात्रो के व्यक्तित्व में जो विशिष्टताए है उनका उल्लेख करके हम उनके नाटकीय व्यक्तित्व का परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

कृष्ण—रास मे कृष्ण के व्यक्तित्व की दो अवस्थाए हैं : (१)बाल कृष्ण, (२) किशोर कृष्ण। क्योंकि बालकृष्ण ही शृंगार-लीलाओ मे किशोर कृष्ण के रूप मे विकसित होते हैं, अत उनके व्यक्तित्व मे माधुर्य, सहज आकर्षण, वाचालता, नटखटता, चपलता, उद्दडता और अपार शक्ति आदि से अंत तक बनी रहती है। बालक कृष्ण आरंभ से ही अपने विवाह के लिए भी बडे उत्सुक रहते हैं और मैया तथा बाबा को अपनी पसद की बहू बतलाते हैं तथा विवाह के मनसूबे बाधते रहते हैं। ग्वाल-बाल उन्हे बनाते है तो वह रोकर माता से उनकी शिकायत करते है। बालक कृष्ण बडी ही मीठी और मधुर बातें करके सबका मन मोह लेते है, परतु वह देखने मे जितने भोले हैं भीतर से उतने ही चपल है। वास्तव मे वह भोलेपन का नाट्य करते हैं और अपनी बातो से जसोदा को और बाद मे ब्रज गोपियो को बहका लेने और अपना काम निकाल लेने मे सिद्धहस्त हैं। कठिन से कठिन परिस्थिति का उपचार करने की उनमे अपूर्व क्षमता है।

रास के मच पर उनमे सबमे बडी विशेषता यह है कि वह माधुर्य के विमोहक आवर्त मे अपने ऐश्वर्य को बडी कुशलता से छिपाये रखते हैं, परतु जब आवश्यकता होती है तो वह अपने अंतरग व्यक्तियो से अपने इस रूप को नही छिपाते। ममता मे भूली हुई माता जसोदा को वह 'माटी खावन', 'पुरातन 'कथा', 'हाऊ लीला' आदि मे स्वय अपने ऐश्वर्य की झाकी और परिचय कराते हैं, परतु माता जसोदा यह सब देखकर भी उनकी भोली बातो मे अत तक भूली ही रहती हैं। अलौकिक होते हुए भी वह रासमच पर लौकिक प्रतिभाशाली बालक की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

कृष्ण वह नायिका प्रिय नायक हैं जो राधा मे पूर्णतः और गोपियो मे अशत. अनुरक्त हैं। राधा और गोपियो के मध्य कृष्ण एक अनन्य प्रेमी के रूप मे रार, प्यार, छेडछाड और अभिसार के प्रसग उपस्थित करते रहते हैं। वे उन्हे उनके सुख के लिए छेडते और सताते हैं जिससे गोपिया ऊपर से खीजती और भीतर से रस मे भीजती हैं। इन घात-प्रतिघातो मे कृष्ण और गोपियो का प्रेम विकसित होकर पुष्ट होता है। इस छेडछाड़ मे कभी-कभी वे गोपियो के हाथ भी लग जाते हैं, यहा तक कि माखन चोरी मे उन्हे अपनी चोटी भी बधानी पड जाती है। राधा को अपनी ऐंड़ी-बेंडी बातो से पहले रुठा कर फिर उनके चरणो पर मस्तक रखकर मनुहार करने मे उन्हे अतीव सुख मिलता है। राधा के बिना वे एक क्षण भी नही रह पाते और कोई न कोई छद्म बनाकर उनका द्वार खटखटाते रहते हैं। सग के सखाओ से समानता का व्यवहार मानो रास मे कृष्ण के समाजवाद का भक्तिकालीन रूप प्रस्तुत करता है। 'सारे' कह कर बोलना और 'सारे' कहकर बुलवाया जाना इस आतरिकता का सहज

सबोधन है जो रास मे निरंतर गूजता रहता है, परंतु ब्रज के गोपो से छीन-छीन कर झूठा खाने वाले कृष्ण देवताओ या नारदादि ऋषि-मुनियो के समक्ष एकदम गंभीर व सयत रूप मे प्रस्तुत होते है। वे देवताओ पर अपना पूरा नियत्रण रखते है यहा तक कि इन्द्र को भी उनकी उपेक्षा करने का अधिकार नही, ब्रह्मा और कामदेव को भी रासमच पर उनसे पराजित होना पडता है परतु ब्रज के गोपी और गोप उन्हे जब चाहे पराजित कर देते है और उनकी पीठ पर चढ कर(खेल मे)अपना दाव लेते है। श्रीदामा सखा की इच्छापूर्ति को तो वे एक गेंद के लिए कालीदह तक मे कूदने को तैयार रहते हैं। वे ब्रज के भोले ब्रजवासियो के निश्छल प्रेम पर बिना मोल ही बिक गये है और यही कारण है कि दुनिया की दृष्टि मे द्वारकावासी बनकर भी वह वास्तव मे सदा-सदा को ब्रजवासी ही हैं। वह कभी एक क्षण को भी ब्रज से न गये हैं, न जा सकते है।

राधा : कृष्ण जितने चपल और चचल हैं रास की राधा उतनी ही धीर और गंभीर हैं। कृष्ण से उन्हे अथाह प्यार है। उनके क्षणिक वियोग मे भी वे कातर हो उठती है और सुधि-बुधि भूल जाती हैं, तब सखिया उन्हे सचेत करके कृष्ण से किसी न किसी प्रकार यत्नपूर्वक मिलाती हैं। यह स्थिति अनेक लीलाओ मे अनेक रूपो मे चित्रित होती है। राधा रूपगर्विता है अत, कृष्ण से हठपूर्वक रुष्ट हो जाना उनका स्वभाव है, परंतु जब कृष्ण उन्हे मनाते है तो वे उसमे अपार सुख का अनुभव करती है और प्रसन्न हो जाती है। कृष्ण की अपने प्रति अनन्य प्रेम की उन्हे पूरी प्रतीति है इसलिए छद्म लीलाओ मे कृष्ण जब स्वयं वेश बदल कर राधा से कृष्ण की बुराई करते है तो वे जोरो से कृष्ण पर लगाये गये आरोपो का सतर्क उत्तर देती है। कई बार वे कृष्ण से यह भी कह देती हैं कि वे उन पर (छद्म वेशधारी कृष्ण पर) इसलिए क्रोध नही कर रही हैं, क्योकि उनकी आकृति और रंग पर उनके प्रियतम की अनुहार की छाप है अन्यथा वह कभी भी इस कटु वार्तालाप को सहन न करती। राधा दया की मूर्ति, सुकुमार और अत्यत भोली है। सखी जब कृष्ण के अवगुणो की शिकायत राधा से करती है और उनसे कृष्ण को डाटने का अनुरोध करती है तो मुस्करा कर केवल इतना ही कह देती है कि 'अरी सखी, अब इनते कछु मति कहौ' कभी-कभी जब गोपियो की चढ बनती है और वे कृष्ण को पकड कर उनसे लंगराई का बदला लेने की घात लगाती है तो कृष्ण राधा से उन्हे गोपियो के चगुल से छुडाने की प्रार्थना करते हैं और तब सहृदय राधा सखियो से कह देती है, 'अरी सखी अब इन्हे छोड देउ।'

जिस प्रकार कृष्ण राधा से मिलने को उत्सुक रहते है उसी प्रकार राधा भी कृष्ण से मिलने को उत्सुक रहती है और वे भी कोई न कोई बहाना करके कृष्ण से मिलने निकल जाती हैं। लौटने मे देर हो जाने पर वह भी मीठी-मीठी

वातो से अपनी माता कीरत को भुलावा देने मे सिद्धहस्त हैं।

कभी-कभी वह कृष्ण से अपने मिलन की वात गोपियो से भी छिपा जाती हैं। कृष्ण से विवाह हो जाने पर वे अपनी ससुराल नन्दगाव मे जा वसती हैं परंतु आषाढ का अत होते-होते भी जव भैया श्रीदामा उन्हे लेने नही पहुचते तो माता-पिता और वरसाने की याद मे विह्वल हो जाती हैं। तभी श्रीदामा उन्हे लेने पहुंच जाते हैं और वे वरसाने चली आती हैं, परंतु राधा के विना कृष्ण का नन्दगाव मे मन नही लगता और वे भी पीछे ही पीछे सखी वेश मे उनके साथ झूलने वरसाने पहुच जाते हैं। इस प्रकार राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की तल्लीनता से रासलीलाए भरी पड़ी है।

गोपियां : रास मे वैसे कृष्ण और उनके अष्टसखा तथा राधा की अष्ट-सखिया मुख्य है, परतु रास मे अधिकाश मंडली चार ही सखी रखती है। कुछ वड़ी मडलियो मे छ. सखी रहती हैं। यह सखी मुख्य रूप से नित्य रास मे ही योग देती है। लीलाओ के अर्थ पाठ अधिक छोटे वालको को ठीक याद नही होते अत. लीलाओ मे प्राय. दो वड़ी सखी ही मुख्य भूमिकाए करती हैं, शेष उनकी पिछलग्गू रहती हैं। रासलीला में सवसे मुख्य कार्य ललिता सखी का रहता है और विशाखा उनकी सहयोगिनी रहती हैं। रास में ललिता जी को प्रायः दूती की भूमिका निभानी होती है। प्रियतमा का सदेश प्रियतम तक और प्रियतम की वात प्रियतमा तक पहुचाना इन सखियो का मुख्य कार्य रहता है। राधा और कृष्ण के मान प्रसग उपस्थित हो जाने पर जव दोनो एक-दूसरे के विरह में अलग-अलग छटपटाते होते है तव उन्हे मिलाने की स्थितिया ये सखिया ही वनाती हैं।

कुछ लीलाओ मे चित्रा सखी वियोगिनी राधा को कृष्ण का चित्र वना-कर देती हैं। चित्रकार के रूप मे चित्रा सखी की रास मे विशेष स्थिति है। कृष्ण के साथ नाचना, गाना, उन्हे ईंट का जवाव पत्थर से देना, उनसे भली-वुरी कहना और भली-वुरी सुनना, मनसुखा को लोभ देकर कृष्ण का पता पूछना या उसे वुद्धू वनाकर कृष्ण की वासुरी आदि को चुरा लेना और फिर कृष्ण से अनुनय-विनय कराकर उनकी वस्तुओ को लौटाने जैसे काम रास मे यह सखिया ही करती है। कृष्ण जव सामने हो तो उनसे मुहजोरी करना तथा उन्हे नाम धरना और जव वह चले जायं तो उनके विरह मे तड़पना रास की गोपियो का स्वभाव है। कृष्ण की चपलता और उद्दडता की माता जसोदा से शिकायत करना तथा जव माता इनकी वात पर ध्यान न दे तो गांव छोडने की धमकी देना और यदि इनकी वात मानकर कृष्ण को दड देने लगें तो दूसरे ही क्षण पुनः कृष्ण के दुख से दुखी होकर माता से कन्हैया को छोड़ देने की प्रार्थना करना और फिर जसोदा से झाड़ खाना इनका सहज स्वभाव है।

कृष्ण के ब्रज से चले जाने पर ये सभी विषम वियोग मे तपने लगती है। कोई कृष्ण को कोसती है, कोई कुब्जा को और कोई अपने भाग्य को ही दोष देती है। रास मे गोपिया राधा और कृष्ण दोनो की ही अनन्य प्रेमिका और सेविका है। कृष्ण मे ये भी पति भाव रखती है परतु राधा के प्रति उनमे कोई विद्वेष नही। वे कृष्ण से भी अधिक राधा के निकट है।

कृष्ण के सखा : रास मे कृष्ण के अष्ट सखाओ का विधान है, परतु व्यवहार मे उनके साथ एक लीला मे तीन-चार सखा ही रह पाते है क्योकि मडली मे पात्रो की सीमित सख्या ही होती है। इन सब सखाओ मे मनसुखा मुख्य है।

मनसुखा : मनसुखा या मधुमगल कृष्ण का अनन्य सखा है जो कभी-कभी मूर्खता की सीमा तक भोला लगता है। वह कुछ ऊंचा भी सुनता है और कुछ कहने को कुछ समझने का आदी है। उसके आचरण भी बडे उलटे है उससे जितना जोर से बोलने को कहा जाय वह उतना ही धीरे बोलता है और जितना धीरे बोलने को कहा जाय उतना ही जोर से चीखता है। सीधे ढंग से कृष्ण की कोई बात प्राय. उसकी समझ मे नही आ पाती पर जब कृष्ण उसको 'ठहर जा सारे' कहकर दो-चार धौल धमूको से पूजा कर देते है तो वह सीधे रास्ते पर आ जाता है। वह यद्यपि निरक्षर भट्टाचार्य गौचारी है परंतु सत्सग के बल पर कभी-कभी बातचीत मे पूरी ज्ञान-गरिमा का परिचय भी दे देता है। गोपियो को देखकर ही वह फूल कर कुप्पा हो जाता है, और उन पर अपने बडप्पन की छाप डालने के लिए आरभ मे तो बात ही नही करता, परतु जब वे उसे 'अरे लाला मधुमगल' के नाम से न पुकार कर बड़े शिष्टाचार के स्वर मे 'अजी लाला मधुमगल जी' कह कर पुकारती है तो मधुमगल एकदम खिल उठते है और तुरत कहते है, 'अजी हा भाभी जी' और इस युक्ति से गोपिया उससे अपना काम निकाल लेती है। मनसुखा को अपने कुल गौरव और लोक मर्यादा का वैसे बडा ध्यान रहता है परतु जब जिभ्या के रस की बात आती है तो वह तर मालो के लोभ मे उस गौरव और मर्यादा को भी पानी देने के लिए बाध्य हो जाता है। कृष्ण जब मनसुखा से माखन की चोरी का प्रस्ताव करते है तो वह एकदम बिगड जाता है और कहता है 'चल सारे! हमे कैसी सिच्छा दै रह्यौ है? अरे का हम चोरी करिंगे! देख चोरी कमू हमने करी ना, हमारे बाप ने करी ना, हमारे बाप के बाप ने करी ना और बाके बाप ने करी ना।' पर जब कृष्ण उसे समझाते हैं कि 'अरे सारे। जे वैसी चोरी थोरई ऐ, जे तौ माखन मिसरी की मीठी चोरी है। जामे तोकू माखन मिसरी छकबे कू मिलैगौ।' तो मनसुखा के मुंह मे पानी भर आता है और वह गभीर बनकर विवशता का नाट्य करते हुए कहता है, 'अच्छौ मैया, जो ऐसी बात है तौ चलौ।'

मनसुखा को इस वात का गर्व वहुत अधिक है कि वह कृष्ण का अनन्य सखा है और कृष्ण उसकी जूठन तक खाते हैं और खेल मे वह कृष्ण की पीठ पर चढ कर उनसे अपना दाव लेता है। अपने इस अधिकार के सामने वह त्रिलोकी के समस्त अधिकारो को भी तुच्छ समझता है। मनसुखा लोकगीतो का गायक और व्रज का लोकनर्तक भी है। उसके नृत्य मे हास्य की मुद्राएं, अटपटी चाल और भाव-भगिमाएं दर्शको का विशेष मनोरजन करती हैं। यह जाति का व्राह्मण है जो अपने को कृष्ण से ऊचा मानता है, परतु ऊंचाई केवल रौव जमाने के लिए ही होती है जो हास्य का कारण ही वनती है।

अन्य गोप सखा : रास मे कृष्ण के साथ जो अन्य सखा विभिन्न लीलाओ मे आते हैं वे भी कृष्ण के अनुयायी और मनसुखा के साथी होते हैं। किसी वात मे वह कृष्ण का और किसी वात मे मनसुखा का समर्थन करके ग्वाल मंडली मे सजीवता और चुहल का स्वाभाविक वातावरण वनाये रखते है। 'गोचारण लीला' मे तोष नामक सखा विशेष उभरकर आता है जो धीर, गभीर और नृत्य तथा संगीत का जानकार है। वही कृष्ण को नृत्य व गायन सिखाता है। कुछ लीलाओ मे श्रीदामा की भी भूमिका रहती है। कालीदह लीला मे गेंद के दह मे गिर जाने पर श्रीदामा कृष्ण की फेंट पकड कर उनसे झगडता है। उससे फेंट छुडाकर कृष्ण पहले कदम्व पर चढ जाते हैं, और वाद मे वही से श्रीदामा के मना करने पर भी अत मे दह मे कूद जाते हैं।

इसी भाति गोवर्धन लीला मे एक लगड़ा गोप और आता है। वह गोप भी कृष्ण का प्रौढ़ सखा ही है। नदराय जी की अथाई पर जव गोपो की सभा होती है तव वह कृष्ण के गोवर्धन पूजा के प्रस्ताव का विरोध करता है और कहता है कि छछोरो की वातो पर पचायत को अपनी पुरानी परपरा नही तोड़नी है। वह पचायत मे से वार-वार विगड-विगड कर उठकर जाने को तैयार हो जाता है तव शेष गोप उसे पकड़-पकड़ कर वैठालते हैं। इस प्रकार हास्य-रस के साथ रास मे पचायत के जनतत्रीय रूप का उभार स्वाभाविकता से इस पात्र के द्वारा चित्रित किया जाता है। अत मे कृष्ण के यह कहने पर कि वह ऐसे देवता की पूजा करवा रहे हैं जो स्वय प्रत्यक्ष प्रगट होगा और गोपो से मांग-माग कर भोग खायेगा, लंगडे की गोवर्धन पूजा के प्रति कुछ आस्था जगती है और तव वह कृष्ण से पूछता है, 'चौं मैया कन्हैया और का तरौ जि देवता मेरौ व्याह हू कराय देगौ।' तो कृष्ण उसे आश्वासन देते हैं कि 'हा मैया, अवस्य ही कराय देगौ'। यह सुनते ही वह गिरिराज पूजा का सवसे वडा समर्थक हो जाता है और तव पूरा मंच 'वोल गिरिराज महाराज की जय' घोष से गूज उठता है।

उद्धव : 'भ्रमरगीत लीला' मे कृष्ण के मथुरा निवासी सखा उद्धव

प्रमुख रूप से उभरते हैं। उनकी कृष्ण में अपार श्रद्धा व प्रेम है इसलिए वह कृष्ण को दुखी देखकर उनके दुख से कातर हो उठे हैं। कृष्ण से यह जानकर कि वह ब्रज की याद मे दुखी हैं उद्धव उनसे पूछते हैं कि 'प्रभो ! आपकू बा ब्रज मे ऐसी कौन सौ सुख हौ जो आपकू यहा नही है। वहां तौ आपकू नित्य गायन के पाछें वन-वन नगे पायन काटेदार कठोर बनन मे घूमनौ परे हो यहाँ तौ पचासन सेवक आपके रुख कू जोह्यौ करें हैं। म्हा यदि जसोदा मैया ही, तौ यहां हू तौ देवकी मैया हैं जो प्रति छिन आपके मुख मंडल कू जोह्यौ करें। दुष्ट कंस के कारागृह मे अनेक कष्ट उठाय के उनने और वसुदेव जी ने आपकू पायौ है। म्हा तौ आपकू मैया जसोदा वासी रोटी कौ कलेऊ देती ही, पर यहा तौ षट्रस व्यजन सो सजे सोने के थार हाथ मे लिए सेवक सदा तैयार रहे हैं।' इस प्रकार रासमंच पर उद्धव अपने ज्ञान की चर्चा कृष्ण से न करके केवल मथुरा के राजसी वैभव से आक्रात भौतिक सवृद्धि के प्रतिनिधि के रूप मे ही उपस्थित होते हैं जो कृष्ण के आग्रह पर उनके सदेशवाहक बनकर ब्रज जाते हैं। वहा भी वह नददास जी की भ्रमरगीतो की तुको को सुनाकर और उनका अर्थ भर करके ही सतोप कर लेते हैं। वास्तव मे 'भ्रमरगीत लीला' मे गोपिया ही अधिक वोलती हैं। उनकी वात सुनकर उद्धव उनसे प्रभावित होकर उन्हे साष्टाग दंडवत और परिक्रमा करते है। जसोदा, नद और गोपो को कृष्ण के सदेशो का आदान-प्रदान करके वह उन्हे कृष्ण के शीघ्र ही लौट आने का आश्वासन देकर स्वयं मथुरा आते है और कृष्ण को उनकी निठुरता के लिए उपालंभ देते है। इस प्रकार रास मे उद्धव का ज्ञानी रूप अधिक उभर कर सामने नही आता। वह कृष्ण के एक अनुगत भक्त, सखा और संदेहवाहक के रूप मे ही आते है।

वलराम : वलराम जी का रासलीलाओ मे वहुत ही कम योगदान है। वे केवल इनी-गिनी लीलाओ मे ही उपस्थित होते है। ऊखल वधन, स्वप्न-लीला, कालीदह, प्रलवासुर वध, मथुरा गमन तथा कसवध लीलाओ मे ही प्राय: उनके दर्शन होते हैं। सखाओ से झगडा हो जाने पर प्रासंगिक रूप मे कृष्ण जसोदा से यह शिकायत करते हैं कि ये सब सखा बलदाऊ भैया के सिखाए मे मुझे चिढाते है और उससे मिल गए हैं। तू भी बलराम से ही अधिक प्यार करती है और मुझे पराया समझती है। परतु वलराम का यह रूप केवल स्वप्न लीला मे ही आशिक रूप मे मच पर प्रस्तुत होता है।

मच पर वलराम ऊखल-लीला मे प्रथम बार तव दिखलाई देते हैं जब जसोदा क्रोध मे ऊखल से कृष्ण को वाध देती है। वलराम उस स्थिति मे इन्हे देखकर अपने नेत्रों को धिक्कारते हैं कि आज मुझे अपने नेत्रो से तेरे बधे हाथो को देखना पड़ा। फिर वे कृष्ण को समझाते है कि 'भैया, तुम्हे इतना ऊधम नही

करना चाहिए। कृष्ण उनकी बात को मस्तक झुकाए केवल सुन भर लेते हैं, कु
भी उत्तर नही देते तो वे यह कहकर माता जसोदा के पास चले जाते हैं
'मैया! जो तेरी ऐसी ही इच्छा है तो जिस लीला के लिए तैंने हाथ वंधाये
वही कर, मैं चला।' इस प्रसग मे वलराम का कृष्ण के प्रति अनन्य ममत्व त
साथ ही साथ उनके प्रति उनकी समर्पण भावना का भी दर्शन होता है।
कृष्ण के ऐश्वर्य से पूर्णत परिचित हैं।

इसके उपरात वलराम माता जसोदा के पास जाकर उनसे कन्हैया
छोड देने की प्रार्थना करते हैं तो माता उन्हे उत्पाती कन्हैया का पक्ष न लेने
परामर्श देती है किंतु वह फिर भी माता से कृष्ण के वधन-मुक्ति की प्रार्थ
करते हैं तो माता उन्हे भी आडे हाथो लेती हैं। तव वे विवश होकर वहा
यह कहकर लौट जाते हैं कि 'तू मेरी मा है, तुझसे क्या कह सकता हू ? य
कोई और कन्हैया के साथ ऐसा व्यवहार करता तो मैं इस पृथ्वी को ही ध्व
कर डालता। क्या करू तुझ पर मेरा वश नही है।' यह कहकर वे मच से च
जाते हैं। इस प्रकार इस छोटे से प्रसंग मे ही वलराम के चरित्र की शवि
शील और सौदर्य-सपन्न त्रिवेणी जैसा व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है।

कालीदह लीला मे कृष्ण के जमुना मे कूद पडने पर जव माता जसो
नद और सव व्रजवासी करुण क्रदन करते होते हैं तव वलराम पुन. आते हैं अ
कृष्ण के शीघ्र ही सकुशल लौट कर आने का दृढ आश्वासन देकर सवको धै
वधाते है। प्रलवासुर-वध लीला इतवृत्त्यात्मक है, उसमे रास के वलराम
चरित्र का कोई विशेप उभार नही हो पाता। यह लीला 'व्रजविलास'
आधार पर उनका पौराणिक रूप ही दर्शको के समक्ष उपस्थित करती है
मथुरागमन लीला, कस-वध लीला आदि मे वलराम-कृष्ण के शुद्ध सहयोगी मा
रहते हैं। यहा सव पहल कृष्ण के ही हाथ रहती है, वलराम का काम केव
छाया के समान उनके साथ रहना और उनका समर्थन करते रहना भर है।

रासलीला मंच के शृगार-प्रधान होने के कारण ही कदाचित य
वलराम को अधिक महत्व नही दिया जा सका क्योंकि वह कृष्ण के वड़े भ
है और उनके सामने कृष्ण को विभिन्न कलाओ के प्रदर्शन का वह अवकाश न
हो सकता था जो इस मच के लिए अपेक्षित था। इसीलिए रास मे गोप मडल
जुडने पर कभी कोई सखा यदि यह पूछता है कि भाई आज वलदाऊ दादा क
है, तो तुरत कोई दूसरा सखा कह देता है, 'भैया कहूँ भाँग छान रह्यौ होयग
इस प्रकार वलराम जी का भग से गहरा संवध जोडकर उन्हे रास की व
लीलाओ मे कृष्ण से दूर रख दिया गया है।

नंद और जसोदा · माता जसोदा कृष्ण के सुख मे सुख और दुख
दुख मानने वाली और उन पर सर्वस्व वार देने वाली ममता की साक्षात मू

है परंतु जब वह कृष्ण के उत्पात और चोरी की बातें सुनती है तो कभी-कभी क्रोधित भी हो उठती है और साटी लेकर उनके पीछे दौड पड़ती है। वह कृष्ण के हाथ-पाव भी बांध देती है। जसोदा गौ, ब्राह्मण, जमुना तथा गिरिराज महाराज की अनन्य भक्त है और कृष्ण का तनिक भी अनिष्ट होने की संभावना मात्र से ही वह उक्त देवताओ की ढोक देने लगती है। कृष्ण के ऊधम और काले रंग को देखकर उसे भय होता है कि जाने मेरे लाला का विवाह भी होगा या नही और तब इस आशा से कि किसी तरह वृषभानु जी की बेटी मेरे 'कुमर कन्हैया' को मिल जाय वह अनेक प्रकार की मनौती मानने लगती है। वृद्धावस्था मे पुत्र का मुह देखकर उसने कृष्ण के हित चिंतन को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया है। वह घर मे जो कुछ भी करती है वह सब कृष्ण के लिए ही करती है, कृष्ण द्वारा की गई गोरस की हानियो से कभी-कभी वह खीज भी जाती है परंतु कृष्ण की मीठी और भोली बाते शीघ्र ही उसके क्रोध को छूमतर कर देती हैं।

जब कृष्ण के मथुरा जाने का प्रश्न उठता है तो वह विह्वल और कातर होकर कृष्ण से मथुरा न जाने और अक्रूर से उन्हे न ले जाने के अनेक निहोरे करती हैं, परतु उसका कोई फल नही निकलता, तब वह पछाड खाकर बेहोश हो जाती है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर भी वह अहर्निश उन्ही की चिंता मे लगी रहती है। तब उसे हर क्षण यह आशंका रहती है कि मथुरा मे मेरा लाडला अपने सकोची स्वभाव के कारण बडा कष्ट पा रहा होगा। उद्धव जब व्रज आते है तो वह कृष्ण की दिनचर्या की उनसे पूरी जानकारी करती है और यही पूछती है कि मेरे लाड-लडैते कब तक आयेंगे। उद्धव से उनके शीघ्र ही लौटने का आश्वासन पाकर वह दधि, लोनी और कृष्ण की अनेक प्रिय वस्तुए उन्हे भेज कर कहती है :

कहियो जसुमति की आसीस।
जहाँ रहो मेरे लाड लडैते, जीवो कोटि वरीस।

रास मे जसोदा का चरित्र और व्यक्तित्व लगभग वही है जो सूरदास की जसोदा का है। रासमच पर जसोदा बाल-लीलाओ मे प्राय सूर की वाणी मे ही बोलती और गाती है।

जसोदा के चरित्र के समान ही नद का चरित्र भी है, परतु वह पुरुष होने के कारण अधिक सयत और धीर गभीर हैं। ये बात-बात मे नारायण का स्मरण करते है और एकादशी का व्रत करते हैं। एक बार प्रात समय से पूर्व यमुना-स्नान करने के अपराध मे वे पकड कर वरुण लोक ले जाये जाते है जहा से कृष्ण उन्हें छुडा कर लाते हैं, परतु वे भी कृष्ण को परमात्मा नही अपना

लाला ही मानते रहते हैं। कृष्ण की प्रत्येक इच्छा को पूरा करना ही वह अपने जीवन का एकमात्र कर्तव्य मानते हैं।

वसुदेव-देवकी : यह दोनो पात्र रास मे केवल दो लीलाओ मे आते हैं (१) कृष्ण-जन्म, (२) कस-वध। वसुदेव की थोडी भूमिका 'नामकरण लीला' मे भी आती है जब वे अपने कुलगुरु गर्गाचार्य को कस से छिपा कर चुपचाप कृष्ण-बलराम के नामकरण के लिए गोकुल भेजते हैं। देवकी और वसुदेव दोनो ही को यह पता पहले से चल जाता है कि उनके यहा साक्षात् परब्रह्म प्रगट होने वाले है और कृष्ण भी कारागृह मे चतुर्भुजी रूप मे ही उनके सम्मुख प्रगट होते हैं। तब दोनो ही पुरुष-स्त्री उनकी स्तुति करते हैं, परतु यह सब जानते हुए भी उनकी कृष्ण के ईश्वरीय रूप मे आस्था दृढ नही हो पाती यद्यपि वह आरभ से ही उनके भक्त है। रास मे वसुदेव-देवकी वात्सल्य भक्ति की युगल मूर्ति के रूप मे चित्रित किये जाते हैं। माता देवकी मे वह सभी विशेषताए हैं जो एक असहाय ममतामयी मा मे हो सकती हैं और पिता वसुदेव भी पुत्र के हित-चिंतन के यत्न मे कुछ उठा नही रखते, परतु वे कस के समक्ष एक साधारण प्रजाजन के समान ही अनुगत और असहाय व्यक्ति के रूप मे आते हैं। उनका क्षत्रियोचित तेज और दर्प रासलीलाओ मे कही नही उभरता। कस के मारने के उपरात कृष्ण जब बंदीगृह मे जाकर उनके बंधन छुडाते हैं तब भी वे सिवाय उन्हे भुजा भर कर भेंटने के कुछ कह नही पाते।

वृषभानु और कीरत : यह दोनो राधा रानी के पिता और माता हैं। रास के अनुसार ब्रज क्षेत्र के अधिपति वृषभानु जी ही है जिनकी राधा राज-कुमारी है। नद को रास मे गोपियो द्वारा एक सामंत या थोक प्रमुख जैसा चित्रित किया जाता है परतु जिन लीलाओ मे नंद और वृषभानु मिलते हैं उनमे वे बराबरी के साथ ही एक-दूसरे को भुजा भर कर भेंटते हैं और परस्पर जुहार करते हैं, परतु रास मे वृषभानु जी को नद की अपेक्षा अधिक भडकीले राजसी वस्त्र धारण कराये जाते है। नदराय जी भी उन्हे अत्यधिक मान देते हैं। दुलरी लीला मे तो वे अपने आपको वृषभानु जी का जन्म-जन्म का भिखारी ही घोषित करते हैं :

"हम तौ त्यारे जनम भिखारी"

गोप-जीवन की समस्याओ को हल करने तथा कस की क्रूरताओ से निपटने के लिए नदराय जी वृषभानु जी का ही परामर्श प्राप्त करते हैं। गोवर्धन लीला मे गोपो की पचायत भी वृषभानु जी की बात को नद जी से भी अधिक महत्व देती है। वृषभानु जी बहुत ही सयत और धीर-गभीर है। कीरत प्राय: कृष्ण की लंगराई की चर्चा उनसे करती है परतु वह यही कह कर बात टाल जाते

हैं, 'अबई बालक है 'सब सम्हरि जायगो' । जब कीरत उनसे कृष्ण द्वारा राधा की दुलरी चुरा लेने की शिकायत लेकर उन्हे नदराय जी के पास जाने को कहती हैं तो वह यही कह कर उसकी उपेक्षा करते हैं, 'तो कहा भयो ! दुलरी राधा ने पहरी तो और कन्हैया ने पहरी तो, जामें फरक ही कहा है ।' परतु कीरत के आग्रह पर अत मे उन्हे नद बाबा के यहा जाना ही पडता है ।

कीरत माता जहा राधा को अपार प्यार करती हैं वहा कृष्ण को काला और चोर समझ कर उनसे राधा की सगाई करने से बराबर कतराती हैं परतु बाद मे पूरनमासी पुरोहितानी के समझाने पर वह उन्हे सगाई के लिए कृष्ण को बुलाने के लिए भेज देती हैं । इस प्रकार कीरत जी की इच्छा से राधा-कृष्ण की सगाई हो जाती है ।

पूरनमासी पुरोहितानी . भक्ति-साहित्य मे घोष परिवारो की पुरोहितानी के रूप में पौर्णमासी का उल्लेख हुआ है और उन्हे एक विदुषी नारी के रूप मे चित्रित किया गया है ।[१] रास की 'श्याम सगाई' लीला में इन्ही पूरनमासी जी की एक वृद्धा पुरोहितानी के रूप मे आकर्षक भूमिका आती है । जसोदा के यहा से राधा के लौटने पर उनकी माता कीरत राधा की वेणी गुंथी और गोद भरी देखकर इस सबका आशय पूछने के लिए सखियो द्वारा पूरनमासी को आवाज लगवाती हैं तो शृगार घर मे से ही पूरनमासी सखियो से उस समय आने मे यह कह कर असमर्थता प्रकट करती है कि 'सखी, जा समे मैं अपने गुपाल जी की पूजा करि रही हू' । पर जब सभी मच से पुकार कर कहती है कि 'अजी पूरनमासी जी, आपके लड्डुआन के भोजन है और सवा रुपैया दच्छिना को मिलैगो' तो वह कह देती है, 'अच्छी सखी तो, गुपाल जी तो घर के है, कोऊ बात नायें फिर पूजा है जायगी' और लाठी टेकती वृद्धा ब्राह्मणी के रूप मे लडखड़ाती चाल से कमर झुकाये पूरनमासी मच पर आती हैं और कीरत रानी को समझाती है कि जसोदा ने जो कुछ किया है उसका आशय यही है कि वह आपकी कुवरि राधा को अपने कनुआ के लिए चाहती है । यह सुनकर कीरत कृष्ण को काला और चोर कह कर इस संबध की उपेक्षा करती है तो पूरन-मासी उन्हे समझाती है कि 'रानी जी, बु कारो नाये जगत् को उज्यारो है और रही चोरी की बात सो ये समस्त चराचर ही चोर है, देखो रानी जू—

१. धर्म्म-पत्न्या पालिते तत्पाति स्याद् ।
गोमान् पुत्री वित् वाश्चायुराढ्य ।
इत्याहास्मान् पौर्णमासी स्मृतिज्ञा ।
सेय तत्वाय्यार्पिता धर्म्म-गुप्त्यै ।
(श्रीगोविन्द लीलामृतम् : कृष्णदास कविराज, सर्ग ५, श्लोक ६६)

जगत में देखे सो सव चोर।
हानि लाभ तृष्णा माया में, गिनत न सध्या भोर।
राजा चोर, राव और रानी, सहर चोर व्योपारी।
पाँच चोर सवके उर भीरत, कहा पुरुष कहा नारी।
ब्रह्मा चोर आय वृदावन, वालक वत्स चुराये।
इन्द्र चोर पृथु को हय चोरयो, वहु पाखंड वनाये।
संकर चोर हरत वहु अवगुन, हर हर जोइ पुकारे।
सत चोर हरि हृदय चुरायो, जो त्रिभुवन उद्धारे।
सव मिलि चोरी करी स्याम की, जो जापै वनि आई।
'सूरदास' सठ कहाँ लौ वरनौ, माखन चोर कन्हाई।

पूरनमासी के इस कथन से कीरत कृष्ण से राधा के विवाह के प्रस्ताव पर अर्ध सहमति प्रदान करके पूरनमासी जी को कृष्ण को (देखने के लिए) वुला लाने को भेजती हैं। पूरनमासी को व्याह के लोभी कृष्ण मार्ग मे ही मिल जाते है। जव पूरनमासी उनसे कहती है कि 'कहौ तौ तिहारौ राधा ते व्याह कराय दऊ' तो कृष्ण इस शुभ कार्य को सपन्न करा देने के लिए खूव खुशामद करते हैं और हा-हा खाते हैं। इस पर पूरनमासी उन्हे सज-सभल कर और 'घोटून तक काजर लगाय कैं' सग चलने को कहती हैं और कृष्ण पूरनमासी की डगमगाती पीठ पर चढ कर वरसाने जा पहुचते हैं। पूरनमासी कीरत रानी को पूर्व की भविष्यवाणिया और किस्से-कहानी सुनाकर तथा कृष्ण की प्रशसा करके कीरत द्वारा उनसे राधा की सगाई करा देती हैं।

इस भाति पूरनमासी की भूमिका मे हास्य के साथ उनकी जोड-तोड और पुरोहितानी कर्म का अच्छा परिचय मिलता है। उनकी भूमिका रास मे बड़ी आकर्षक और मधुर है। भोजन की प्रेमी और दक्षिणा की लोभिन होने के कारण वह कई वार अपने श्रोताओ को खिलखिला कर हसने का अवसर प्रदान करती है।

कुब्जा : कुब्जा की उपस्थिति रास मे दो लीलाओ मे होती है। (१) कंस वध लीला मे कुब्जा उद्धार के प्रसग मे, (२) उद्धव लीला मे उद्धव द्वारा कृष्ण द्वारा गोपियो को सदेश भेजते समय। कुब्जा उद्धार लीला मे वह एक कुरूपा प्रौढ नारी के रूप झुकी हुई कमर से हिलती-डुलती आती है और कृष्ण उसके चदन लगाने पर प्रसन्न होकर कमर मे लात लगाकर उसे सीधी कर देते हैं। तव वह उनकी स्तुति करके और कस-वध के उपरात कृष्ण से अपने घर पधारने का आश्वासन लेकर चली जाती है। इस लीला मे उसका चरित्र रास मे वहुत दवा-दवा-सा है जिसे उभारने की आवश्यकता है। उद्धव जी के व्रज जाते समय वह महारानी के रूप मे मंच पर आती है और दासी को

भेजकर जब वह उद्धव जी को बुलवाती है तो उद्धव जी उसे 'महारानी जी' कह कर संबोधित करते हैं। यहा वह उद्धव जी के हाथो सूरदास के पदो को गाकर गोपियो को अपना सदेश भेजती है। कोई मंडली सूरदास जी के दो और कोई निम्न तीन पद गवाती हैं :

(१) सुनियत ऊधौ लियौ सदेसौ तुम गोकुल कौ जात।
पाछे करि गोपिन सो कहियौ, एक हमारी बात।

(२) हम पर काहेकौ झुरत ब्रजनारी।
साझ्यौ भाग्य नही काहू कौ, हरि की कृपा जु न्यारी।

(३) ऊधौ ये राधा सौ कहियौ।
जैसी कृपा स्याम मो पै कीन्ही, आपहु करत सो रहियौ।

इस प्रकार कंस-बध लीला मे ब्रजवासी दास जी के 'ब्रज-विलास' तथा उद्धव-लीला मे सूरसागर के उक्त तीनो पदो के आधार पर रास मे कुब्जा का चरित्र खडा होता है। अब हमारे 'कूबरी' ग्रंथ के आधार पर भी कई मडलियो ने कुब्जा के इस सदेश का विस्तार कर दिया है। कुब्जा कृष्ण की एक अनुरक्त भक्त, सपत्नी की डाह से परिपूर्ण नारी और गोपियो की छिद्रान्वेषणी है जो उन्हे उपालभ देने का एक अच्छा अवसर उद्धव लीला मे पा जाती है। गोपियो से बराबरी का दावा रखती हुई भी वह राधा की गरिमा और महत्ता के प्रति आस्थावान है और स्वय को उनकी दासी और हेय नारी मानकर उनके कृपा भाव की आकाक्षा रखती है।

अन्य नारी पात्र : उक्त नारी पात्रो के अतिरिक्त रास मे कुछ और भी नारी पात्र एक या दो लीलाओ मे आते हैं जैसे रोहिणी गोवर्धन लीला मे, पूतना (पूतना-वध लीला मे) लक्ष्मी और योगमाया (जन्म लीला मे) ढाढिन (राधा व कृष्ण की जन्म बधाई के समय) धोबिन (कस-वध लीला मे धोबी-वध के समय) ऐसे सब नारी पात्रो मे धोबिन और ढाढिन की भूमिका तो नृत्य और गायन प्रधान है तथा शेष सब पात्र कोई विशेष महत्वपूर्ण भूमिका का संपादन नही करते। वे सब कृष्ण के अनुवर्ती मात्र हैं जो लीला प्रसंग मे पढी जाने वाली चौपाइयो का अर्थ भर कर देते हैं। अतः इन सब पात्रो का चरित्र वही है जो ब्रजवासीदास जी के 'ब्रज विलास' मे चित्रित है। ढाढिन और धोबिन नृत्य प्रधान चरित्र हैं जिनमे धोबिन ब्रज की एक जाति विशेष मे प्रचलित गीत और नृत्यो का सफल प्रदर्शन करती है जबकि ढाढिन प्राचीन वाणी के पदो पर ढाढी के साथ नृत्य करती है।

कंस . रास मे खलनायक की भूमिका प्रस्तुत करता है, परतु यहा वह एक वीर और प्रतापी नरेश के रूप मे नही वरन् एक प्राण भीरु डरपोक खलनायक के रूप मे ही अधिक उभारा जाता है। मरने का भय

उसे आरंभ से अंत तक घेरे रहता है और वह किसी बड़े उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही वरन् अपने प्राणो को बचाने के यत्न मे ही कृष्ण से डरता और लड़ता प्रतीत होता है। उसे रास मे एक वीर और प्रतापी यदुवशी के रूप मे नही वरन् एक गौ, ब्राह्मण और यज्ञो के विरोधी विवेकहीन और चाटुकारिता-प्रिय राक्षस नरेश के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। कृष्ण को मारने के लिए वह जिसे भी गोकुल भेजता है उसे आधा राज्य दे देने का लोभ देता है जो उसकी असहाय स्थिति तथा पौरुष की हीनता का प्रतीक है। यही नही जब उसे कृष्ण द्वारा किसी असुर की मृत्यु का समाचार सुनाया जाता है तो वह बेसुध धड़ाम से सिंहासन पर गिरने का अभिनय करता है और तब दूत और मंत्री दौडकर अपने वस्त्रो से उसकी वायु झलकर उसे चैतन्य कराते है। यह सब दृश्य दर्शको को केवल हंसते ही हैं। रास मे कंस के दरबार का भी कोई भव्य रूप दर्शको के सामने नही उभरता। एक पेट फुलाये हुए अटपटे से मुशी जी या दीवान जी (जो कस के मत्री होते हैं) तथा लाठी या छड़ी के लिए काले वस्त्र पहने हुए दूत ही, एकमात्र उसके दरबार की शोभा बढाते है जो कभी नाच कर और कभी गाकर उसका मनोरजन करते हैं। वे रास मे कंस के स्वर से स्वर मिला कर समवेत रूप मे एक अनूठे ढंग से कंस के साथ 'ठीक' बोल कर उसके हर प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। यदि उनमे से कोई एक कभी कोई बात कस की इच्छा के विरुद्ध कह देता है तो कस तुरत क्रोध का नाट्य करके उस पर तलवार तान लेता है। तब वह व्यक्ति हाथ जोडकर क्षमा मागता हुआ झुकता है और कहता है, 'सरकार मर गये। घडी खमान अपराध छमा होय', तो कस अपनी तलवार नीची कर लेता है। इस प्रकार कस के दरबार मे आदि से अत तक एक हास्ययुक्त भोंडापन विद्यमान रहता है। रास मे कभी-कभी कंस का विवेक भी जागृत होता है परंतु जब वह कोई उचित निर्णय करता है तभी नारद जी आकर उसे विपरीत परामर्श दे जाते है जिसे मानकर वह तुरंत अपने ठीक निर्णय को बदल कर विपरीत आचरण आरभ कर देता है। देवताओ का विरोधी होते हुए भी कस शिवजी का भक्त और नारद जी मे श्रद्धा रखता दिखलाया जाता है। दीवानजी और दूत उसके ऊपर से समर्थक और भीतर से विरोधी होते हैं। वे कस का उसके मुह पर तो जोर से 'ठीक है' कह कर समर्थन करते हैं और फिर आगे आकर दर्शको के सम्मुख धीरे से कहते हैं, 'अब जल्दी मरिगे, बखत आय रह्यो है, इसी प्रकार जब कंस पर कोई सकट आता है तो यह लोग तुरत छुट्टी मागने को तैयार हो जाते हैं। कंस जब छुट्टी का कारण पूछता है तो अक्सर वे उससे अपनी मा के विवाह होने का या इसी प्रकार के किसी अटपटे कार्य का बहाना करते हैं। गाना और नाचना कस के दरबार में इन्ही के द्वारा संपन्न होता है।

कंस के दरबार मे पहले ब्रजभाषा का ही प्रचलन था, परतु धीरे-धीरे अब वहा खडीबोली बोली जाने लगी है। कुछ मडलियो के कस तो उर्दू प्रधान हिंदी बोलते हैं और कस के सवादो मे आत्मश्लाघा भी यहा शेरो मे की जाने लगी है।

कालीदास पंडित : दूत और मंत्री से मिलती-जुलती भूमिका ही जन्म-लीला मे कालीदास पडित की होती है। वह कस का बुलावा सुनकर ही बीमार होने का बहाना करके उसके पास जाने से बचना चाहता है परतु जब विवाह की बात सुनता है तो जान हथेली पर लेकर कंस के दरबार मे जाकर उसे आशीर्वाद देता है परंतु जब कस को उसका आशीर्वाद पसद नही आता तो वह उसका अर्थ बदल कर कंस को संतुष्ट करता है और कंस की इच्छानुसार देवकी के लिए लडके की खोज मे निकलता है और वसुदेव जी से देवकी का विवाह पक्का करके कस को बरात के आगमन की सूचना देता है। यह पात्र भी हास्य रस का अच्छा आलबन है।

अक्रूर : रास मे अक्रूर केवल अक्रूर लीला मे ही कंस के दरबार मे आते हैं। वे भी भीतर से कस के विरोधी और ऊपर से उसके अनुगत हैं। कृष्ण से उनकी सहानुभूति है परतु तब भी कस के सामने वह उसका विरोध करने का साहस नही रखते और उसके कहने से कृष्ण बलराम को लेने गोकुल जाते है। गोकुल से लौटते समय वे कृष्ण-बलराम की कोमल वय को देखकर उनका कस के द्वारा मारा जाना निश्चित समझकर अपने आपको स्वगत कथन द्वारा धिक्कारते हैं। अक्रूर को दुखी देखकर कृष्ण मार्ग मे उनके यमुना-स्नान के लिए रुकने पर यमुना मे गोता लेने पर उन्हे अपना ईश्वरीय रूप दिखलाते है। तब अक्रूर की दुविधा दूर हो जाती है और वे कृष्ण को मथुरा ले जाते हैं।

उग्रसेन · गौ, ब्राह्मण और यज्ञो के भक्त एक वयोवृद्ध अशक्त राजा के रूप मे केवल कृष्ण-जन्म लीला मे आते है जो उनके पुत्र राजकुमार कस के द्वारा बदी बना लिए जाते है। तब वे कस को भली-बुरी कहते हैं और दूत द्वारा कारागार मे ले जाये जाते है। कस-वध लीला मे कृष्ण उन्हे कारागृह से मुक्त करते हैं। वह कस के वध का समर्थन करते है और कृष्ण से राजा बनने को कहते हैं परंतु कृष्ण उन्हे ही पुन. गद्दी पर बैठाल देते हैं। रास के उग्रसेन मे उनका पिता कही उभरता दिखलाई नही देता।

नारद : रास मे भी नारद का प्राय. वही रूप है जो अन्य पुराणों मे मिलता है। वह एक भ्रमणशील मुनि है जिनका मुख्य कार्य इधर की उधर और उधर की इधर लगाना है। कस के वह सच्चे हितैषी बन कर उसे शीघ्र मरवाने के लिए उसे धर्म विरुद्ध परामर्श देते है। रास के नारद की विशेषता यही है कि रास मे वह ब्रह्मज्ञानी मुनि के रूप मे नही आते, यहा वे कृष्ण के ही भक्त हैं।

महादेव : कृष्ण के अनन्य भक्त होने के साथ योगी हैं। भयकर योगी-

वेश मे वे सर्वप्रथम कृष्ण के जन्म के उपरात उनके दर्शन करने गोकुल आते हैं और जशोदा के मना करने पर उसके द्वार पर धूनी रमा देते हैं और अत मे उनका दर्शन पा ही लेते हैं। इस लीला में जशोदा को वह अपना परिचय लोक-देवता 'बूढ़े वावू' के रूप मे देते है और ब्रज की लोक परपरा के अनुसार कन्हैया के विवाह के समय जशोदा से अपना कढी भात से खप्पर भराने की आशा रखते हैं। महादेव यहा देवता के साथ नजर उतारने वाले ओझा, भविष्यवक्ता तथा नर्तक आदि विविध रूपो मे एक साथ उभरते हैं।

अन्य देवता : अन्य देवताओ मे विष्णु (कृष्ण के ही प्रतिरूप किंतु चतुर्भुज-धारी) इद्र, ब्रह्मा आदि भी कुछ लीलाओ मे आते है। वे प्राय. कृष्ण के माधुर्य मे विमोहित होकर उनकी परीक्षा लेते हैं और अंत मे पराभूत होकर उनकी स्तुति करते है और क्षमा माग कर चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त रास मे नल, कूवर, वरुण, जसोदा के पीहर का पाडे (पाडे लीला मे) ऋषि, ढाढी, भाट, नट, गोविन्द गोप, श्रीघर, गुरु गर्गाचार्य, सुदामा, भील, सुदामा माली, कुवलियापीड हाथी तथा उसका महावत जैसे अनेक पात्र विभिन्न लीलाओ मे आते है। इनमें से अधिकाश पात्र प्रायः ब्रज-विलास पर आधारित लीलाओ के हैं जो केवल उसकी चौपाइयो का अर्थ भर करते हैं। ढाढी भाट, नट आदि ब्रज की लोक-संस्कृति के प्रतिनिधि होकर नाचने-गाने, विरुदावली कहने तथा दक्षिणा प्राप्त करने वाले हैं। पाडे जी भक्त हैं जो छुआछूत मानने वाले और अस्पर्श मे खाने के आदी ब्राह्मण हैं। भगवान के रूप मे कृष्ण को न पहचान पाने के कारण वे पहले भ्रमित रहते है और दर्शको के हास्य का आलंवन वनते हैं, परंतु जव उन्हे अपनी भूल ज्ञात होती है तो वह जसोदा के आगन मे लोट कर अपने आपको धन्य मानते हैं और भक्ति मे गद्गद हो जाते हैं।

रास के कथोपकथन

रास की कथावस्तु मे लौकिक द्वद्व या सघर्ष का अभाव रहता है अत. उसके सवाद या कथोपकथन कथा को आगे वढाने की उतावली नही करते वरन् वे आतरिक मनोभावो को चित्रित और स्पष्ट करने मे ही अधिक रुचि लेते हैं। यहा संवाद सघर्ष को व्यक्त करने के नही, रस से रसिको को विमुग्ध करने के सवल साघन हैं। रास मे सूक्ष्मतम मनोभावो की अभिव्यक्ति उसके सवादो द्वारा की जाती है। स्वगतकथन को भी रास मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो मनोभावो के साथ-साथ वातावरण तथा स्थितियों के चित्रण के समर्थ साघन हैं। रास के सवादो मे गूढ दार्शनिक तथ्य तथा भक्ति के गहन सिद्धातो को बडी सहजता से ऐसी सरल भाषा मे कह दिया जाता है कि उन्हे

साधारण से साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी समझ लेता है। रास के कथोपकथन शैली की दृष्टि से दो भागो मे बाटे जा सकते हैं: (१) पद्यात्मक (२) गद्यात्मक।

पद्यात्मक सवाद

पद्यात्मक कथोपकथन रास के गीत-नाट्य रूप को प्राणवान वनाने के सवल माध्यम हैं। यह सदैव ही आवश्यक नही होता कि सभी पद्यात्मक संवाद साज़ो पर ही गाये जाए। वे गाये भी जाते हैं और कभी-कभी पद्य के रूप मे उत्तर-प्रतिउत्तर के ढंग से बिना गायन के भी कह दिए जाते हैं, परंतु ऐसे सवादो में भी उनकी लयात्मकता तथा तुकांतो की समानता उनमे एक सरस चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न कर देती हैं। ये संवाद बोलकर फिर उसका मुख्य भाव गद्य के रूप मे भी वहुत सक्षेप मे कथन करने की परंपरा रास मे प्रचलित है, परतु यह कथन केवल पद्य का अर्थ मात्र ही नही होता, वास्तव मे वह उस पद की संवाद के रूप मे टीका होती है। इसीलिए जो रासलीलाए हाल मे ही सवादो के साथ प्रकाशित हुई है उनको इनके प्रकाशको ने 'सटीक' लिखा है। रास मे किसी सवाद को बोलकर यदि वह सीधा सरल और स्पष्ट है तो उसका वहुत सक्षिप्त साराश ही अर्थ के रूप मे कहा जाता है, परंतु यदि उसमे कुछ विशेपता है तो उसका अर्थ सवादो के रूप मे विस्तार से स्पष्ट किया जाता है। कभी-कभी एक पद को उसके सौदर्य के स्पष्टीकरण के लिए वीच-बीच में गद्य मे सवादो से अलकृत करके विभक्त कर दिया जाता है। ऐसा ही एक उदाहरण यहा प्रस्तुत है:

'स्वप्न लीला' में वाल कृष्ण स्वप्न में वरसाने मे राधा के साथ अपने विवाह का दृश्य देखते हैं तो मैया जसोदा को स्वप्न का पूरा व्योरा सुनाकर उनसे उसका अर्थ पूछते हैं। जसोदा उन्हे वतलाती है कि वरसाने में तेंने राधा को देखा है, यदि गिरिराज और जमुना मैया की कृपा हुई तो विधाता वही तेरा विवाह कराकर मेरी चिरवाछित लालसा पूरी करेगा। माता और वेटा की यह मत्रणा जव गोपियो को ज्ञात होती है तो वह कृष्ण को चोर और काला कहकर चिढाती हैं और इस विवाह को असभव वताती हैं। चाचा वृदावनदास के पदो पर आधारित इन संवादो की एक झलक देखें। निम्न पद को तीन-चार गोपिया निम्न प्रकार से नाटकीय संवाद के रूप में प्रस्तुत करती हैं:

सखी १ : क्वारे रहोगे तुम लला।
को करैगो व्याह इन गुन भयो अलि लै चला।
कटि न वांधी ही लंगोटी, तव ते सीख्यौ कला।
अव करै सो न्याय गिरधर हम न समझी भला।

वार्ता—अरी सखी इनके गुनन कू तौ हम तव ही सौं जानें हैं जव ये नगे घर-घर डोलते हैं। जव इनकी कमर पै लंगोटी हू नही रहती हती, तवई सो इनने नट की सी वडी कला दिखाई है पर अव तौ जो जे कहे सोई ठीक है और हम जो कहे सो सव वेठीक है। ये तौ चोरी करिकै हू साह हैं और हम लुटकै हू ऊपर ते और दड पामे हैं। गालवारौ जीतै और माल वारौ हारै। वाह ये अच्छौ न्याय है।

गोपी २—तू ठीक कहै है भैन। तेरी वात सुनिकें तौ मोय एक दिना की याद आय गई। देख मैया! वा दिना जव मैं अपने घर के काम-काज मे लगि रही ही तौ सखी—
अरी आखि वचाय मेरौ चोरि लियौ छला।

तीसरी गोपी—मैं धरी गिरि भोग मेवा इहि न छोडी गला।

पहली सखी—तू ठीक कहै है सखी इनकौ तौ जनम ही चोर घडी मे भयौ है—
निसि अघेरी जन्म लच्छन, चोर है
घर घला। वृंदावन हित रूप वन्दो वाम पद इहि तला।

कृष्ण—(गोपियो को उत्तर न देकर जसोदा से)
अरी मैया! ये गोपी वड़ी चपर-चपर करै हैं, तू इनकू निकार दै, नही तौ मैं ही इनकू निकारै दऊ।
जाहु घरवसी फिर वोली तोहि किन यह सीख सिखाई।
मैया कहै काल्हि आवैगी, तू जनि लेहु वुराई।
प्रीति करौं तेरे वेटा सो, मानि भरुतौ घर जाई।
दूध-दही के भाडे फोरन वानर करो सहाई।

समाजी—हसि गोपी गई भवन जसोमति भरि लिये अंक कन्हाई।
वृंदावन हित रूप चूम मुख, लेति वारनै माई।
(गोपिन कौ जानो और जसोदा कौ कृष्ण कू अक मे भरिकै मुख चूमनौ)

इस प्रसग से रास के संवादो की निम्न विशिष्टताओ का पता चलता है :

(१) उन सवादो मे भी, जो मूलत पद्यात्मक हैं, नाटकीयता की वृद्धि तथा भाव के स्पष्टीकरण के लिए रसोद्रेक मे सहायक गद्याश बीच-बीच मे जोड़ दिए जाते हैं। साथ ही एक पद के भी कई टुकडे करके उसे कई पात्रो द्वारा भी कहलाया जाता है जिससे संवादो मे अधिक गति और तीव्रता आती है।

(२) पद्यात्मक संवादो मे प्राय. पद के उत्तर मे पद ही प्रस्तुत करने की परपरा है परंतु यह आवश्यक नही होता कि प्रत्युत्तर मे कहे जाने वाला

पद भी उसी तुकात या लय का हो। साथ ही यह सदा आवश्यक नही कि उत्तर तर्कसगत ही हो। उक्त संवाद मे गोपियो के प्रति पद के उत्तर मे कहा जाने वाला पद वास्तव मे उसका उत्तर नही है वरन् वह गोपियो के कथन से उत्पन्न कृष्ण की बाल सुलभ सहज खीज का परिचायक ही है, परतु इसका यह अभिप्राय नही है कि रास मे बात का उत्तर बात से नही दिया जाता। कभी-कभी एक ही पद मे, उत्तर और प्रतिउत्तर दोनो एकसाथ भी गुथे होते है। उदाहरण के लिए, इसी लीला के निम्न पद मे एक सखी कृष्ण की समझदारी का मजाक बनाती है। उसका कहना है :

मोहन समझि की बलि जाऊँ।
कहत गोपी और काढ्यो, बाप को तुम नाऊँ।
न्याय की सुनि बात कान्हर, नही चुगली खाऊँ।
तनक सौ अति छल भरचौ तैं, सब नचायौ गाऊँ।
दूध हाँडी फोरिकै, आयौ पिछेडे पाऊँ।
कहा देउ उराहनो, मुख कहत हौ जु सकाऊँ।

इन पक्तियो के बाद यही से कृष्ण का उत्तर आरभ हो जाता है—

कृष्ण : यह कहत है झूठ, हौ पर सदन जात डराऊँ।
बसत है किहि ओर, मैं देख्यौ न याको ठाऊँ।
जो बिगारे काम तासो उलटि हौं जु रिसाऊं।
वृंदावन हित रूप झूंठी बात को पछिताऊँ।

रास के सवाद कठिन पदो को स्थूल रूप मे प्रस्तुत करने के भी महत्व-पूर्ण साधन हैं। उदाहरण के लिए, हम सूरदास के प्रसिद्ध दृष्टिकूट 'अद्भुत एक अनुपम बाग' को ले सकते हैं। यह पद 'अनुराग लीला' मे प्रयुक्त होता है। 'अनुराग लीला' मे कृष्ण के वियोग मे व्याकुल मानिनी राधा कृष्ण को पाने के लिए छटपटा उठती है क्योकि कृष्ण राधा के अभिमान को विगलित करने के लिए उनके द्वार से झाक कर लौट गये हैं। ऐसी दशा मे कृष्ण को मना लाने के लिए चतुर दूती ललिता जी राधा द्वारा भेजी जाती हैं। कृष्ण उनके आने का कारण समझते हुए भी इठला कर पूछते है कि .

"कहो सखी या असमय या बन मे कैसें पधारी।"

तब ललिता जी उत्तर देती हैं—

"हे प्यारे आज आपके या श्री वृदावन मे एक अनोखौ बगीचा फूल्यौ है सो हम आपकू वाय दिखायवे कू लै चलिगी।"

कृष्ण : सखी ऐसी वा बगीचा मे कहा विशेषता है ?

ललिता · सुनो प्यारे—

अद्‌भुत एक अनुपम बाग ।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग ।
हे स्यामसुंदर, आज मैं एक अत्यंत अद्‌भुत और अनुपम बगीचा देखिकै आई हूँ, वाकौ वर्णन आपके आगें करूं हूं । देखौ वा बाग मे द्वै कमलन के ऊपर एक हाथी क्रीड़ा करि रह्यौ ऐ और वा हाथी के ऊपर सिंह प्रेम सो विचरि रह्यौ है ।

कृष्ण . भलौ, ये तौ बडौ अद्‌भुत बगीचा है सखी ।
सखी . और सुनौ, स्याम सुंदर !
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग ।

हे कमलनैन, वा सिंह के ऊपर सरोवर है और सरोवर के ऊपर अति सुंदर दो पर्वत हैं । उनके ऊपर कमल कौ मकरंद फूल्यौ सौ प्रतीत होय है और वाके ऊपर एक बडौ सुंदर कपोत निवास करै है और वाके ऊपर एक अमृत कौ फल लगि रह्यौ है ।

इसी शैली मे ललिता इस पूरे कूट पद का अर्थ करती जाती है और इस रूपक को स्पष्ट करने के लिए जब जिस अंग का इस नखशिख मे उल्लेख आता है उसकी ओर इंगित करके रूपक का अर्थ स्पष्ट करती जाती हैं तथा बीच-बीच मे कृष्ण ललिता को टोक कर अपना कौतूहल प्रगट करते जाते हैं । पूरा पद समाप्त होने पर कृष्ण ललिता के साथ बगीचा देखने चल देते है और इस प्रकार प्रिया-प्रियतम का मिलन होता है ।

रास के संवादो मे केवल अभिधा ही नही लक्षणा और व्यंजना वृत्तियो का भी सुंदर समावेश है । रास के इन पद्यात्मक संवादो में तर्कसंगत उत्तर-प्रत्युत्तरो में भक्ति, ज्ञान आदि दार्शनिक सिद्धातो की सहज और सरल मीमांसा भी नाटकीय रूप में दर्शकों को हृदयंगम करने का अवसर प्राप्त होता है और ये नीरस विषय भी मंच के माध्यम से बडे सरस और रागात्मक हो उठते हैं । उदाहरण के लिए, एक ओर खडे ज्ञानी उद्धव और दूसरी ओर स्थित सगुण श्याम की उपासिका-गोपिकाओ के यह उत्तर-प्रत्युत्तर देखें :

उद्धव : यह सब सगुन उपाधि, रूप निर्गुन है उनकौ ।
निरविकार, निर्लेप, लगत नहिं तीनो गुन कौ ।
हाथ न पाँउ न नासिका, नैन बैन नहिं कान ।
अच्युत जोति प्रकास ही, सकल विस्व के प्रान ।
सुनौ ब्रजनागरी ।।

गोपी : जो मुख नाहिन हतौ, कहौ किन माखन खायौ।
पाँमन बिन गौ संग, कहौ बन-बन को धायौ।
आँखिन मे अजन दियौ, गोवर्धन लियौ हाथ।
नद जसोदा पूत हैं, कुँमर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन स्याम के ॥

उद्धव : जाहि कहत तुम कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता।
अखिल अड ब्रह्माड, बिस्व उनही मे जाता।
लीला गुन अवतार ह्वै, धरि आये तनु स्याम।
जोग-जुगति ही पाइये, परब्रह्म पुर धाम।
सुनौ ब्रजनागरी ॥

गोपी : ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि भावै।
प्रेम सहित हम पास, नद नदन गुन गावै।
नैन बैन मन प्रान मे, मोहन गुन भरपूर।
प्रेम पियूषहि छाँड़ि कै, कौन समेटै धूर।
सखा सुन स्याम के ॥ इत्यादि इत्यादि।

गद्यात्मक संवाद

रास मे जिन उक्त पद्यात्मक सवादो की चर्चा हुई है वे मुख्यत. प्राचीन भक्त कवियो के वाणी-साहित्य पर आधारित है जिसे रासधारियो ने अपने ढग से गद्य सवादो के साथ सटीक बना कर नाटकीयता प्रदान की है, परंतु रास के गद्य-सवाद किसी भक्त की वाणी पर आधारित नही होते। वे ब्रज-भक्ति और ब्रज-सस्कृति की अपनी उपज है जो रासधारियो द्वारा स्वय निर्मित हैं। रास के सवाद कभी लिखे नही जाते। वह मौखिक परपरा से ही एक व्यक्ति से दूसरे को मच पर देख और सुनकर प्राप्त होते है। ऐसी दशा मे यह पात्र के अपने विवेक और बुद्धि पर निर्भर करता है कि वह अपनी अभि-व्यक्ति को कितनी प्राणवान तथा भाषा को स्थिति के अनुरूप कितनी प्रभाव-शालिनी बना पाता है, परंतु रास के अधिकाश पात्र इस प्रकार के सवादो को बोलते-बोलते उनमे इतने रम गये हैं कि वे बिना किसी अडचन के अपने संवादो की सफल अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं। यहा हम 'गोप देवी लीला' मे प्रचलित एक सखी और मनसुखा का संवाद प्रस्तुत करते है जिसमें हास्य के सुमधुर वातावरण मे कृष्ण के गोपाल रूप का दार्शनिक भावभूमि पर सफल चित्रण हुआ है। ललिता कृष्ण की खोज में निकलती है तो वृंदावन में उसकी कृष्ण के सखा मनसुखा से भेट हो जाती है, तब ललिता मनसुखा से पूछती है :

ललिता : अरे लाला मनसुखा ! या समें तुम्हारे सखा गोपाल कहा हैं, तुम्हे पतौ होय तौ कृपा करिकैं वताय देउ ।

मधुमंगल : अरी सखी ! तू कौन से गोपाल कू पूछै है ?

ललिता . अरे लाला ! आज तौ वड़ौ भोरौ बनि रह्यौ है। कहा गोपाल हू दस-वीस हैं !

मधुमगल : अरी सखी, मैं भोरौ नही, तुही भोरी है, दस वीस ही नही या व्रज मे अनगिनती गोपाल हैं ।

ललिता : अरे लाला ! अब ताई तौ हम एक ही गोपाल कू जानैं ही, अब ये अनगिनती गोपाल कौनसे है गये ?

मधुमगल : देख सखी "गोपालय तीत गोपाल." । जो गायन कौ पालन करै सोई गोपाल, सो या व्रज मे तौ घर-घर मे गोपाल हैं । भला तेरे गोपाल कौ का कोई झंडा गडि रह्यौ ऐ ?

ललिता : हाँ लाला ! मेरे गोपाल कौ तौ झडा गडि रह्यौ ऐ ! देख लाला, गो नाम इन्द्रीन कौ है जो इन्द्रीन कौ भरन-पोपन करै, उनकौ प्रेरक होय, स्वामी होय, हम वाकू गोपाल कहैं हैं ।

मधुमगल · सखी मैं तेरी वात कौ यथार्थ भाव नही समझ्यौ, नैंक समुझाय कै वताय ।

ललिता : अरे मधुमगल, लाला ! इन्द्रीन कौ स्वामी मन है, जासौं जो मन कौ हू प्रेरक होय सोई गोपाल कहावै है। "इन्द्रियाणा मन: स्वासिम ।"

मधुमंगल : अरी सखी ! तौ ऐसौ या व्रज मैं कौन सौ गोपाल है ?

ललिता : अरे वावरे ! तू उनके स्वरूप कू नही जानै है। वौ नन्द-नन्दन गोपाल हैं ।

मधुमंगल : तौ सखी वौ नन्द-नन्दन कैसें मन कौ प्रेरक है ?

ललिता : हे लालन, मनसुख लाल ! तुमने आज वड़ी ही मन कू सुख दैवे वारी वात पूछी है । ये प्रस्न तुम्हारे ही जोग्य है चौंकै तुम्हारौ तौ नाम ही मनसुखा है । तुम यथा नाम तथा गुण हौ और स्वय गोपाल कू हू अपने मधुर वचनन सौं सुख देवे बारे हौ । सुनौ, या जगत मे जितने देहधारी है उनकी सवकी आत्मा रूप मन के प्रेरक गोपाल ही है और इन्द्री रूप जीव जो जीवात्मा है सो वह गोपाल सवकू अपने-अपने भावन द्वारा पोषित करि आनद देंय है, जैसे तुमको साख्य रसानुसार और हमको माधुर्य रसानुसार, नन्द जसोदा मैया कू वात्सल्य रसानुसार वे पोषित करें हैं और रहे जो अन्य भावन वारे जीव उनको हू वे उनके भाव के अनुसार पोषें हैं ।

मधुमगल : अरी सखी ! जो जिही बात है तौ तू हमकू वाही को सरूप समझि कै बताय दै कै कहा बातै ।

ललिता अरे लाला ! तू फिरि भोरी बात करन लग्यौ । अरे बाबरे जाकी बात होय है वो वाही सों कही जाय है ।

मधुमंगल : सखी भोरापन की बात तौ तू ही करि रही है। का तू हमकू और कृष्न कू द्वै समझै है, भेद बुद्धि करै है। देख सुनि :

सनेही एक गोपाल हमारौ ।
एक प्रेम रस रंग परस्पर, अद्भुत भाँति निहारौ ।
तन सो तन, मन सो मन उरझ्यौ, को करि सकै निवारौ ।
ऐसौ प्रेम हमारौ बाको, घन दामिन सम होय न न्यारौ ।
'सूर स्याम' हम वे जु एक है, तू समुझै नहि रूप हमारौ ।

सखी, तू तौ जान कै हू भूलि रही है। हममे और वामे छोटाई-बडाई नही है, वो हमारौ सखा है और अविच्छिन्न हमारे सग खेलै है। जब वो खेलवे मे हारि जाय है तौ हमकू कधा पै चढावे है और हमारे कंघा पै चढै है, फिर छोटाई बडाई कहाँ ?

ललिता : अरे वावरे ! मैने तोकू उनकौ इतनो अतरग स्वरूप समुझायौ पर तू नही समुझ्यौ, अब बहिरंग रूप समझि। देख वे त्रिलोकीनाथ हैं, उनने तेरे आगें गिरिराज उठायौ, इन्द्र कौ मद-मर्दन कियौ, बक, तृणावर्त, अघासुर आदि कू मारि तुम्हारी और सब व्रज की रच्छा करी। ब्रह्मा जी कौ मोह भग करिकै अपने रूप कौ बोध करायौ। इतने पै हू तू उनकू नही माने है।

मधुमंगल : अरी गमार गूजरी ! हम तेरी इन थोथी बातन कू नही माने हैं। सुन ! वो हमारे सग हमारौ जूँठौ खाय है, हमारे सग खेलै, सग सोवै और हमारी बातनि को सुनिकै रीझै है। वु हमे पीटै है हम बाय पीटें है। वो तेरौ त्रिलोकीनाथ हमारे सग कौ सखा है, हम वाय और कछू नही माने है। जो तू कहै कै वाने असुर मारे सो सब हमारी ही सहायता ते मारे और गिरिराज उठायवे मे हू वाकी कहा प्रभुता ही, वाने उँगरिया लगाई तौ लट्ठन कौ सहारौ हमनें हू लगायौ हौ ।

ललिता : अरे बावरे ग्वारिया ! मैं तो पहिले ही कहि चुकी हूँ कै वो भावाधीन हैं, भक्तवत्सल है, याही सो तुम जैसे भक्तन को आदर देय हैं।

मधुमगल : चुप्प सखी ! खबरदार ! जो भक्त-भक्त करिकै हमारौ नाम बिगार्‌यौ तौ अबई गट्ट, पट्ट, सट्ट, झट्ट, लट्ठ तन जायगौ । अरी

हम रसिक हैं, प्रेमी हैं और वाही को अग हैं। समझी भाभी।

ललिता : अरे लाला तू सत्य कहै है। तू जीत्यो मैं हारी, तुम्हारो स्वरूप ही ऐसो है। पर अब जे बताय कै तेरे प्यारे सखा नन्दन-नन्द गोपाल कहाँ मिलिगे ?

मधुमंगल : (प्रसन्न होकर) हा भाभी, अब आई है रस्ता पै। अब बताऊ हूं। देख या नमैं मेरो प्राण प्यारो सखा गोपाल श्री जमुना के किनारे एक कदम्ब की डार पकरे अपनी परम प्रिय वस्तु के ध्यान मे निमग्न भयो ठाडो है। सो तू या ही मारग सो चली जा सूधी तक्क, नाक के सूत। वो तोय आगे मिल जायगो। (सखी को जानो) ?

इस प्रकार रास के सवादो का मुख्य उद्देश्य कथा को गति देना नही वरन् उन भक्ति सिद्धातो की व्याख्या और प्रतिपादन करना है जो रासमंच की स्थापना के मूल प्रेरक है। साथ ही रास के सवादो मे पात्रो के चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से पाई जाती है।

उक्त कथोपकथनो मे कृष्ण मनसुखा और गोपियो का सुदर चरित्र-चित्रण तो है ही साथ ही उनकी कृष्ण-भक्ति और कृष्ण के स्वरूप का भी अंकन वडी कुशलता से हुआ है। रास के यह सवाद इस मंच के उस वातावरण के निर्माण मे महत्वपूर्ण योग देते हैं जो रास के शृगार रस मे किसी प्रकार का विकार नही आने देता और प्रेम भरी इन लीलाओ को देखकर भी दर्शक एक श्रद्धामयी पावनता से अभिभूत रहता है।

रासमंच के इन संवादो की एक विशेपता यह है कि जहा पद्यात्मक सवादो को सटीक वनाने मे गद्य सहायक होता है वहा गद्यात्मक सवादो में पदो का पुट उनकी प्रभावोत्पादकता वढाता है। रास के सवादो मे जहा व्रजभाषा के गद्य का वर्तमान सास्कृतिक स्वरूप प्रगट होता है वहा उसकी भावाभिव्यक्ति की क्षमता व सामर्थ्य भी प्रगट होती है।

स्वगत-कथन

संवादो के साथ-साथ रास मे स्वगत-कथन का भी पर्याप्त प्रचार है। नित्यरास में प्रवचन की चर्चा हम कर चुके हैं, परन्तु प्रवचन को स्वगत-कथन की श्रेणी मे रखना उचित नही होगा, क्योकि वह रास के दर्शको को संवोधित करके किया जाता है। कृष्ण के प्रवचन के समय राम का प्रत्येक दर्शक रासमच के एक सक्रिय श्रोता के रूप मे उस प्रवचन मे भागीदार होकर स्वय रास का एक मूक पात्र वन जाता है जिसका कार्य उस समय कृष्ण के उस उपदेश को सुनकर आनंद प्राप्त करना माना जा सकता है, परंतु स्वगत-कथन का दर्शक से

सीधा सवंध नही होता, इस समय वह केवल दर्शकमात्र ही रहता है। रासमच पर स्वगत-कथन का उपयोग प्राय. तीन स्थितियो मे होता है : (१) दृश्याकन के लिए, (२) भावी लीला-स्थिति की सूचना के लिए, (३) मन स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए।

दृश्याकन के लिए स्वगत-कथन

रास का रगमच सीधा और सरल होता है अत वहां प्रत्येक स्थिति का दृश्यांकन नही होता। ऐसी दशा मे लीला मे घटित स्थिति की सूचना स्वगत-कथन द्वारा देने का भी विधान है। उदाहरण के लिए, कालीदह लीला के उपसहार मे दावानल लीला होती है, तब कालीदह के तट पर सब ब्रजवासी सो जाते है। सबके सो जाने पर कोई एक पात्र उठता है और वह कहता है, "जाने आज बन मे जगली जीव चो चिल्लाय रहे हैं, ताप ते सरीर दह्यौ जाय रह्यौ है।" फिर वह सब ओर आख उठाकर देखता है और "आग आग" चिल्लाता है जिसे सुनकर सभी जाग उठते है और सब मिलकर भय का ऐसा नाट्य करते हैं जैसे सचमुच आग लग गई हो। तव कृष्ण उठकर उन सबकी आख वद करा कर स्वय दावानल के पान का अभिनटन करते है। इस प्रकार इस लीला मे पहले स्वगत-कथन और फिर सामूहिक हो-हल्ले से ही दृश्य-रचना की जाती है।

भावी लीला-स्थिति की सूचना के लिए

स्वगत-कथन का दूसरा रूप लीला सवधी स्थिति की सूचना के लिए होता है। उदाहरण के लिए 'ऊखल लीला' मे जब जसोदा कृष्ण को बाधकर अंदर चली जाती है तो कृष्ण कहते हैं, "अहा देखौ, पूर्व जन्म मे कुबेर के पुत्र नल कूबर और मणिग्रीव साप के कारन जड वनिकै अपने उद्धार के ताई हमारे द्वारे पै वृक्ष रूप मे ठाडे है। उन्ही के उद्धार के ताई आज मैंने मैया ते अपने हाथ बधाये हैं। सो अव चलू और उनको कष्ट दूर करू! " यह कहकर बाल कृष्ण ऊखल को खीच कर वृक्षो के समीप जाते है और उनको हाथ का झटका देकर गिरा देते हैं।

मन स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए

रासमच पर सबसे अधिक लवे और प्रभावपूर्ण स्वगत-कथन मन स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए ही होते है। रास का मच श्रृगार-रस प्रधान है अतः निकुजलीला मे नायक और नायिका के हृदय की ऐसी मन स्थिति प्रायः हो जाती है जिसे वह किसी से भी प्रगट नही करना चाहते। ऐसी दशा मे वह स्वगत-कथन के रूप मे ही अपने मनोभावो को प्रगट करते है। कभी-कभी

प्रेमातिरेक मे जब प्रेमी प्रमाद जैसी दशा को प्राप्त हो जाता है, तब वह अपने मनोभावो को अबाध गति से लबे स्वगत-कथन द्वारा प्रगट करता है। उद्धव लीला मे भगवान कृष्ण की ब्रज के विरह मे कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है। जब उद्धव के सामने ब्रज की चर्चा चलती है तो कृष्ण रास मे अबाध गति से दस-पद्रह मिनिट तक ब्रज की और ब्रजवासियो से अपने संबध तथा ब्रज की प्राकृतिक शोभा और सहज स्नेह का बखान करते जाते हैं। ऐसे प्रवचनो मे अतीत के वातावरण के शब्दचित्र अपने सहज रूप मे उभरते हैं जो श्रोताओ को रसमग्न करने मे समर्थ होते हैं। इन स्वगत-कथनो मे यद्यपि उद्धव बीच-बीच मे उनको (कृष्ण को) टोकते हैं और वह उनको उचित उत्तर देते हैं परंतु इस दृष्टि से हम इस लबे स्वगत-कथन को संवाद नही कह सकते। उद्धव की यह टोका-टोकी केवल इस लबे स्वगत-कथन मे नाटकीयता का पुट देने भर के लिए ही समझी जानी चाहिए जो स्वगत-कथन को प्रभावशाली बनाती है, अन्यथा कृष्ण के ये उद्‌गार वास्तव मे एक भावभीना लबा स्वगत-कथन ही है। यह स्वगत-कथन पूरे रास में कदाचित सबसे बडा है जिसमे ब्रज और ब्रजवासियो का बडा ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। हम यहा उसका कुछ अश अविकल रूप से उद्‌धृत करना चाहते हैं।

'उद्धव लीला' के आरभ मे विचारमग्न मथुराधीश की झांकी होती है। उदास भाव मे मथुराधीश कृष्ण पहले स्वगत-कथन मे ब्रज की याद करते हैं और उद्धव को वहां भेजने का निश्चय करते है। उद्धव को ब्रज भेजने के पाच कारण निम्न स्वगत-कथन मे व्यक्त करते हैं। इस स्वगत-कथन के बीच के दोहे और पद प्रायः गाये नही जाते, वह भावातिरेक मे गद्यांश के ढंग पर ही बोले जाते हैं। कृष्ण कहते हैं :

ऊधौ को ब्रज भेजि हो, यहै जिये मे आज।
सरि है एकहि पथ मे, पाँच-पाँच मो काज॥

ऊधौ कू ब्रज भेजिवे कौ मेरौ पहलौ प्रयोजन तो ये है :

माता जसुदा तात नद, गोपी गोपरु ग्वाल।
धीरज सबहि बँधाय है, कहि है, मिलि है लाल॥

और दूसरौ प्रयोजन ये है कै :

ऊधौ ज्ञान गुमान मे, कहे न समुझत प्रीति।
गर्व न राखो काहुकौ, यह है मेरी रीति॥

या सो याकौ अभिमान गोपिन द्वारा ही चूर्ण करवाऊँ। याकू ब्रज भेजने कौ तीसरौ प्रयोजन ये हू है कै :

सगुन-निगुन द्वै पंथ हैं, कहियत सास्त्र विचार।
सहज, सहल, तिन मध्य जो, ताको होय निरवार ॥

जो कहूँ उद्धव अपनो रंग ब्रजगोपिन पै चढाय सक्यौ तौ ज्ञान योग कौ मारग सूधौ सिद्ध है जायगौ और जो ब्रज गोपी या पै अपनौ रग चढाय दिगी तौ प्रेम भक्ति कौ मारग सूधौ है जायगौ। फेरि उद्धव कू ब्रज भेजिवे कौ चौथौ कारन ये है कै :

उद्धव मम अतर सखा, मेरौ दूजौ रूप।
वंचित रहै रस-प्रेम सो, यह नहि कृपा स्वरूप ॥
परम कृपा मेरी फलै, करि वृंदावन वास।
सो दैहो निज सखा को, उपजै जब अभिलास ॥

ब्रज मे जाये विना याके हृदै मे प्रेम की अभिलाषा कौ उदय नही होयगौ। गोप और गोपिन कौ प्रेम निरखि कै जब याके हृदै मे ब्रजवास की लालसा जगैगी तौ मैं जापै कृपा करिकै याहि ब्रजवास प्रदान करूँगौ और पाँचमो प्रयोजन ये है कै मोकू मथुरा मे अपने सग के ताई एक रसिक सखा मिल जायगौ :

उत मे गोपिन की कृपा, उद्धव पैहै प्रीति।
इत कारज मेरौ सरै, पाँउ रसिक वर मीत ॥
प्रेम भक्ति नवरग की, देनी ब्रज अभिराम।
विना रँग वहिरग मन, मेरे ढिग कहा काम ॥

श्लोक— यासां प्रेम पाठिकानां स्नातकौ रसिकेश्वर।
तस्मिन गुरुकुले घ्येतु प्रेपितो बन्धु भावत. ॥

या सो मैं आज मन भावने प्यारे सखा उद्धव कू प्रेम के महाविद्यालय ब्रज भेजू। प्रेम की आचार्या ब्रज ललनान सो प्रेम पाठ पढि पढि कै ही तौ मैंने हू ये रसिकशेखर की पदवी पाई है। बाही कुरुकुल मे उन्ही प्रेमाचार्यन के समीप मैं अपने प्रिय वंधु उद्धव कू भेज दऊँ तौ ये हू रसिक पदवी प्राप्त करि आवैगौ और तब मोकू विरह की लंबी यात्रा करिवे के ताई एक सहचर मिल जायगौ।

या सो और न कछु उपाय।
मेरौ प्रगट कह्यौ नहि वदि है, ब्रज ही देहु पठाय।
गुप्त प्रीति जुवतिन की कहि-कहि, याकौ करौ महत।
गोपिन कौं परबोधन कारन, जैहै सुनत तुरत।
अति अभिमान करैगौ मन मे, जोगिन की इहि भाँति।
'सूर स्याम' यह निश्चय करिकें, वैठत हैं मिलि पाँति।

या सो मैं अव उद्धव जी कू बुलाऊं हूं।

इस स्वगत-कथन के वाद कृष्ण उद्धव को बुलाते है। उद्धव आकर कुशल प्रश्न के अनतर कृष्ण के चिंतित होने का कारण पूछते हैं तो कृष्ण इसका कारण ब्रज की याद आना वतलाते है। उद्धव कृष्ण से ब्रज के प्रति उनके इस ममत्व के अतिरेक का कारण जानने की जिज्ञासा प्रगट करते हैं तो कृष्ण भाव-विभोर होकर उनसे ब्रज का वर्णन करने लगते है। इस लंबे वर्णन का कुछ अश यहा उद्धृत किया जाता है।

भैया उद्धव ! मैं ब्रज की कथा तोकू कहा सुनाऊं। सुनिकै तू वाय समुझैगो हू कहा ? वहा के सुख की प्रसंसा तौ मैं कर ही नही सकू हू। वहा के दुख के ऊपर मैं यहा के सवरे सुख कू न्यौछावर कर सकू हू।

अहा ! वह ब्रज मेरौ, जहा मैंने प्यारे सौ प्यारौ, दुलारे सौ दुलारौ, कन्हैया जैसौ नाम पायौ, जहा मैंने मोहन सौ मोहन नटवर रूप वनायौ, जहा मैंने मधुर सो मधुर रासलीला करी, जहा मैंने सरल सौ सरल स्नेही सौ स्नेही गोप परिवार पायौ, जिन गोप गोपिन नें मेरौ मीठी सौ मीठी, गहरी सों गहरी छीनी सो छीनी तीन लोक दुर्लभ प्रीति रस सो पालन पोपन कियौ, जो ब्रह्मा के शब्दन मे अपनौ धाम अर्थात् सुहृद प्रिय देह पुन. प्राण और आत्मा ये आठ वस्तु मेरे चरनन पै चढाय कें केवल एक मेरी प्रीति के भिखारी वन गये, वह मेरौ ब्रज, वह मेरे ब्रजवासी, मेरे चित्त पै चढे भये, खचे भये हैं।

(ठहर ठहर कर दीर्घश्वास लेकर)

हाय वह मेरौ ब्रज जहाँ के तरु लता झुकि-झुकि कै मेरे चरनन कू छियौ करते, और मोपै फूलन की वर्षा करते, मैं उनकू छीतौ अथवा वसी वजाय देतौ तौ एक सग खिल जाते, रोम-रोम मे मानो फूल उठते और कापवे लगते, झूमिवे लगते, प्रेम के आनद के आसू वहायवे लगते। उद्धव, तुमने देखें हैं, ऐसें तरु लता ?

उद्धव : नही प्रभो, देखे, कहा सुने हू नही हैं।

श्रीकृष्ण : हाय, वह मेरौ ब्रज जहा के मोर, मेरे चारो ओर मडल वनाय कें नृत्य कियौ करते, और वन के समस्त जीव-जतु गोवर्धन की शिखर पै वैठि के उन मोरन के सग मेरी रासलीला देख्यौ करते, देखें है ऐसे मोर तुमने उद्धव ?

उद्धव नही प्रभो, देखें, कहा सुने हू नही है।

श्रीकृष्ण : हाय उद्धव यहा मोकू देखि कै मनुष्य की हू आखिन मैं जल नही आवै है और ब्रज के तौ वन के हरिण हरिणी हू इक टक मेरी ओर निहारची करते—और अपने लोचन पात्र सो प्रेमाश्रुन को अर्घ्य मोकू चढायौ करते। ब्रज के सुक, पिक आदि पक्षी वृक्षन के अग्रभाग पै वैठि कै मेरे दरसन

करते, समाधि सुख मे डूब जाते। हाय ऊधौ वह मेरौ ब्रज कहा है कि जहा की गऊ मोकू बछरा की नाई चाट्यौ करती, आखिन सो प्रेम धार और ऐननि सो पय धार बहाती। वह मेरौ ब्रज जहा की नदी अपनी लहरन की भुजान मे कमलन कू लाय कें मेरे चरनन पै चढायौ करती। जहा के मेघ मेरे संग मेरे ऊपर छाया करते भये चल्यौ करते और न्हैनी-न्हैनी झीनी-झीनी फुहियान ते फूल बरषायौ करते। ऐसे पशु पक्षी और नदी सरोवर और ऐसे मेघ तुमनें हू देखे है ऊधौ।

ऊधौ : नाथ यह तौ मोकू एक महान आश्चर्य और स्वप्न-कथा सी लगि रही है।

श्रीकृष्ण : सखे ये सब तौ बहुत बाहर की मोटी बातें है। ये स्थावर और मूढ जीवन की प्रीत की कहानी है। चेतन गोप-गोपीन की प्रीति की कहानी तौ जो मैं हू जन्म भर सुनाऊ तौहू पार नही पाय सकू हू।

उद्धव : दयानिधे ! वह हू तौ मैं कछु सुनि पाऊँ। अवश्य मैं अधिकारी नही हू परतु श्रवण करिबे कौं मिलतौ रहैगौ तौ लाभ हू कदाचित जगि जायगौ और कृपा लाभ हू है जायगौ।

श्रीकृष्ण : उद्धव ! मैं कहा कहूं कहा न कहू। वह मेरौ ब्रज जहां के ग्वाल-बाल सखा खाते-खाते अपने मुख सो मीठी-सी वस्तु निकारि कें कहते, "अरे कन्हैया ! यह तौ बडी ही मीठी है। यह तौ तेरे ही खायबे जोग है, यो कहि के तुम्हारे भगवान के मोह मे अपनी जूठी डारि देते। सुने है—ऐसे सखा।" और तुम हू तौ मेरे परम सखा हो। उद्धव ! कबहू तुमनें हू अपनी प्रसादी मोय खवाई।

उद्धव : हे प्रभो यह बात तौ मेरी कल्पना मे हू कबहू नही उठी। मैं तौ 'उच्छिष्टभोजनो दासास्तव माया जये महि।' आपकी जूठन कू पाय-पाय कै आपकी प्रबल माया कू जीतने की इच्छा करिबे बारौ आपकौ दास हू।

श्रीकृष्ण . बस उद्धव ! यही तौ उनकी और तुम्हारी प्रीति मे भेद है। तुमकू अपनी चिंता है उनकू मेरी चिंता है। अहा ! ऊधौ दुपहरी में कदम्ब की सीतल छैया में जब सब बैठि जाते, गैया मन की मौज सो चर्‌यौ करती, हम बैठे-बैठे छाक जेंमते, फिर कोई सखा नरम-नरम दूब उखारि लाते, कोई कोमल-कोमल पल्लव तोरि लाते, कोई फूल लै आते, और उनकी शय्या सजाते, मेरे लियें और दाऊ दादा के लिये, मैं लेट जातौ, वे बैठ जाते, मेरे चार्‌यो ओर। एक मेरे मस्तक कू गोदी मे रख लेतौ, एक मेरे पामन कू अपनी गोदी में पध-राय लेतौ, कबहू द्वै जने एक-एक पाय कू सम्हार बैठते, कोई अपने दुपट्टा सो मेरौ मुख पोछतौ, कोई बीजना करतौ, कोई पाम सहराबतौ, कोई कथा कहतौ, पहेली बूझतौ, धीरे-धीरें मोकू नीद आय जाती, ऊधौ यहा के राजमहल के दुग्ध

फेन जैसी सय्या मेरे ब्रज की पत्तीन की सेज के आगें मोय चुभै है, और उन ग्वालन की गोदी मे सिर रखि कै जो सुख की नीद मोय आंमती वु तुम्हारे इन गद्दा तकियान पै नही आवै है। कहा सोइवे को सुख, कहा खेलिवे को सुख, कहां खाइवे को सुख, सब ब्रज ही मे रहि गयौ।

कवित्त : कामरी लकुट मोंहि भूलत न एक पल,
घुघची ना बिसारौ जाकी भाल उर धारे है।
जा दिन तै छाकें छूट गईं ग्वालिन की,
ता दिन ते भोजन न पावत सकारे हैं।
'भने यदुवंश' जो पै नेह नन्द बसहू सो,
बसी ना बिसारौ जो पै बंस बिस्तारे हैं।
ऊधौ ब्रज जैयो, मेरी लैयो चौगान गेंद,
मैया ते कहियौ हम ऋणिया तिहारे हैं।

हा ऊधौ, ऋणिया हूं, कविन की भाषा मे ही ऋणिया नही, साचे भाव सो ऋणियां हू। तबैही तौ मैया ने मोकू बाधि दियौ, और तबही मैं बधि गयौ, ऋणियां न होतौ, तौ न वे ही बाधि सकती और न मैं ही बधि सकतौ, वह मैया नही मेरे लाड-चाव की मूर्ति है, जसोदा ने ही मोकूं जम दियौ है वाको सौ लाड-दुलार तौ मोकु यहाँ स्वप्न मे हू दुर्लभ है।

श्लोक : ताम्बूल स्वमुखार्द्ध चर्वित मित· को मे मुखे निक्षये दुन्मार्ग प्रसृतंज
चाटु वचनै. को मा वशे स्थापयेत् एह्य हीति विदुर सारित. ॥

सवैया : मोंहि जिमाय कै बीरी रचाय कै, मात जबहि कर दैन चहा है।
ठाडौ तौ हौ कह्यौ कह तौ तबै, मुख कौ लैहो पान कहा है॥
उगरि कै मो मुख डारि सो देती निज मुख पान उगार अहा है।
और तो सुक्ख सबै यहाँ ऊधौ, जूंठन प्रेम कौ सुक्ख न ह्यॉ है॥

मैया ऊधौ, माता मोकू जिमाय, जब पान की बीरौ बनाय कें देवे लगती तौ मैं वाकी चूंदरी को छोर पकरि कें मचलिवे लगतौ, और कहतौ कै मैं तौ ये नाय लऊगौ, मैं तौ जो तू खाय रही है सोई लऊगौ। माता हसि परती, नेह सौ नेत्र झलकि उठते, दूध सो छाती भीजि जाती, मोकू उठाय हृदय सो लगामती, मुख चूमती फिर एक हाथ सो मेरे दोऊ गालन कू दबाय कै कहती, तौ लै म्हौं खोलि, मैं खोल देतौ, और मैया अपने मुख सो मेरे मुख में चर्वित पान की पीक कर देती, क्षीर सागर की सुधा कौ, मैं वा पीक की एक बूद पै न्यौछावर कर दऊ, ऊधौ वह इतनौ मधुर, इतनौ स्वादिम्ट लगतौ। अब यहा छप्पन भोग के थार हैं परंतु माता जमोदा कौ चर्वित पान कहा ? हाय पान खायवे तक कौ सुख मोकू यहा नही है, और अधिक कहा कहू।"

इस प्रकार रास के संवादो और कथनो की अपनी परंपरा और शैली है जो नाटक की आधुनिक कथोपकथन प्रणाली से एक विशिष्ट भिन्नता रखती हुई भी अपनी काव्यात्मकता और मौलिकता की महत्ता से अभिमडित है।

रास में अभिनय की मुद्राएं और परंपराएं

रास मे कायिक अभिनय को विशेप महत्व दिया जाता है। भाव के अनुरूप नेत्र सचालन भृकुटिपात, पग सचालन, आदि का विशेष महत्व है। विशेष भावो को व्यक्त करने के लिए रास मे विशेष मुद्राओ का प्रयोग होता है। ये मुद्राएं मुख्य रूप से "चलन, हलन और चितवन" से सबंधित होती हैं जो रास के अभिनय शास्त्र के सूत्र समझे जाने चाहिए। लोकधर्मी नाट्य होने के कारण वैसे रास मे अभिनय की सभी मुद्राए सीधे लोक-व्यापार से सबधित हैं इसलिए उनमे सहजता और स्वाभाविकता के साथ जीवन से निकटता विद्यमान रहती है, परतु रास की कुछ ऐसी भी मुद्राए है जो अभिनय के एक अग के रूप मे किसी भाव विशेष की अभिव्यक्ति का लोकप्रिय माध्यम बन गई है।

रास के अभिनय मे सबसे अधिक महत्व मुख-मुद्राओ का है। मुख-मुद्राओ मे सबसे अधिक महत्व मुस्कान का है। कृष्ण और राधा जैसे पात्रो के ओष्ठो पर जब तक कोई करुण प्रसग ही आकर उपस्थित न हो जाय, सदैव एक मनोहारी दिव्य मुस्कान का बरसते रहना बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार किसी प्रिय वस्तु के देखने या नायक-नायिका की वियोग के उपरात भेंट होने पर परस्पर एक दूसरे को "हे प्यारी" और "हे प्यारे" कह कर कठ लगा कर आलिगन करना रास की परपरा है। नायक और नायिका जब दूर से एक-दूसरे को निहारें तो आखो मे आख डालकर ग्रीवा को थोडा तिरछी करके प्रेम प्रगट किया जाता है। उस समय प्राय: हाथ बाध कर बगल मे दबा लिए जाते है। सयोग के समय प्रिया-प्रियतम की एकरूपता तथा नैकट्य की अभिव्यक्ति के लिए बराबर खडे या बैठे रहकर परस्पर गलबहिया डालकर मस्तक से मस्तक मिला लिया जाता है। शृगार रस के अनेक भाव नयनो से नयन जोड कर तथा कटाक्षपात द्वारा व्यक्त कर दिये जाते हैं। क्रोध के समय मस्तक मे सलवटे डालकर भौंह तरेर लेना एक स्वाभाविक लोकधर्मी मुद्रा है।

रास मे त्रिभगी कृष्ण की मुद्रा प्रसिद्ध है जो बाये पग के पजे को दायें पग के भूमि पर जमे हुए पजे के आगे तिरछा रखकर और एडी को ऊपर उठा कर बनाई जाती है। इस मुद्रा मे कमर के साथ ग्रीवा को भी थोडा बाईं ओर झुका दिया जाता है तथा बाये और दाये दोनो ही हाथो को तिरछा करके दाईं ओर ऊपर उठाकर उन्हे तिरछे करके उनसे मुरली अधरो पर रख कर उसे बजाने का अभिनटन किया जाता है।

इसी प्रकार मान की मुद्रा शरीर को सिकोड कर तथा तिरछे बैठकर तथा हाथ को ऊचा उठाकर ठोडी को हथेनी पर टेक कर बनाई जाती है। मान मनाने के लिए मानवती के चरणो के निकट नायक एक पग जंघा के नीचे दबाकर तथा दूसरा उकड़ू की मुद्रा मे रख कर बैठता है तथा नायिका के चरणो पर हाथ रखकर और ग्रीवा को झुकाकर मान मनाने का अभिनय किया जाता है। जब नायिका नायक को झटक कर अपनी मुद्रा को विपरीत दिशा मे (मुडकर) बदल लेती है तो नायक भी तुरंत उठकर नायिका की ओर आ जाता है और फिर उससे दृष्टि मिलाकर पूर्व मुद्रा मे ही उसे मनाने का यत्न करता है।

शोक प्रगट करने के लिए माथे को थोड़ा झुकाकर उस पर ऊंचा हाथ उठाकर तर्जनी टेककर शोक की मुद्रा बनाई जाती है। किसी सुदर या आश्चर्यजनक वस्तु को कौतूहलपूर्वक निहारने के लिए दोनो पावो की एडी उचकाकर माथे पर आख के पार्श्व मे एक हाथ टेक लिया जाता है। ओष्ठो पर भी तर्जनी उंगली टेककर तथा आखो को कुछ चढाकर विस्मय प्रगट किया जाता है। किसी को चिढाने के लिए हाथ की मुट्ठी बाध कर अगूठे को अलग से हिलाकर ठेंगा दिखाने की प्रथा भी रास मे प्रचलित है।

रास मे जब राधा या सखियो को रास्ते चलते हुए रोकने की स्थिति आती है तो मार्ग चलने वाला पात्र रोके जाने वाले पात्र के चारो ओर मडलाकार गति से चलने लगता है और रोकने वाला पात्र केंद्र मे खड़ा रह कर बार-बार, चलने वाले की ओर घूम-घूम कर अभिमुख होता है और उससे रुकने का आग्रह करता है। "ठाडी रह री लाड लडैती, मैं माला सुरझाऊँ" जैसे पद भी इसी प्रकार गाये जाते हैं। कृष्ण केंद्र मे खडे होकर कभी इधर और कभी उधर घूमकर तथा एक-दो डग आगे-पीछे हट कर उक्त पद अभिनय के साथ गाते हैं और राधा उनके चारो ओर मडलाकार गति से चक्कर लगाती रहती हैं।

रास मे भाव के अनुसार अनेक प्रकार की चाले प्रचलित हैं। कृष्ण की लटक चाल मे केवल उनके पग ही एक विशेष गति से नही चलते वरन् पगो के आगे बढने के साथ-साथ पूरा शरीर भी साथ ही साथ दाई व बाई ओर एक विशेप अदाज से हिलता है। इसी प्रकार चोर चाल मे सारे शरीर को सिकोड़ कर लबे-लबे डग ऊचे उठाकर फिर बडे धीरे से एक खास अदाज से भूमि पर टेके जाते है। डगो को रखने के साथ-साथ गर्दन भी पावो के साथ ही दायें या बायें हिलाकर और फिर कान लगाकर पहले आहट सुनने का अभिनय किया जाता है और आखें फाडकर देखा जाता है कि कोई आ तो नही रहा है। उसके बाद फिर पूर्व क्रिया के अनुसार ही दूसरा डग आगे बढाया जाता है। चोर

चाल के समय कोई छीक दे या कोई सखी आती दीख जाय तो फिर सब भूल कर लदर-पदर भागने की चेष्टा की जाती है। मनसुखा की हास्य मुद्राए रास मे हास्यरस का सफल अवतरण करती है। उसकी मुद्राए व्रज के लोक जीवन की मानो समस्त सजीवता ही अपने मे समेटे हुए हैं।

भरत ने नाट्यशास्त्र मे विस्तार से नृत्य व अभिनय की जिन मुद्राओ का वर्णन किया है उन मुद्राओ के स्वरूप भी रास के नृत्य और अभिनय मे देखे जा सकते है, परतु भरत ने उन मुद्राओ के नाम दिये है उनसे वर्तमान रासधारी सर्वथा अपरिचित है। रासधारियो ने कुछ मुद्राओ के स्वय अपने नामकरण भी किये है जैसे रास मे राधाकृष्ण परस्पर अग से अग हटाकर जो मुद्रा बनाते है उसे वे 'युगलैक' मुद्रा या 'एक प्राण दो देह' कहते हैं। नृत्य और अभिनय की अनेक प्राचीन मुद्राएं रास मे प्रचलित है परतु उनके नाम रास परपरा को ज्ञात नही हैं।

इस भाति रास मे कायिक अभिनय की अनेक मुद्राएं परिस्थितियो के चित्रण मे तथा दर्शको के मनोविनोद मे अपना विशेष योगदान करती हैं।

५

रास का रंगमंच, मंचीय उपकरण और दृश्य-विधान

प्राचीन रासमडल

प्राचीन युग मे सस्कृत नाटको के अभिनय के लिए पक्के प्रेक्षागृह बनाये जाते थे जिनके ध्वंसावशेष आज भी मिलते हैं। सभवत. उसी प्राचीन परपरा के अनुसार रास का व्यापक प्रचार करने के लिए श्री नारायण भट्ट जी ने भगवान कृष्ण के कुछ प्रमुख रासलीला स्थलो पर पक्के रासमडलो का निर्माण कराया था जो आज भी व्रज क्षेत्र मे विद्यमान हैं। नारायण भट्ट द्वारा स्थापित इन रासमंडलो की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

व्रज क्षेत्र मे रासमडल दो प्रकार के पाये जाते हैं: (१) एकदम खुले, (२) पटी हुई छत वाले। व्रज क्षेत्र मे प्रचुर मात्रा मे खुले रासमंडलों का ही निर्माण हुआ। पटे हुए रासमडल केवल वृदावन मे ही विशेष रूप से देखे जाते हैं। रास वास्तव मे एक खुला मच है, अतः उसके मच की छत को पाटने की आवश्यकता नही होनी चाहिए थी, परतु वृदावन मे इन पटे मचो का निर्माण कदाचित इसलिए किया गया क्योकि रसिक भक्तो ने वृदावन को नित्य रास की भूमि के रूप मे मान्य किया था और नित्य रास की इस भूमि मे नियमित रूप से सदैव रास होते रहे और रास के रसिक उनसे तृप्त होते रहे यह व्यवस्था हित हरिवश जी के समय मे ही हो गई थी। ऐसी दशा में वर्षा ऋतु मे इन्द्रदेव को और ग्रीष्म की तपन मे सूर्यदेव को नित्य रास के इन नियमित आयोजनो में व्याघात करने का अवसर न मिले इसलिए वृदावन मे पटे हुए रासमंडलो की स्थापना आवश्यक समझी गई होगी।

खुले रासमंडल

परतु चाहे व्रज क्षेत्र के खुले रासमडलो को ले या वृदावन के पटे हुए रासमडलो को, यह सभी मडलाकार हैं। व्रज क्षेत्र के खुले रासमडल भूमि से

लगभग २ फुट से लेकर ४ फुट के करीब तक ऊचे हैं जो चूने से बनाये गये हैं। इन रासमडलो को प्रकृति की उन्मुक्त गोद मे पूरी तरह सब ओर से खुला रखा गया है। इन रासमडलो का व्यास लगभग १० गज है। उन पर ऊपर चढने के लिए प्राय. सीढियां नही बनाई गईं, क्योकि इन रासमडलो पर दर्शको के चढने की कोई आवश्यकता नही होती। पहले रास के भक्त प्राय खड़े होकर ही रास देखते थे, इसलिए इन रासमडलो की ऊचाई इस हिसाब से रखी गई है कि उसके चारो ओर दर्शक दूर-दूर तक खडे होकर भली प्रकार रास का आनद ले सकें। इन रासमडलो पर एक ओर पक्का सिहासन भी बना दिया गया है जिसमे आगे सीढियां दे दी गई है। सीढियो के पीछे पक्का चूने का सिहासन के ढग का तकिया बनाया गया है। रास के समय इन सिहासनो पर गलीचा या रंग-बिरंगे वस्त्र बिछा दिये जाते है और उनमे मे सबसे ऊची सीढी पर रास के समय प्रिया-प्रियतम तथा उनके नीचे सखी विराजमान होती हैं। सिहासन के आगे मडलाकार चबूतरा नृत्य और लीला प्रदर्शन के उपयोग मे आता है। कही-कही इन रास मडलो मे सिहासन के पीछे वृक्षावली भी है जो रासमडल के आकर्षण को बढाने के साथ ही स्वरूपो की धूप-ताप और आधी-पानी से रक्षा करने मे सहयोग देती है।

ब्रज क्षेत्र मे यह रासमडल बडे पवित्र और दर्शनीय समझे जाते है और ब्रज के भक्त यात्री इनको भी श्रद्धा से नमन करते हैं। जब यह रास-मडल बनाये गये होगे तब इन पर शायद बराबर रास किये जाते रहे होगे, परंतु वर्तमान मे तो केवल वृदावन के पटैमा रासमडलो का उपयोग ही रास के लिए हो रहा है। ब्रज के यह खुले रासमच या तो केवल ब्रजयात्रा के समय उपयोग मे लाये जाते हैं अन्यथा राधा अष्टमी पर बरसाने क्षेत्र मे स्थित रास-मंडलो का वूढी लीलाओ के अवसर पर उपयोग होता है। आज रास के यह मच दर्शनीय अधिक परंतु उपयोगी कम है।

पटे हुए रासमडल

वृंदावन मे जो पक्के पटे रासमच हैं उनका वहा नियमित रूप से रास के लिए निरंतर उपयोग होता है। टोपी वाली कुज जैसे रासमडलो पर तो कभी-कमी एक दिन मे चार-पाच रास भी हो जाते हैं। एक मडली के रास के समाप्त होने पर दूसरी मडली वहा अपना कार्यक्रम आरभ कर देती है। वृंदावन के यह पटे हुए रासमच ब्रज के चूने से बने रासमडलो मे कही बडे और ऊंचे हैं। यह रासमडल पत्थर से बनाये गए है और इन पर दर्शको के भी ऊपर चढकर बैठने की व्यवस्था है।

वृंदावन के यह रासमडल भूमि से लगभग चार-पाच गज की ऊंचाई

पर बनाये गये हैं और उन पर दर्शको को सीढी चढकर जाना पड़ता है। इन मडलाकार रासमंडलो के किनारो पर लगभग डेढ फुट ऊंचे पत्थर के गवाक्ष भी चारो ओर लगाये गये हैं जिनसे जहा रासमडल का अलंकरण हुआ है वहा रास दर्शको की भीड मे वालको के असावधानी के कारण नीचे गिर जाने का भय भी नही रहा है। गवाक्षो के आगे चारो ओर कुछ भूमि खुली है और उसके आगे पत्थर के गोल खवे गाड़ कर वीच मे छत खड़ी की गई है। छत के नीचे एक ओर पत्थर का सीढीदार पक्का सिहासन बनाया गया है तथा सिहासन के पास ही थोडी दूर पर एक-दो कोठरी वना दी गई हैं जो रास के समय शृंगारघर का काम देती हैं।

रास के समय इन रासमंडलो पर फर्श आदि विछा दिये जाते है और सिहासन के आगे कुछ हिस्से पर सफेद चादनी विछा दी जाती है जिस पर नृत्य और लीला होती है। चांदनी पर सिंहासन के सामने के दूसरे सिरे पर रास के समाजी वैठते है और वीच का भाग रास के लिए छोड दिया जाता है। चादनी के तीनो ओर दर्शक वैठ जाते हैं क्योंकि इन रासमंडलो मे सिंहासन के पीछे इतना स्थान नही होता कि वहां दर्शक वैठ सकें या खड़े हो सके। सिहासन के पीछे एक साधारण सा गलियारा ही छोडा जाता है जो लीला के पात्रो को शृगारघर तक जाने या प्रवधको के निकलने के लिए ही काम मे आ सकता है। इस मच पर धूप और वर्पा मे भी रास हो सकते हैं, इस दृष्टि से ये सुविधाजनक है। इन रासमडलो को ऐसे ढग से बनाया गया है कि गर्मी मे भी वहा हवा का झोका लगता रहता है और घुटन प्रतीत नही होती। ४००-५०० व्यक्ति तक इन बडे रासमंडलो पर एकसाथ रास देख सकते है।

जैसा कि पुराने रासमडलो को देखने से प्रतीत होता है पहले मच चारो ओर से खुला रखा जाता था और दर्शको को चारो ओर से रास देखने की सुविधा थी, परंतु उस समय भी जिस ओर पक्का सिहासन बनाया जाता था उस ओर से खडे होकर दर्शक को रास का पूरा आनद प्राप्त करना कठिन होता होगा, क्योकि सिहासन स्वय दर्शक और रास के पात्रो के वीच एक व्यवधान का कारण था। सभवत: इसीलिए वाद मे वृदावन मे जो पटे हुए रास-मंडल वने उनमे तीन ओर ही दर्शको के वैठने की व्यवस्था को स्वीकार किया गया।

रास प्रदर्शन के लिए मच-निर्माण

आज भी रास का मच प्राय: तीन ओर से ही खुला बनाया जाता है। जहा कही भी रास होता है वहा साधारण उपकरणो से सहज मे ही रास का मच तैयार हो जाता है। रासमच का सवसे अधिक महत्वपूर्ण अग वह सिहा-

सन होता है जिस पर रास के आरंभ मे राधा-कृष्ण और गोपियो की झाकी होती है और बाद मे लीला के अनुरूप यह सिहासन भी विविध रूपो से उपयोग मे आने लगता है। आवश्यक यह होता है कि सिहासन रास नृत्य की भूमि से कुछ ऊंचा बनाया जाय तथा उसके पीछे कोई दीवाल या किसी प्रकार का कोई ऐसा व्यवधान हो जिस पर एक पिछवाई तान कर मच को एक ओर से बद रखा जा सके। इसलिए जहा भी रास होता है वहा किसी भी दीवाल के सहारे एक तखत या ऊची चौकिया आदि बिछाकर उस पर बीच मे एक कोच या दो कुर्सी मिलाकर डाल दी जाती है। तखत को और उस पर बिछाई गई कोच या कुर्सियो को कालीनो या अन्य वस्त्रो से ढक दिया जाता है और सिहासन के नीचे सामने वाले भाग मे बिछावट की जाती है। सिहासन के नीचे की कुछ भूमि को नृत्य और अभिनय के लिए खाली छोड कर (जिस पर प्राय सफेद चादनी बिछाई जाती है) शेष स्थल दर्शको के बैठने के लिए छोड दिया जाता है। सिहासन के आगे एक पर्दा लगाना भी आवश्यक होता है। पहले तो जब भी रास मे पर्दा करने की आवश्यकता होती थी, तो कोई भी दो व्यक्ति किसी लबे रंगीन वस्त्र को हाथो से सिहासन के सामने तान कर खड़े हो जाया करते थे, परंतु अब प्राय. सभी मडलिया अपने-अपने रग-बिरगे पर्दे और उसके ऊपर तानने के लिए एक सिली हुई झालर भी रखती है। यह पर्दे प्रायः छपी हुई छीट या पीली, हरी या नीली केसरिया साटन या ऐसे ही किसी भडकीले कपडे के होते हैं। पर्दा तार बाध कर सिहासन के आगे लगा दिया जाता है। इस भाति रास का यह सरल और सहज मच कही भी और कभी भी थोडे से श्रम और उपकरणो से बनाया जा सकता है। कभी-कभी सिहासन के आस-पास गमले आदि लगाकर उसे और भी आकर्षक बना दिया जाता है। कुछ राममडलिया अपने साथ कपडे के ऐसे पर्दे भी रखने लगी हैं जिनमे तिवारी छटी रहती है तथा कुछ बेल-बूटे भी कढे होते है। इन पर्दो को सिहासन के आगे बाधकर ब्रज की निकुज का भाव प्रगट करने की चेष्टा की जाती है। कस आदि का दरबार बनाने के समय निकुज का यह पर्दा ऊपर उठाकर मुख्य पर्दे की झालर के पीछे छिपा दिया जाता है जो सिहासन के आगे लगा होता है। इस पर्दे को नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तुरत करके दृश्य परिवर्तन की रास में एक नई व्यवस्था की गई है।

शृगार-गृह

अतीत मे ब्रज में खुले रासमंडल बनाये गये थे तब उसके साथ शृगार-घर बनाने की कोई व्यवस्था आवश्यक नही समझी गई थी। उस समय रास के स्वरूप किसी निकटवर्ती मदिर या ऐसे ही किसी स्थान पर सजाये जाते थे

और भावुक भक्त उन्हे अपने कधो पर चढा कर 'रासमडल' पर पधराते थे और लीला समाप्त होने पर उन्हे उसी भाति वापिस भी ले जाते थे। राधा-कृष्ण और सखियो के अतिरिक्त शेप पात्र स्वय सजकर रासमडल तक आते थे और उनका रासमंडल में प्रवेश जनता मे होकर भीड को चीरते हुए एकदम स्वाभाविक रूप से होता था और अपना अभिनय करने के उपरात वह जनता मे होकर ही वापिस लौटते थे, परतु वृदावन के परवर्ती पक्के रासमंडलो के साथ शृगार-गृह भी बने हैं। ऐसी दशा में अब जनता को चीरते हुए केवल वही पात्र मच पर आते है जिनकी भूमिका के लिए ऐसा करना नाटकीय दृष्टि से आवश्यक हो। हास्य रस के पात्र प्राय. भीड को चीर कर आना ही पसद करते है और भीड मे से लीलास्थल तक आते हुए भी वह एक-दो ऐसे कार्य या भाव-प्रदर्शन बीच मे ही कर जाते है कि दर्शक उनके लीलास्थल तक पहुचने से पहले ही उनकी ओर आकर्पित हो जाय।

जहा रास के पक्के मच नही हैं और रासलीला के लिए पिछवाई तान कर आगे सिहासन लगाया जाता है वहा यदि पिछवाई के पीछे कोई खाली स्थान हो तो उसका उपयोग शृगार-गृह के लिए कर लिया जाता है या सिहा-सन के पार्श्व मे यदि कोई कमरा या कोठरी हो, तो उसका उपयोग शृगार के लिए कर लिया जाता है।

शृगारी : प्रत्येक रासमडली अपने साथ एक शृगारी अवश्य रखती है जो स्वरूपो को सजाता है तथा रासमडली के वस्त्रो और वेशभूषा का प्रबंध और देखरेख करता है। रास के अतिरिक्त समय मे भी मंडली की ओर से स्वरूपो की देखरेख का काम शृगारी के ही सुपुर्द होता है। वह सदा स्वरूपो के साथ ही सलग्न रहता है, इसलिए रास के भक्त शृगारी को प्रसन्न रखने की विशेष रूप से चेष्टा करते हैं, क्योकि बिना शृगारी के किसी भी मंडली से बाहर के व्यक्ति की पहुच स्वरूपो तक नही हो पाती।

रास आरभ होने से पूर्व भी यह शृंगारी का ही कार्य होता है कि वह शृंगार की पेटियो के साथ सबसे पहले स्वरूपो को लेकर रास-स्थल पर पहुंचे और उनका शृगार करे। शेप मडली तभी रास के लिए जाती है जब वे समझ लेते है कि अब स्वरूप तैयार होने को होंगे। मडली के इन अतिरिक्त व्यक्तियो के पहुचने पर स्वरूपो के सिहासन पर पधारने के साथ समाजी अपने साजो को सम्हालते है और नित्यरास प्रारभ हो जाता है।

रास में स्वरूपो का शृंगार

रास मे सबसे अधिक ध्यान कृष्ण, राधा और सखियो के शृगार पर दिया जाता है, और उन्हे अधिक से अधिक आकर्षक रूप मे मंच पर प्रस्तुत

करने की चेष्टा की जाती है। इस शृंगार मे भी सबसे अधिक ध्यान स्वरूपो के मुख-मडल को सजाने पर दिया जाता है।

मुख-शृंगार

रास के मुख-शृंगार के लिए सबसे पहले आवश्यकता एक बालटी पानी की होती है। स्वरूप अपना मुख धोकर और पोछकर अपने आपको शृंगारी के समक्ष प्रस्तुत करते है। अनुभवी और पुराने स्वरूप शीशा देखकर स्वयं भी अपना मुख-शृगार कर लेते है।

पहले रास मे स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए शृगार से पूर्व किसी प्रकार का लेपन नही किया जाता था, परतु बाद मे शृगार से पूर्व चकली पर मुर्दासिन घिसकर स्वरूपो के मुख पर उसका हल्का सा लेपन किया जाने लगा है जिससे मुख-मडल पर कुछ सफेदी और ललोही उभर आती है। कुछ मडलियो मे अब मुख-शृगार से पूर्व लेपन के लिए सूखे पाउडर का भी प्रयोग चल पडा है। लेपन हो जाने के उपरात कृष्ण के मस्तक पर रोली घिसकर चंदन तथा राधा और गोपियो के मस्तक पर लबी बिंदिया लगाई जाती है तथा कपोलो से भौहो के निकट तक पीले चदन तथा गोपी चदन घिसकर सीक से छोटी-छोटी बूदें रखकर आकर्षक बेल जैसी चित्रकारी करके स्वरूपो का मुख-मंडल चित्रित किया जाता है। कभी-कभी इस चित्रकारी को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बीच-बीच मे 'चमकी' का भी प्रयोग किया जाता है। अधिक महत्वपूर्ण अवसरो पर विशेष रूप से होने वाले रास के आयोजनो में लाल, पीली, हरी और सफेद कटोरियो का उपयोग करके उन्हे सीक से गोद लगाकर मुख-मडल पर जमाया जाता है और कटोरियो की बेल बनाई जाती है। कटोरियो का यह शृगार रास मे ही नही रामलीला आदि अनेक लोक मचो पर होता आया है। रास मे इसका प्रारभ अयोध्या की रामलीलाओ के अनुकरण से हुआ है।

स्वरूपो की आखो को कटीली बनाने के लिए गीले काजल का प्रयोग किया जाता है। काजल या कोयले को घिस कर स्वरूपो की भौहे भी गहरी और नुकीली कर दी जाती है। माथे पर एक कोने में कही काली आड़ या खौर भी स्वरूपो को नजर से बचाने के लिए लगा दी जाती है। नासिका के उभरे हुए मध्य भाग मे काली भाल भी बनाई जाती है और कभी-कभी स्वरूपो की ठोढी या कपोलो आदि पर काला तिल भी सीक से बना दिया जाता है। मुख-शृगार के उपरात स्वरूप रास के वस्त्र धारण करते है और फिर उनका मुकुट शृगार किया जाता है।

श्रीकृष्ण का मुकुट शृंगार

कृष्ण का मुकुट

रास के शृगार मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण भगवान कृष्ण का मुकुट होता है। रास का यह मुकुट रासमडली मे समस्त शृगार से पृथक विशेष रूप से मूर्ति के समान पूज्य भाव से रखा जाता है और उसको रास के लिए मस्तक पर धारण करने से पूर्व कृष्ण बनने वाला अभिनेता प्रणाम करके इसे धारण करता है। मुकुट धारण होने के उपरात मुकुटधारी को साक्षात् कृष्ण रूप ही मान लिया जाता है और तब सभी को उससे उसी रूप मे व्यवहार करना होता है। मुकुट धारण करने के उपरात जो भी रास के शृगार-घर मे जाता है वह श्रद्धापूर्वक स्वरूपो को दडवत् प्रणाम करता है। रासमडली के स्वामी भी रासारभ से पूर्व शृगार-गृह मे आकर अथवा स्वरूपो के सिहासन पर पधारते ही उनकी चरण वंदना करते हैं।

भगवान कृष्ण का रास का मुकुट मथुरा-वृदावन के कारीगरो द्वारा विशिष्ट प्रकार से बनाया जाता है जो एक छोटी-सी सलमा की टोपी-सी के ऊपर टिका होता है जो पगडी के सहारे सिर से बधी रहती है। मुकुट का मडल कुछ खम खाया हुआ-सा दायी या बायी ओर झुका होता है। यह मुकुट कुछ मडलाकार-सी आकृति का होता है जो ऊपर जाकर तिकोना-सा हो जाता है। इसके ऊपरी भाग मे एक छोटी-सी किरणो से सुसज्जित नोक रहती है। रास मे कृष्ण के यह मुकुट कुछ मडलियो की भावनानुसार दायी ओर झुके रहते हैं और कुछ के बायी ओर। जिन मंडलियो के कृष्ण रास मे दायी ओर झुका मुकुट धारण करते हैं वे अपने को वल्लभ कुली (वल्लभ सप्रदाय से संबद्ध) तथा जो मंडली बायी ओर झुका मुकुट धारण करती हैं वे अपने को निम्बार्कीय मडली मानती हैं। इन तथाकथित वल्लभ कुली तथा निम्बार्कीय मंडलियो की रास की पद्धति एकदम समान है, परंतु मुकुट को लेकर ही इन मडलियो के दो दल हो गये हैं जिनमे पिछले दिनो बडा वितडावाद भी हो चुका है। मथुरा के न्यायालय मे इस सबध मे दोनो दलो मे लबी मुकद्दमेबाजी भी हुई, परतु उसका कोई सतोषजनक परिणाम नही निकला। दोनो वर्गों मे प्रचलित रास के मंचीय स्वरूप के एक होते हुए भी मुकुट के प्रश्न पर वितडा-वाद क्यो उठा इसका रास के विकास से भी सबंध है अत. यहा उन परिस्थि-तियो का उल्लेख कर देना अप्रासगिक होते हुए भी अनावश्यक न होगा जिनके कारण यह मतभेद इतना उभरा। रास के शृंगार की चर्चा से पूर्व हम इस प्रसग का भी उल्लेख यहा कर देना चाहते है।

दायां और बायां मुकुट

प्रारंभ मे जब करहला मे रास का उदय हुआ उस समय कृष्ण को मयूरपखो का मुकुट ही धारण कराया गया था। करहला मे पैरो के उस मुकुट के जो अवशेष सुरक्षित हैं वह स्वय इसके प्रमाण हैं। यह मुकुट उस समय सभवतः दायी ओर ही झुका रहा होगा। इसके दो कारण थे :

(१) करहला के रासधारी रास मे दायी ओर झुका मुकुट ही धारण करते रहे है। इनके अनुसार रास का परपरागत मुकुट यही है।

(२) वल्लभाचार्य जी का रास से एक अनुश्रुति द्वारा जो सबंध जुडा माना जाता है उससे भी रास के मुकुट का दायी ओर झुका होना प्रतीत होता है क्योकि वल्लभ सप्रदाय के देश-प्रसिद्ध श्रीनाथजी के मदिर मे तथा अन्य पुष्टि सप्रदायी मंदिरो मे भी यही मुकुट धारण होता है। अष्टछाप के मुकुट के वर्णनो मे भी मुकुट का दायी ओर झुका होना ही ध्वनित होता है, परतु हित हरिवश जी के नेतृत्व मे वृदावन मे रास का जो विकास हुआ उसमे रसिको ने रास मे जो मुकुट धारण कराने की परपरा डाली वह मुकुट सभवतः बायीं ओर झुका हुआ था। इन रसिको ने रासेश्वरी का पद राधा को दिया था अतः उनकी भावना के अनुसार रास मे रासेश्वरी राधा के अनुगत उनके रसिक प्रियतम के मुकुट की लटक भी अपनी प्राण प्रियतमा राधा के चरणो की ओर ही झुकी रहे यही इन अनन्य रसिको को प्रिय था। ब्रज मे राधा-भक्ति का उदय मूलतः निम्बार्क सप्रदाय की देन थी, अत. राधा की उपासिका इन रासमंडलियो के लिए लोक मानस बाद मे निम्बार्कीय कह कर पुकारने लगा।

श्री नारायण भट्ट के यत्न से रासमच का जो समन्वित स्वरूप खडा हुआ उसमे रास की दोनो ही परपराए एक-दूसरे से मिल गईं और वे अपनी-अपनी भावना के अनुसार प्रिया-प्रियतम का शृंगार करती रही। उस समय इन मडलियो मे मुकुट के मामले मे कोई अतर्विरोध होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता। मोटे रूप से तब करहला के रासधारी दाया और वृदावन की रस-भक्ति की उपासिका रासमडली कृष्ण के मस्तक पर बाया मुकुट धारण कराती थी।

परतु धीरे-धीरे वल्लभ सप्रदाय का आकर्षण रास की ओर बढने लगा। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय से ही वल्लभ सप्रदाय मे माधुर्य भावना का विस्तार हो गया था। तभी श्रीनाथ जी की सेवा को राजसी विस्तार देने के साथ-साथ विट्ठलनाथ जी ने सामूहिक ब्रजयात्रा की भी नीव डाल दी थी। कालातर मे रासलीला इन ब्रजयात्राओ का प्रमुख अग हो उठी। ब्रजयात्रा मे वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो के साथ प्रायः करहला के रासधारी ही

यात्रा करते थे क्योकि तब रास का नेतृत्व उन्ही के पास था और उनसे उन्हे अच्छी आय होती थी। करहला के रासधारियो ने यात्रा पर अपना यह अधिकार बनाये रखने के लिए वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियो मे और अधिक घनिष्ठता स्थापित की और उनमे से कुछ मडलियो ने वल्लभ सप्रदाय के मुख्य ठाकुर श्रीनाथ जी का मुकुट भी रासमडली के लिए प्राप्त कर लिया। यह मुकुट विशेष अवसरो पर रास मे कृष्ण के स्वरूप को धारण कराया जाता है और जब रास मे कृष्ण के स्वरूप श्रीनाथ जी का मुकुट धारण करते है तो इस मुकुट के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान व्यक्त करने के लिए पुष्टि सप्रदाय के गोस्वामिगण (तिलकायत भी) खडे होकर ही रास देखते हैं।

श्रीनाथ जी का यह मुकुट रासमंडलियो के लिए बहुत सम्मानसूचक समझा गया और इस मुकुट से युक्त रासमडली को धनाढ्य वल्लभ सप्रदायी वैष्णवो से लाभ भी अधिक होने लगा। धीरे-धीरे वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो मे यह विचार भी बल पकड़ गया कि वल्लभ सप्रदाय द्वारा आयोजित ब्रज-यात्रा मे वही मडली रास करे जिसे श्रीनाथ जी का मुकुट प्राप्त हो। इस प्रकार से बहुत-सी प्रमुख मडलिया अपने आपको ब्रज-यात्रा के अधिकार से वचित अनुभव करने लगी और उनमे दायें मुकुट वालो का विरोध उभरा।

वल्लभ सप्रदाय की आर्थिक दृष्टि से लाभकर ब्रज यात्राओं पर दायें मुकुट का एकछत्र अधिकार हो जाने पर बायें मुकुट के पक्षपाती रासमडली के स्वामियो ने बरसाने मे राधा अष्टमी के अवसर पर होने वाली बूढी लीलाओ को अपनी शक्ति परीक्षा का केंद्र बनाया। रास का नेतृत्व नारायण भट्ट जी ने स्वय करहला के रासधारियों को ही प्रदान किया था जो उनके सहयोगी थे अत. बरसाने मे बूढी लीलाओ के अवसर पर भी प्रायः करहला की मंडलिया ही रास करती थी, परंतु करहला के रासधारियो के वल्लभ सप्रदाय के अनुगत हो जाने पर अन्य निम्बार्कीय रासमंडलियो ने यह प्रचार किया कि राधा रानी की नगरी मे तो राधा के चरणो की ओर झुके मुकुट से ही रास हो सकता है, अत या तो करहला वाले अपना मुकुट बदलें अन्यथा बरसाने का रास निम्बार्कीय मडलिया ही करेंगी। बरसाना राधा-भक्ति का ब्रज मे मुख्य केंद्र है अतः यह माग इस क्षेत्र मे लोकप्रियता प्राप्त कर गई।

मुकुट का मुकदमा

जब यह मामला बढा और समझौते की कोई संभावना न रही तो मामला न्यायालय मे पहुचा। दोनो ही पक्षो ने धर्मशास्त्रो और साहित्य के प्राचीन उल्लेखो के आधार पर न्यायालय में अपने मुकुटो की प्रामाणिकता सिद्ध करने की चेष्टा की, परतु अंग्रेजी शासन में न्यायाधीशो को भारतीय

धर्म और कला के इन आतरिक पर्तो के अतर्तम मे पैठकर ऐसे तथ्यो के निरूपण का अवकाश कहा था ? अत न्यायाधीश ने दोनो पक्षो की तुष्टि के लिए निर्णय दिया कि रास का मुकुट न तो दायी ओर झुकाया जाय न बायी ओर, वह एकदम सीधा कर दिया जाय, परतु इस निर्णय से कोई भी पक्ष संतुष्ट न हो सका। फल यह हुआ कि व्रजयात्रा पर दाये मुकुट वालो का एकाधिकार हो गया और वे वल्लभकुली कहे जाने लगे और बरसाने की बूढी लीलाएं तव से बायें मुकुट वाली निम्बार्कीय मडलिया करने लगी। इस झगडे से रासमडलियो को कोई लाभ न होकर व्यर्थ के मतभेद उभरे और इससे उस भावना को ठेस लगी जो नारायण भट्ट जी जैसे भक्त आचार्य ने रास के समन्वय द्वारा निर्मित की थी।

इसे समय की गति का ही प्रभाव कहा जायेगा कि आज बरसाना के उस क्षेत्र में जहा नारायण भट्ट जी ने रासमडलो की स्थापना करके बूढी लीलाओ का आरभ किया था और करहला-वासियो को रास के कर्णधार के रूप में आगे बढाया था वहा से उनका आधिपत्य उठ गया है। अब करहला और उनकी परपरा के रासधारी प्रमुख रूप से वृदावन मे आकर बस गये हैं और रस-भक्ति का जनक वृदावन आज दायें मुकुट वालो का मुख्य केंद्र है। बायें मुकुट का प्रभाव अपनी ही भूमि वृदावन मे आज गौण हो गया है और अब उसे बरसाने के उस रास क्षेत्र मे टिकाव मिला है जो पहले करहला वालो का कार्यक्षेत्र था। दूसरी ओर वृदावन मे आज दाये मुकुट की मडलियो की धूम है। वृदावन ही क्या वर्तमान मे तो पूरे व्रज मे दायें मुकुट वालो का ही अधिक प्रभाव है। सब प्रसिद्ध मडलिया इस समय दाये मुकुट की ही है। बाये मुकुट को धारण करने वाली केवल इनी-गिनी ही रासमडलिया हैं और उनका कलात्मक स्तर भी बहुत उभरा हुआ नही है। इसलिए मुकुट के इस विवाद से बरसाने की बूढी लीलाओ के स्तर मे गिरावट ही आई है और व्रज का यह सर्वप्रमुख प्राचीन रास महोत्सव का मेला काफी फीका पड गया है। ऐसा महत्वपूर्ण उत्सव तो यदि सब रासमडलियो के सामूहिक सहयोग से ही सपन्न हो तो वह कही अधिक कलात्मक और प्रभावपूर्ण बन सकता है, अस्तु।

रास का शृंगार

मूंड बाधना

मुख-शृगार हो चुकने पर वस्त्र धारण करने के बाद स्वरूपो का मुकुट शृगार किया जाता है। मुकुट शृगार से पूर्व सब स्वरूपो के मस्तक पर एक चौकोर काला कपडा, जो रूमाल से कुछ अधिक लबा-चौड़ा होता है, बालो को

ढककर गांठ लगाकर सिर के पीछे की ओर बाधा जाता है। इसे 'मूंड बाधना' कहते हैं। इस मूड बाधने का एक प्रत्यक्ष लाभ यह है कि बालो की चिकनाई से मुकुट खराब नही होते तथा नृत्य के समय बालो के इधर-उधर छितरा जाने या मुकुट के ढीले होने का डर नहीं रहता। यहा यह ध्यान रखने की बात है कि रास के स्वरूपो के बाल प्राय कटाये नही जाते। वे स्त्रियो के बालो जैसे लबे होते हैं।

श्रीकृष्ण का शृंगार

श्रीकृष्ण के मस्तक पर सबसे पहले उनके ग्वाल वेश के अनुरूप पगडी बाधी जाती है। इस पगडी के लपेटो मे ही काले कपडे की लगभग एक गज लंबी सिली हुई गोटे से सजी हुई चोटी पीछे की ओर लटकती हुई बाध दी जाती है जो ऊपर से चौडी और नीचे की ओर से सकरी होकर नुकीली होती जाती है। यह चोटी रास के समय कृष्ण के स्वरूप के कटिभाग तक आ जाती है और नृत्य के समय हिलती हुई बडी भली प्रतीत होती है। पगडी के लपेटो के साथ ही कानो के ऊपर कुडल भी धारण करा दिए जाते हैं। मुख पर आगे की ओर काले रग की कुछ लटे भी इधर-उधर डाल दी जाती है जो प्राय स्त्रियो की चोटी गूथने के उपयोग मे लाये जाने वाले चुटीलो जैसी ही लंबी होती हैं। यह कृष्ण के लबे और घुघराले बालो के प्रभावकारी प्रदर्शन के लिए शृगार मे लगाई जाती हैं। पगडी के ऊपर रास का मुकुट बाधा जाता है जो माथे के ऊपर सिर के अग्रभाग मे सुशोभित रहता है। यह मुकुट साधारणत सलमा का होता है परतु कुछ रासमडलियो पर चादी के सोने का पानी चढे जडाऊ मुकुट भी हैं। यह रास के भक्तो द्वारा भेंट किए हुए हैं। इस मुकुट के साथ ही इसी से सटा-कर मोर पक्ष भी धारण कराया जाता है और मुकुट के नीचे पुष्पो की अथवा मोतियो की बदनी बाधी जाती है। यह बंदनी ब्रज के माली बनाते हैं या रास के शृगारी स्वय ताजा फूलमालाओ से तैयार कर लेते हैं। नाक मे बुलाक धारण कराई जाती है। आजकल कभी-कभी सिरपेच नाम का एक दूसरा मुकुट भी रास के कृष्ण को धारण कराया जाने लगा है जो काली पट्टी के ऊपर बाध दिया जाता है। रास के मुकुट को ब्रजरत्न कहा जाता है।

रास का परपरागत मुकुट भारी होता है जिसे छोटे बालक नही साध पाते। इसलिए जब बाललीला मे कोई बहुत छोटा बालक कृष्ण बनाया जाता है तो उसे केवल कुडलो के साथ मयूर-पक्ष ही धारण करा दिया जाता है।

पहले कभी-कभी रासमडलियो मे कृष्ण का वल्लभ सप्रदाय के मदिर के ठाकुरो की भाति कुलह, टिपारे, चन्द्रिका और सेहरे का शृगार भी होता था, परतु अब यह शृंगार बहुत कम देखने मे आता है।

मस्तक के इस शृगार के अतिरिक्त कृष्ण के गले मे कठा, मोतियो की

मालाएं, रेशमी मालाए, दुलड़ी आदि भी धारण कराई जाती है। बाजुओ पर मोतियो के बाजूबद कलाई मे कड़ूला आदि भी धारण कराये जाते है।

श्रीकृष्ण के वस्त्र

रास मे आजकल श्रीकृष्ण की दो प्रकार की वेशभूषा का प्रचलन है : (१)कटिकाछनी की वेशभूषा, (२) बगलबदी की वेशभूषा। कभी-कभी कटिकाछनी के स्थान पर बारहबंदी भी धारण करा दी जाती है। परतु चाहे कटिकाछनी का श्रृगार हो चाहे बारहबदी या बगलबदी का, उसके ऊपर कमर मे कपडे की पेटी बाधकर एक पटका अवश्य बाधा जाता है। दूसरा पटका कधे पर दुकूल के स्थान पर डाला जाता है। पात्रो को पहले चूडीदार पायजामा पहना कर फिर उसके ऊपर पीतावरी (रेशमी रगीन धोती को रास की भाषा मे पीतावरी कहा जाता है, जो प्राय. केसरिया रंग की होती है) पहनाई जाती है और उसके ऊपर फिर सफेद सूत की डोरी मे पिरोये गये घुघरू बाधे जाते है। रासमडली के श्रृगारी डोरी मे घुंघरू गूथने की कला मे बडे कुशल होते हैं। वह घुंघरू चमडे मे सिले घुघरुओ से कही अधिक बजते है और साथ ही टूटते भी बहुत कम है। इन वस्त्रो और श्रृगार के अतिरिक्त कृष्ण के स्वरूप के साथ लकुट और मुरली का होना भी आवश्यक होता है। मुरली को प्रायः कृष्ण-वक्ष से बधे पटुका मे खोस कर रखते हैं।

श्री राधा का श्रृंगार और वेशभूषा

श्री राधा का मूड बाधकर उनके भी काले अलक लटकाये जाते है और मस्तक के ऊपर चद्रिका और उसके नीचे वदनी बाधी जाती है। राधा के लिए मोती की वदनी भी धारण कराई जाती है। कुछ चद्रिका ही ऐसी बनाई जाती हैं कि उनमे चद्रिका के साथ ही वदिनी सलग्न रहती है। ऐसी चद्रिका धारण करा देने पर फिर बदिनी अलग से धारण कराने की आवश्यकता नही रहती। राधा जी की नाक मे नथ, भुजाओ पर बाजूबद, कठ मे कंठा, दुलरी आदि आभूपण, कलाई मे चूडिया और अगुली मे अगूठी भी धारण कराई जाती है।

राधा जी के वक्ष पर चोली, अंगरखी या बारहतनी धारण कराई जाती है। पावो मे पायजामा के ऊपर लहगा और फिर लहगे के ऊपर साडो पहनाई जाती है। शीश पर वे ओढनी ओढती है। उनकी कमर मे भी कपडे की पेटी बाधी जाती है।

सखियो व अन्य नारी पात्रो का श्रृगार और वेशभूपा

सखियो और राधा जी के श्रृगार मे मुख्य अतर केवल यह है कि

सखियो को चद्रिका धारण नही कराई जाती। सखी ही क्या राधा के अतिरिक्त रास मे किसी भी अन्य नारी पात्र को चद्रिका नही पहनाई जाती। विष्णु के साथ लक्ष्मी या योगमाया 'जन्म लीला' मे आती है, परतु उन्हे भी चद्रिका नही पहनाई जाती। यह सब नारी पात्र मस्तक पर भृकुटी और वदिनी ही धारण करते है। इन पात्रो का भी मूड बाधा जाता है और उन्हे काले डोरो के बने अलक भी पहनाये जाते हैं।

इन सभी नारी पात्रो के वस्त्र वही होते हैं जो राधा जी की वेशभूषा है। अतर यही होता है कि सखियों की पोशाक राधा जी से कुछ कम चमकीली और कम भडकीली रहती हैं। लक्ष्मी और योगमाया को नृत्य नही करना होता, अत· उन्हे लहगे के नीचे चूडीदार पायजामा भी नही पहनाया जाता।

अन्य नारी पात्रो मे रास मे जसोदा, रोहिणी, देवकी, कीरत, पूरनमासी, पुरोहितानी, ढाढिन आदि नारी पात्रो की पोशाक भी गोपियो जैसी ही होती हैं। इन्हे भी पायजामा नही पहनाया जाता। इनके वस्त्र अवस्था और भूमिका के अनुसार कम और अधिक तडक-भडक के होते हैं। यह सब पात्र घूघट लगाने वाले हैं इसलिए इनके मस्तक पर वदिनी और भृकुटी भी नही घराई जाती।

पूतना की वेशभूषा

इन नारी पात्रो के अतिरिक्त कस के पक्ष की एक नारी पात्र पूतना भी एक लीला मे मच पर आती है। कस द्वारा जब पूतना दरबार मे बुलाई जाती है तब वह काली साडी, काली ओढनी तथा लबे बाल फैलाये और काला मुह (कोयले से) किये रहती है। कुछ मडलिया कपडे के बने काले मुखौटे का भी प्रयोग करती हैं जो पूतना के मुह के आगे लगा होता है। मुखौटा होने पर फिर काला मुह करना आवश्यक नही रहता। जब यही पूतना नन्द भवन के लिए प्रस्थान करती है तो काले कपडे बदल कर गोटे का लहगा-ओढनी पहनती है और घूघट मार लेती है। कृष्ण द्वारा मारे जाने पर वह अपना घूघट उघाड देती है तब उसका काला मुह या काला मुखौटा दर्शको के सामने आ जाता है। इसी से मरने के बाद व्रज के लोग पूतना को पहचानते हैं और उसे उठाकर दाह सस्कार के मिस शृंगार-घर मे ले जाते है।

रास के पुरुष पात्रो की वेशभूषा

बलराम जी · बलराम जी की वेशभूषा वही होती है जो कृष्ण की है।

नन्दबाबा · पावो मे सूती पीताबरी (रगीन धोती) वक्ष पर जामा या झगा तथा शीश पर पाग धारण करते हैं और उनके गोप वेश को व्यक्त करने के लिए पाग के ऊपर भी एक पटुका बाधा जाता है। उनकी कमर मे फेंटा व

दोनो कधो पर पडा लवा दुकूल रहता है। वे सफेद दाढी-मूछ लगाते हैं तथा उनके हाथ मे माला, झोली और लाठी रहती है।

वृषभानु, वसुदेव, अक्रूर, उद्धव, तोष, श्रीदामा और ढाढी . यह सब पात्र रास मे लगभग एक-सी ही वेशभूषा धारण करके आते हैं। ढाटी को छोड़-कर रास के ये सभी पात्र या तो राजवर्ग के है या कृष्ण के अनन्य सखा हैं। इसलिए इनकी विशिष्ट स्थिति है। यह या तो शीश पर पगडी वाधते है या साफा और उसके ऊपर मिरपेच धारण करते है। श्रीदामा को सिरपेच के साथ मोर पख और कुंडल भी धारण कराये जाते है क्योकि वे राजकुमार और श्रीराधा के भाई हैं। वैसे कुछ मडलिया उन्हे केवल साफा और सिरपेच पर भी रखती है। पावो मे वृषभानु, वसुदेव और ढाढी चूडीदार पायजामा और मोजा अथवा पीतावरी दोनो मे से कुछ भी धारण कर सकते है परतु ढाढी चूडीदार पायजामा ही पहनता है। अक्रूर और उद्धव अधिकतर पीतावरी धारण करते है। वक्ष पर ये सब पात्र वगलवंदी, जामा या झगा पहनते है। कमर मे फेंट तथा कभी-कभी दोनो कधो पर दुकूल भी रहता हैं। वसुदेव और अक्रूर के हाथ मे तलवार या कमर की फेंट मे कटार भी हो सकती है। शेष पात्र हाथ मे प्राय· हल्की सी छडी रखते है।

कंस और इंद्र : कस चूडीदार पाय्जामा, मोजा तथा पारसी मच पर प्रचलित राजसी पोशाक पहनता है। सिर पर करल के ऊपर गोल मुकुट बाधा जाता है। गले मे मोतियो की माला व हार आदि पहनाये जाते है और मोटी रौबीली मूछे लगाई जाती है। उसके हाथ मे तलवार रहती है। पहले कस को रास मे काला (राजसी रग का) झगा पहनाया जाता था परतु अब वह कही देखने मे नही आता।

रास मे इद्र भी वही वेशभूषा धारण करता है जो कस पहनता है। अतर यही है कि कस के मस्तक पर गोपी चदन से त्रिपुड बनाया जाता है जबकि इद्र के मस्तक पर रोली का वैष्णवीय तिलक रहता है।

दीवान जी · ये कस के मत्री होते है। इनके एक पाव मे पायजामा और दूसरे मे धोती रहती है। मुह पर काले-पीले टिपके लगे होते हैं, माथे पर नुकीला टोप कपडे से लिपटा हुआ लगा रहता है। एक कधे पर लवा दुपट्टा रहता है जो दीवान जी के मच प्रवेश के समय उनके पीछे-पीछे जमीन पर घिसटता चलता है। इनकी कमर मे प्राय. पिस्तौल का खाली खोखला लटकता रहता है। कपडो की पोटली इनके पेट से बाध कर इनकी थोद वाहर निकाल दी जाती है। निकली हुई थोद पर यह ढीला झगा पहनते है। इनके हाथ मे डडा या फटा वास रहता है और पावो मे घुघरू वधे रहते हे। दीवान जी लवे-लवे डगो से धमक कर भूमि पर पाव पटकते हुए द्रुति गति से राजदरवार मे पधारते है।

कुछ रासमंडलियां दीवान जी को पूरा जोकर न वनाकर उनकी कुछ मान मर्यादा वढाने की चेष्टा करती हैं। वे उन्हे चूड़ीदार पायजामा, जामा, झंगा या शेरवानी पहनाती है। उनकी कमर में पटुका तथा मस्तक पर साफा वांधा जाता है।

दूत : कंस के दूत की पोशाक प्राय' काली होती है। काला पायजामा, काला कोट और काला साफा या काली टोपी लगाये वह हाथ में तलवार, नकली वदूक या लाठी लिए रहता है।

गर्गाचार्य, श्रीधर, कालिदास (कंस के पुरोहित) तथा पाडे : यह सव रास के ब्राह्मण पात्र है जो प्रायः पीतावरी पहने, नंगे शरीर पर द्वादश तिलक लगाये मच पर आते हैं। इनके मस्तक पर पगड़ी, माथे पर वैष्णव तिलक तथा गले व हाथो में कंठी वधी रहती है। इनकी पीतावरी के ऊपर एक पटुका वाघ दिया जाता है और कधे पर प्रायः रामनामी या सादा दुकूल रहता है। इनके एक हाथ में सोटा और दूसरे में लोटा सुशोभित होता है। यदि जाडे के दिन हो अथवा किसी कारण पात्र को नगे वदन न रखना हो, तो यह प्रायः सफेद वंगलवंदी अथवा झगा धारण करते है।

देवता और ऋषिगण : देवता और ऋपि-मुनियो की वेशभूषा पावो में पीली केसरी रंग की पीतावरी, वक्ष पर वगलवंदी और उसके ऊपर पटुका तथा शीश पर वाल हैं। ऋपि लोग वगलवदी के स्थान पर अलफी भी धारण कर लेते है। नारद और शकर जैसे पात्र नगे शरीर भी मच पर आ जाते हैं। नारद जी के दोनो कधो पर पीला दुकूल व माथे पर जटा रहती हैं और शकर जी को मृगचर्म पहना कर उनके अग मे राख मलदी जाती है। महादेव जी का काले कपडे से वने सर्पो से अलकरण किया जाता है और शीश पर पट्ठे का चन्द्रमा पन्नी चिपका कर जटाओ मे सजा दिया जाता है। उनके माथे पर सिरपेच रहता है और रुद्राक्ष की मालाए गले और हाथो मे लपेट दी जाती है। नारद जी के हाथ मे खरताल या तानपुरा दे दिया जाता है। ब्रह्माजी की पगड़ी के नीचे सफेद दाढी अवश्य लगाई जाती है और प्राय. उन्हे सफेद झगा पहनाया जाता है। कुछ मंडली पगड़ी के ऊपर ब्रह्मा जी के चार मुख वाले मुखौटे को भी प्रयोग मे लाती हैं।

विष्णु : पीली पीतावरी, वगलवदी अथवा वंद गले का सलमा का कढा हुआ कोट पहनते है। कमर मे पटुका वांधा जाता है और मस्तक पर वाल रख कर टोपी पर गोल मुकुट धारण कराया जाता है। कृष्ण का मुकुट विष्णु को नही पहनाया जाता। उनके चार हाथ वनाये जाते है जिनमे शख, सफेद लोहे की चद्दर का काटकर वनाया गया चक्र, कागज की गदा तथा फूलो की माला रहती है।

मनसुखा, अन्य गोप तथा सुदामा : पावो मे पीताबरी, नंगे शरीर पर द्वादश तिलक, अटपटी पाग जो मनमाने ढंग से पेचदार बाधी जाती है, कमर मे फेटा तथा हाथ मे डडा रहता है। 'सुदामा लीला' मे दरिद्री सुदामा की भी यही वेशभूषा रहती है। उसकी धोती ऊची बांधी जाती है जो फटी होती है, उसके गले मे काठ की मालाएं और हाथ मे लोटा और लकुट रहते है।

कहा जाता है कि किसी समय कृष्ण के सखाओ का भी रास मे ठीक वैसा ही शृगार होता था जैसा कृष्ण का होता है परतु वर्तमान किसी भी रास-मडली मे सखाओ का ऐसा शृगार होता नही देखा गया।

जय-विजय : यह सुदामा लीला मे भगवान के पार्षद रूप मे आते है। यह पीतावरी या चूडीदार पायजामा, झगा अथवा वगलबदी पहनते है। मस्तक पर साफे के ऊपर किरीट बधा होता है व हाथ मे छडी रहती है।

भील . सुदामा लीला में भील काली कोपीन, काले घने बाल और कोयले से काला शरीर किये हाथ मे तीर कमान लेकर मच पर आते हैं।

नल कूवर व मणिग्रीव : यह वृक्ष रूप मे एक कपडे से अपने को ढके तथा दोनो हाथो को कपडे के अदर सिर पर रखे हुए उनमे ऊपर उठी हुई वृक्ष की कोई टहनी पकडे खडे रहते हैं। कृष्ण के द्वारा इन्हे हिलाये जाने पर यह टहनी हाथो से छोडकर ऊपर पडा कपडा उतार देते है तथा कपडे के अदर से वे पीतावरी और वगलवदी पहने तथा मस्तक पर साफे के ऊपर सिरपेच या किरीट बाधे प्रगट हो जाते हैं।

भाट और भांड़ : यह कृष्ण और राधा के जन्मोत्सव मे आते है। भाट दुलंगी धोती बाधे कभी नगे शरीर और कभी वगलवदी पहने आता है। माथे पर बाल लगे होते हैं या पाग वधी रहती है। हाथ मे यह लाठी लिए रहता है। भांड प्राय तीन आते है जिनमे से एक तो चूडीदार पायजामा, शेरवानी तथा मूड़ पर काली टोपी लगाये रहते है तथा शेष दोनो तहमद लगाये, नगे शरीर, कमर मे फेंटा बाधे तथा माथे पर बाल लगाये अथवा टोपी पहने होते है। इनमे से एक के गले मे ढोलक लटकी रहती है तथा दूसरे की कमर मे सारगी बधी रहती है।

राक्षस पात्र

इन पात्रो के अलावा कस के द्वारा जो राक्षस कृष्ण के मारने को भेजे जाते हैं उनमे से मुख्य पात्र कागासुर, वकासुर, तृणावर्त, वत्सासुर, धेनुकासुर तथा अघासुर आदि है। कागासुर और बकासुर की वेशभूषा एक जैसी ही होती है, उसमे केवल रग का अतर है। कागासुर के सब वस्त्र काले होते है तथा बकासुर के सफेद। पर कोई-कोई मडली बकासुर को भी काले वस्त्र पहना देती है।

कागासुर काला कुर्ता व पायजामा तथा वकासुर सफेद कुर्ता व पायजामा पहनता है। इनकी कमर मे एक फेंटा वधा रहता है और माथे पर सरकडे या खपच्ची वाधकर उसके ऊपर काला या सफेद कपडा चढाकर चोच जैसी आकृति वना दी जाती है।

तृणावर्त भी काला पायजामा और काला कुर्ता पहनता है। उसके शीश पर काले केश, कमर मे काला पटुका बांधा जाता है और मुह भी काला कर दिया जाता है।

वत्सासुर जव कस के दरवार में आता है तव तो उसका वेश भी वही होता है जो तृणावर्त का होता है परंतु कृष्ण के पास आते समय जव वह वत्स रूप रखता है तव हाथो को भी भूमि पर टेककर चलना होता है। उस समय उसके मुह के आगे एक कपड़ो की पोटली-सी वाव दी जाती है जिसमे आगे कोयले से वछडे जैसी आख, कान व मुह काढ दिये जाते हैं। लकडी के वने सीग भी उसके माथे पर लगा देते हैं। उसकी पीठ पर से तव झूल की तरह का एक कपड़ा दोनो ओर डाल दिया जाता है। वत्सासुर के समान ही 'धेनुकासुर वध लीला' मे धेनुकासुर के मुह पर गधे के मुह, नाक, कान, आंख वनी हुई ऊपर जैसी ही पोटली वाव दी जाती है और पट्ठा काटकर या अखवार को मोड़कर उसके लवे-लवे कान लगा दिए जाते हैं। अव इनके मुखौटे भी वनने लगे हैं।

रास मे 'अघासुर वध लीला' मे अघासुर भी वनाया जाता है। इसके भी अन्य राक्षसो जैसे ही काले वस्त्र होते हैं, साथ ही उसके पीछे एक लवे साप की आकृति की लगभग एक या डेढ गज लवी मोटी पूछ लगा दी जाती है। यह पूछ काले कपड़े को सीमकर तथा उसके अंदर रूअड या घास-फूस भरकर वनाई जाती है। अघासुर के माथे पर लकडी का वना साप का फन वांध दिया जाता है जिसमे लाल कपड़े की लवी जीभ तथा केलो के वडे-वडे दात लगा दिए जाते है। ग्वाल-वालो को लीलने का दृश्य वनाने के लिए अघासुर का फन ऊपर करके नीचे लवा काला पर्दा लगा दिया जाता है। ग्वाल-वाल आते हैं तो अघासुर फन हिलाता है और गोप वालक स्वयमेव पर्दे मे ओझल होते चले जाते हैं।

रास मे प्रचलित विभिन्न पात्रो की वेशभूषा पर जव हम सामान्य दृष्टि से विचार करते हैं तो इस वेशभूषा पर हमे मध्यकालीन प्रभाव पूरी तरह उभरा प्रतीत होता है। रास की पूरी वेशभूषा मुगलकालीन भारतीय वातावरण से प्रभावित है। कुलही, कलगी, तुर्रा कृष्ण के शृगार मे मुगल दरवार की ही देन प्रतीत होते है। झगा, शेरवानी, चूडीदार पायजामा आदि उस समय मुगल सम्राटो तथा हिंदू राजपूत नरेशो की सामान्य वेशभूषा थी। इसी वेशभूषा ने रास के पात्रो को परिधान प्रदान किये है। पीतावरी, दुकूल, पटुका आदि

प्राचीन भारतीय परिधानो के साथ मुसलमानी तथा राजपूतानी परिधान और अलंकारो का रास की वेशभूषा पर गहरा प्रभाव पडा है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि रासमंच पर प्राचीन वेशभूषा और सोलहवी शताब्दी तक की भारतीय वेशभूषा का समन्वित रूप देखा जाता है। रास पर इस्लाम से प्रभावित वेशभूषा का गहरा प्रभाव है। उसके बाद भी देशकाल से रास की वेशभूषा प्रभावित होती रही है। दीवान जी के सिर पर टोप और पिस्तौल का खाली खोल ही नही कस के धोबी के मस्तक पर कभी-कभी गाधी टोपी के भी दर्शन हो जाते है। पारसी मच का भी रास की वेशभूषा पर प्रभाव पड़ा है। कंस की ड्रेस इसका उदाहरण है।

रास की वेशभूषा की दूसरी विशेषता यह है कि वह अधिकाशतः स्वाभाविक है। लोक प्रचलित परपरागत वेशभूषा को ही चटकीले रंगो मे डुबोकर नाटकीय बनाने की रास ने चेष्टा की है। ऐसे वस्त्र रास की वेशभूषा मे इने-गिने होते हैं (जैसे कटि काछनी) जो दैनिक जीवन के उपयोग मे नही आते, अन्यथा रास के सभी वस्त्र ऐसे है जिन्हे जनता आज भी पहनती है। रासधारी आवश्यकता होने पर लीला के इन वस्त्रो को इसीलिए व्यक्तिगत प्रयोग मे भी ला सकते हैं। रास मे प्रयुक्त होने वाली समस्त प्रसाधन सामग्री और वेशभूषा बहुत सीधी और सरल है, साथ ही यह अन्य मचीय वेशभूषाओ की अपेक्षा काफी आकर्षक भी है।

रास में दृश्यबंध

रास मे केवल सिहासन के आगे ही एक पर्दा लगाया जाता है, बाकी पूरा मच खुला रहता है। ऐसी दशा मे रास मे ऐसे दृश्यबध बनाने के लिए अवकाश नही होता जो समय सापेक्ष हो अथवा जो बाहर के मच पर लीला होते रहने पर भी मच के भीतरी भाग मे बद मच पर पर्दे के पीछे बनते रहते है। रास में उन्ही दृश्यबंधो का स्थान हो सकता है जो तुरत तैयार हो सके। रासधारी ऐसे दृश्यबधो के निर्माण मे बहुत प्रवीण होते है। वे रास के सिहासन पर केवल पर्दे के विभिन्न [illegible]ोगो द्वारा ही अनेक प्रकार के दृश्य-विधान करने मे समर्थ होते है। रास [illegible] पर्दा पात्रो की झाकी कराने, दृश्य समाप्त करने या दृश्य परिवर्तन की [illegible]ूचना देने के लिए तो होता ही है, साथ ही विभिन्न रग के पर्दो के साथ सिहासन का उपयोग करके भी रासधारी विभिन्न दृश्य विधानो की सुदर योजना कर सकते है। उदाहरण के लिए

शीशमहल का निर्माण : रास मे जब ऐसी स्थिति आती है कि कृष्ण भूमि पर रहे तथा राधा और सखियो को भवन मे (जिसे रास की भाषा मे 'सीस महल' कहा जाता है) चित्रित करना हो तो सिहासन के तखत पर राधा या

गोपिया खडी कर दी जाती हैं और सिहासन के तख्त के आगे उसे ढकता हुआ एक ऐसा पर्दा तान दिया जाता है जो वक्ष तक तखत पर खडे पात्रों को ढक लेता है। उस भाति ऐसा दृश्य कुछ क्षणो मे ही बन जाता है मानो सखियां अपने भवन मे खडी झरोखो मे से कृष्ण से सभापण कर रही हो।

गवाक्ष का निर्माण · यदि महल की अधिक ऊचाई न दिखानी हो तो केवल तखत पर खडे पात्रो का घुटनो से कुछ ऊपर तक का अग पर्दे से ढक दिया जाता है। इस प्रकार गवाक्ष का दृश्य प्रस्तुत हो जाता है।

अंतर्धान का दृश्य · रास मे जब कृष्ण के अनायास अंतर्धान होने के प्रसग आते है तो पहले से ही सिहासन के तखत से लगभग एक-डेढ फुट आगे दो व्यक्ति एक गहरे रंग का पर्दा तानकर खडे हो जाते है। कृष्ण अतर्धान का प्रसग आते ही पर्दे के पीछे हो जाते हैं। कृष्ण के प्रगट होने के समय झटके के साथ पर्दा हटा दिया जाता है और मुरली बजाते मुस्कराते कृष्ण पुनः प्रगट हो जाते है।

मनःस्थितियो का दृश्यांकन विधान : रास मे कई ऐसे प्रसग भी आते हैं जब कोई घटना मंच पर घटित तो नही होती, परंतु उसके भाव-चित्र का दृश्य विधान आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, उद्धव के साथ वार्तालाप मे तन्मय गोपियो के नेत्रो के सामने कृष्ण उभर उठते है और प्रेम मे तन्मय ब्रजबालाए उस समय उद्धव को भूलकर कृष्ण से ही लबे समय तक शिकवे-शिकायतें करने लगती है। इस स्थिति मे सिहासन के तखत के आगे और पीछे दो पर्दे तान दिए जाते है। पीछे की ओर पर्दा भडकीला गोटेदार (बैंगनी या आसमानी अथवा ऐसे ही किसी रग का) होता है जो यह व्यक्त करे कि दृश्य वास्तविक नही भावनात्मक है तथा आगे का पर्दा बहुत ही झीना और पारदर्शी होता है। इन दोनो पर्दों के बीच कृष्ण को त्रिभगी मुद्रा मे मुरली बजाते हुए खडा कर दिया जाता है। इन कृष्ण को लक्ष्य करके ही गोपिया अपने हृदयोद्-गार प्रगट करने लगती है।

इसी प्रकार ब्रज से लौटने पर उद्धव जब कृष्ण को उनके निष्ठुर होने का उपालभ देते है तब भी कृष्ण उद्धव को इसी शैली से अपने-आपको राधा, गोपी और नद-जसोदा सहित ब्रज मे दिखला कर उसे सतोष करा देते है कि उनका मथुरा निवास तो केवल एक लीला मात्र है, वास्तव मे वे तो सदा ब्रज मे ही निवास करते है। यदि लीलास्थल के पास कोई ऊंचा स्थल या गवाक्ष आदि हो तो सिहासन पर न बनाकर यह दृश्याकन वहा भी कर दिया जाता है। खुले मंच के कारण रास के पूरे लीलास्थल को ही आवश्यकता के अनुरूप उपयोग मे लाने की सहज सुविधा रासधारियो को प्राप्त है।

जमुना का चित्रण : रास मे जमुना का तट-चित्रण अनेक लीलाओ मे

आवश्यक होता है। जमुना के चित्रण के लिए सिहासन के आगे दो-तीन फुट स्थान छोडकर भूमि से सटाकर एक काला कपडा तान दिया जाता है। जमुना पार करने के दृश्य मे जब पात्र एक ओर से पर्दे के अंदर प्रवेश करके दूसरी ओर से निकल आता है तब उसका कुछ शरीर पर्दे के अदर रहता है और कुछ बाहर चमकता रहता है। जमुना की गहराई के प्रदर्शन के लिए जमुना मे पैठने वाला पात्र जहा एक ओर घुटने मोडकर झुक कर चलने लगता है वहा दूसरी ओर से पर्दा पकडने वाला व्यक्ति (जो स्वयं पर्दे के अदर ही छिपा होता है) पात्र के मुख की ओर से पर्दे को थोडा ऊचा उठाकर हिला देता है। इसी भाति जमुना का वेग और गहराई कम बताने के लिए पर्दे को नीचा कर दिया जाता है। जमुना-स्नान का दृश्य भी इसी पर्दे के पीछे बार-बार खडे होकर और बैठकर बना लिया जाता है। पात्र का कुछ मंत्र बोलते हुए शरीर को मलते हुए कभी उठना और कभी बैठना गोता लेने का दृश्य उपस्थित कर देता है। कुछ रासमंडलिया अब काले पर्दे के स्थान पर पेंटिंग से बनाये गये नीली धारा के पर्दे का प्रयोग भी जमुना के चित्रण के लिए करती है, जिस पर कमल आदि बने रहते है।

पूर्वनिर्मित दृश्यबंध

रास की कुछ लीलाओ के दृश्यबंध ऐसे भी होते हैं जो लीला से कुछ पहले से ही बनाकर अलग छिपाकर रख दिए जाते हैं और समय पर उन्हे लाकर तुरत मच पर जमा दिया जाता है। गोवर्धन पर्वत तथा कालिय नाग का दृश्य विधान इसी प्रकार होता है।

गोवर्धन पर्वत : गोवर्धन पर्वत बास की खपच्चियो से बनाया जाता है। एक बास को चीर कर उसकी किर्चें कर ली जाती हैं। फिर बास की एक मोटी लबी किर्च को आधार बनाकर उसके ऊपर पहली किर्चे मोड कर गोल-गोल आकार मे सुतली से कस कर बाध दी जाती हैं। इस प्रकार लगभग डेढ गज ऊंचा बास की फसटो का एक ढाचा इन किर्चो से बना लिया जाता है। बास पर थोडी दूर पर एक दूसरे से सटा कर बाधी गई इन फसटो पर बाद मे काले रग मे रगकर फटी धोती चढा दी जाती है। यह फसटें इस प्रकार बाधी जाती हैं कि अगल-बगल वे कम ऊची रहे और बीच मे अधिक ऊची। काले कपडे के साथ वृक्षो से तोड़कर पत्तिया और फूल मालाए बाधकर बास वाला सब हिस्सा ढक जाने पर पर्वत का रूप धारण कर लेता है। इस पर्वत के बीच के भाग मे एक झरोखा बिना ढका छोड़ दिया जाता है जिस पर एक काला पर्दा पडा रहता है। गोवर्धन के प्रगट होने पर वह छोटा पर्दा उलट जाता है जिसमे से एक छोटा बालक गोवर्धन पूजा के समय मुह निकाल कर ब्रजवासियो से माग-

माग कर भोग खाता है।

कालिय नाग . फटी काली घोती की एक लवी खोली मे, जो नीचे की ओर क्रमश पतली होती जाती है, रूअड या घास-फूस भरकर नाग बना दिया जाता है। कुछ मडलियां लोहे का बना-बनाया विशाल फन अपने साथ रखती हैं जो उस सर्पाकृति के मस्तक मे लगा दिया जाता है। पट्ठे को काटकर और उसे काला रंग कर भी साप का फन बनाया जाता है। साप के फनो मे काले-पीले टिपका लगा कर उसे और भयकर कर दिया जाता है। सर्प के फनो मे आतिशबाजी मे चलाई जाने वाली फुलझडिया भी लगा दी जाती हैं जो नाग नाथने के दृश्य खुलने के समय जला दिए जाने पर उसके मुख से ज्वाला फूटने का प्रभावशाली दृश्य उपस्थिय कर देती हैं।

यह कालिय नाग मच पर रखकर उसके पीछे जमुनाजी का काला पर्दा तान दिया जाता है। जमुनाजी के पीछे एक उलटी कुर्सी पर्दे के साथ लगा दी जाती है जो जमुना के पर्दे के कारण दर्शको को नही दीखती। यह कुर्सी एक ओर आगे रखे हुए कालिय नाग को साधती है वहा साथ ही पीछे कृष्ण को जमुना मे खडे होने के लिए आसन का भी काम देती है। कृष्ण पर्दे के पीछे एक पाव इस कुर्सी पर रखकर खडे होते हैं। यह पाव घोटू तक पर्दे के आवरण मे ढका रहता है। दूसरा पाव वह नाग के फन पर टेक लेते है और उसकी लवी पूछ को जो रूअड भर कर बनाई होती है एक हाथ की कलाई पर डाल कर दूसरे से वशी बजाते हैं। इस प्रकार कालियदह का एक भव्य दृश्य दर्शको के नेत्रो के सामने साकार हो उठता है। जमुना के इस पर्दे के दोनो छोरो को पकडे हुए दो बालक नागिन के वेश मे दोनो ओर खडे कर दिए जाते हैं। नागिनो के शीश पर जनाने बाल शरीर पर लिपटेमा काली घोती तथा वक्ष पर काली चोली रहती है। दो छोटी-छोटी कपडे की रूअड भरी काली पूछें इनकी कमर मे भी चोली के नीचे बाध दी जाती हैं जो बाहर की ओर लटकी रहती हैं।

हाथी का दृश्य : रास की कुछ लीलाओ मे हाथी की भी आवश्यकता पडती है। गोवर्धन लीला मे इद्रदेव हाथी पर सवार होकर जनता के बीच मे से मच पर आते हैं। कस वध मे कुवलिया पीड हाथी से कृष्ण का युद्ध होता है। रास मे हाथी कई ढग से बनाया जाता है। कालिय नाग का शरीर जिस प्रकार काले कपडे से बनाया जाता है वैसे ही या काले चूडीदार पायजामो के एक पायचे में कपडे भर कर सूड बन जाती है और उस पर सफेद खडिया से आखें काढ दी जाती है। केले के तने से लवे दात लगा दिए जाते हैं और पट्ठे काट कर हाथी के कान बना दिए जाते हैं। इस सूड को कई ढग से लगाकर हाथी बनाया जाता है।

साधारण हाथी और गधा : हाथी बनाने का सबसे सीधा ढग यही है कि यह सूड किसी आदमी के मुख पर बाध कर उसे झुक कर चलाया जाय तथा उसके गर्दन से पाव तक का अंग लबी झूल के ढग के कपडे डाल कर ढक दिया जाय।

'कंस वध लीला' के धोबी का गधा भी प्राय इसी ढग से बनता है। गधे की आकृति की कपडे की पोटली को (कागासुर के समान) गधा बनने वाले के मुह पर ढक कर उसे झुकाकर उसकी पीठ पर कपडे की लादी पर एक छोटा बालक धोबी का बेटा (फतुआ) बनाकर बैठा दिया जाता है। परतु इस प्रकार के हाथी या गधे पर बडा व्यक्ति नही बैठ सकता। ऐसे गधे या हाथी पर केवल प्रतीकात्मक ढंग से हाथ रख कर ही सवार को मच पर आना होता है। इसलिए हाथी बनाने के और कई ढंग रास मे निकाले गये है।

खाट का हाथी . सवारी के लिए हाथी बनाने के लिए एक खाट का उपयोग किया जाता है। इस खाट के एक ओर सेहरे पर हाथी की सूड बाध दी जाती है और तब उस खाट को दो व्यक्ति आगे-पीछे खड़े होकर उठा लेते हैं। इसके बाद यह पूरी खाट और उसके नीचे लगे व्यक्ति ऊपर से नीचे तक झूल डालकर ढक दिए जाते हैं। खाट के ऊपर हाथी का सवार बैठ जाता है और फिर खाट के नीचे के व्यक्ति अपने पावो से चलते हुए हाथी को मच तक पहुचाते है। जब ऊपर गद्गद करके एड लगती है तो खाट के नीचे लगे व्यक्ति बैठ जाते है और तब सवार हाथी से उतर सकता है। इन व्यक्तियो के खडे हो जाने पर हाथी फिर खडा हो जाता है।

चलता-फिरता हाथी . परतु हाथी की आकृति को और अधिक मुखर करने का एक और ढग है। हमने रुनकुता की सूर-जयती के अवसर पर श्री फतेहराम जी रासधारी से यह हाथी बनवाया था जिसे देखकर दर्शक अवाक् रह गये थे और बहुतो ने पहले यही समझा कि सचमुच ही कोई हाथी का छोटा बच्चा पकड कर ले आया गया है।

इस हाथी को बनाने के लिए हाथी के पाव के पजे के आकार के दो गोल लकडी के टुकडे किसी तख्ते से कटवाने पडते है और उनके बीच मे दो लडकी के हत्थे ठोकने पडते है। इनमे एक लकडी का हत्था तो आदमी के घेटुओ तक की लबाई का रखा जाता है और दूसरा इतना बडा रखा जाता है कि यदि आदमी झुककर खडा हो तो वह उसकी बगल को सहारा दे सके। इन दोनों हत्थो के बन जाने पर उन पर काला रग का कपडा चढा दिया जाता है और बीच की पोल मे रूई या फूस भर कर हाथी के आगे के दोनो पावो बना लिये जाते है। हाथी के पाव के इन दोनो हत्थो को पकड़ कर कोई भी व्यक्ति अपने दोनो हाथो के सहारे गर्दन झुका कर आसानी से चल सकता है। वह दाये हाथ

से छोटे हत्थे को पकडता है और उसे हाथ के सहारे पहले आगे रखता है, इसके वाद शरीर का वोझ दायें हाथ पर डालकर वह वगल मे लगे वायें हाथ के हत्थे को आगे वढाकर वडी स्वाभाविक चाल से चल सकता है। इन हत्थो से लाभ यह होता है कि हाथी वनने वाले व्यक्ति को अधिक झुकना नही पड़ता अतः उसकी गर्दन से कमर तक एक सीध रहती है और ऐसे हाथी पर एक सवार आसानी से बैठ सकता है। साथ ही उसका वोझ भी दोनो आगे के हाथो और पिछले पावो पर समान रूप से पड जाता है। इस प्रकार का हाथी बहुत ही स्वाभाविक लगता है क्योकि इस हाथी मे मानव की गर्दन के आगे वाला हिस्सा कपडे से ढक जाने पर हाथी का मुख-मडल साकार हो उठता है और आगे कढी हाथी की आखो मे छेद करके उनमे से हाथी वना व्यक्ति अपनी आखो से उस मार्ग को भली प्रकार देखने की स्थिति मे होता है जिस पर उसे चलना है। गर्दन के नीचे सूड और पीछे की ओर कमर से वधी पूछ भी इस हाथी को वडी स्वाभाविक आकृति दे देती है।

'गोवर्धन लीला' मे जव इंद्रदेव इस हाथी पर चलते है तो उनके सेवक भी उनके साथ पैदल होते है। हाथी पर से इद्रदेव खील-वताशे वखेरते चलते है जो वर्षा की वूदो का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके साथ उनका एक भृत्य पीपा वजाता चलता है जो मेघ-गर्जन का प्रतिनिधित्व करता है और एक व्यक्ति हाथ मे जलती हुई मशाल लेकर चलता है जो विजली की प्रतिनिधि होती है। मशाल को लिए व्यक्ति के हाथ मे मिट्टी के तेल की वोतल भी होती है। वीच-वीच मे (वोतल से) मिट्टी का तेल मुंह मे भरकर फिर उसका वह मशाल पर कुल्ला करता है तो मशाल एकदम जोर से भभक उठती है। मशाल की यह भभक विजली की तडकन का प्रतिनिधित्व करती है।

कूप निर्माण इसी प्रकार राम मे कुआं भी वना दिया जाता है। खाली पीपे मडलाकार लगाकर उन्हे कपडे से ढंक कर कुएं के गोलाकार मुख की आकृति दे दी जाती है। इन पीपो के वीच मे पानी से भरा एक टव या वाल्टी रख दी जाती है फिर किसी वांस के सहारे या यदि कोई वृक्ष हो तो उसकी शाखा मे रस्सी लटका कर उसमे घिर्री लगा दी जाती है। इस घिर्री पर से जव वर्तन डोरी के सहारे फासा जाता है तव वह नीचे टव से पानी भर कर ऊपर खीच लिया जाता है। इस प्रकार रास के मच पर पनघट भी साकार हो उठता है।

स्फुट दृश्य : इसी प्रकार रास के सिंहासन पर कुर्सी रख कर और उनके आगे कपडा वांध कर रथ तथा नौका आदि वना दी जाती है। कुर्सियो के आगे कपडा तानने का रासधारियो का अपना ढग है जो नाव या रथ की आकृति को उभारता है। वैसे कुछ रासमंडलिया अव पेंटिंग द्वारा प्लाई वोर्ड पर वने

पेंटिंगो का भी रथ आदि के लिए उपयोग करने लगी हैं, परंतु रास कृत्रिम और जड़ दृश्यबध नही सजीव और चलते-फिरते दृश्यबध पसद करता है। प्राकृतिक उपादानो से ही रास मे प्राकृतिक दृश्यबंध बनाये जाते है। साजी लीला मे स्थान-स्थान पर गमला सजा कर तथा लीलास्थल पर स्थान-स्थान पर बांस बाध कर उन पर फूल-पत्ती लगाकर उपवन का दृश्य उपस्थित्त किया जा सकता है। इसी प्रकार 'कसवध लीला' मे फंसटो पर घास रखकर उसे रंगीन कपडे की चीरो से लपेट कर और ऊपर से गोटा सजाकर तथा डोरी की प्रत्यचा लगा कर धनुप बना लिया जाता है।

रास मे लीला के अनुरूप दृश्यबध बनाने की इस प्रकार अपनी एक स्वतत्र परपरा है जिसकी सहजता और सरलता मे एक अनोखी नाटकीयता विद्यमान है।

रास के दृश्यबध मूल रूप से रासधारियो की मौलिक सूझबूझ की ही सृष्टि है जो परपरागत है और उनके अपने हैं। इन सभी दृश्यबधो के निर्माण के मुख्य साधन रंग-बिरगे कपड़े हैं जिनका उपयोग रासधारी बडी कुशलता से सफलतापूर्वक करते है। रास मे कपडो से दृश्यबंध बनाने की यह परपरा प्राचीनतम है। रासलीला अनुकरण की आदि आचार्य व्रज गोपिकाओ ने कृष्ण के विरह मे जब यमुना तट पर सर्वप्रथम कृष्ण लीलाओ का आयोजन किया था तो वहा भी उन्होने अपनी ओढनी से गोवर्धन का दृश्यबध बनाया था। भागवत-कार ने इस दृश्यबंध का उल्लेख निम्न श्लोक मे किया है ·

"मा भैष्ट वातवर्षाभ्या तत्त्राणविहित मया
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्वरम्।

(दशम स्कघ, अध्याय ३०, श्लोक २०)

६

रास-रसिक एवं रासधारी-परंपरा

भक्तियुग मे रास अपने उदयकाल के उपरात ही कृष्ण-भक्ति आदोलन के प्रचार और प्रसार का मुख्य आकर्षण वन गया। इसके सर्वप्रमुख दो कारण थे : (१) रास ने इस भक्ति-आदोलन को कलात्मक आधार प्रदान करके उसे जन मानस के वहुत अधिक निकट ला दिया। रास मे मानो स्वय कृष्ण ही प्रत्यक्ष होकर भक्तो के हृदय का स्पंदन वन गये थे। इस भाति भावुक भक्तो ने द्वापर के दृश्यो को सोलहवी शताव्दी मे रास के माध्यम से अपने नेत्रो के समक्ष प्रत्यक्ष देखा और अपने को उसमे तन्मय कर दिया। (२) भक्तियुग मे सभी कृष्ण भक्त आचार्य और उनके सप्रदाय किसी न किसी रूप मे रास मे संवंधित थे। उन सवकी रास मे अनन्य निष्ठा और आस्था थी जिसका प्रभाव उनके अनुयायियो पर भी वडे व्यापक रूप मे पडा। नाभादास जी ने 'भक्तमाल' मे ऐसे कई रास-रसिको का उल्लेख किया है जिनकी इस मंच मे अनन्य निष्ठा थी। रास के इन अनन्य रसिको मे वडे प्रसिद्ध भक्तो, कवियो और कलाकारो के नाम गिनाये जा सकते हैं।

व्यास जी द्वारा घुंघरू-बंधन

श्री हरिराम व्यास जैसे कट्टर ब्राह्मण ने अपने जनेऊ को तोडकर रास के स्वरूपो के घुंघरू वाध दिये थे, यह वात आज सुनने मे साधारण लगती है क्योकि अव्र शिखा और सूत्र के वधन हिंदू समाज मे शिथिल हो गए हैं, परंतु व्यास जी के युग मे यह एक वहुत ही असाधारण घटना थी। उस समय जनेऊ को तोड देना तो दूर, उसका उतारना मात्र भी एक अक्षम्य अपराध था। परंतु उस वातावरण मे सार्वजनिक रूप से जनेऊ को तोडकर रास मे प्रिया-प्रियतम के घुघरुओ को वाधना व्यास जी की रास मे अनन्य निष्ठा का ही प्रतिफल था। उन्होने प्रिया-प्रियतम के घुघरुओ मे जनेऊ का काम आ जाना ही उसके धारण करने की सवसे वडी सफलता माना था।

रामभक्त अलि भगवान

उस समय रास का आकर्षण इतना अधिक था कि जो भी रास मे आ बैठता वही सब कुछ भूलकर कृष्णमय हो जाता था। प्रसिद्ध रामभक्त 'अलि भगवान' रास को देखकर ऐसे कृष्ण रंग मे रगे कि वह अवध राजकुमार को भूलकर ब्रज के ग्वारिया के पीछे ही मतवाले हो उठे।[1] तुलसी ने जहा ब्रज मे ब्रजराज कुमार से धनुष धारण कराया था वहा अलि भगवान ने धनुषधारी को मुरलीधारी मानकर अपने जन्म को सफल माना था।

विट्ठल विपुल जी और खड्गेसन का देह-त्याग

रास के रस मे अभिभूत भक्त ऐसे विभोर होते भी देखे गये हैं कि वे रास मे बैठे-बैठे ही ऐसे विह्वल हुए कि उनके प्राण ही शरीर छोडकर कृष्णमय हो गए। स्वामी हरिदास जी के अनन्य शिष्य विट्ठल विपुल जी ने रास मे बैठे-बैठे अपना शरीर ही त्याग दिया था। इनका उल्लेख भक्तमालकार ने यो किया है :

जुगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद,
गान तान सुधि कैं रही न सम्हार हैं।
मिल गए ठौर, पायौ नाम तन और,
कहै रस-सागर सो ताकौ यो विचार है।

कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जी के स्वर्गवास से विट्ठल विपुल जी को असह्य कष्ट हुआ था। अपने गुरु के स्वर्गवास के बाद उन्होंने अपनी आखो पर पट्टी बाध ली और वह किसी को भी इन नेत्रो से नही देखेगे, ऐसा उन्होने निश्चय कर लिया। इसके बाद एक दिन विट्ठल विपुल जी रात मे बैठे केवल कर्ण कुहरो से ही रास का आनद ले रहे थे, परतु रास मे प्रियाजी स्वरूप को विट्ठल विपुल जी के नेत्र बद होना स्वीकार न हुआ। उन्होने रास मे से जाकर विट्ठल विपुल जी से नेत्रो की पट्टी उठाने का अनुरोध किया। भक्त लोग तब रास के स्वरूपो को प्रत्यक्ष प्रिया-प्रियतम ही मानते थे, अत विट्ठल विपुल जी को प्रियाजी की आज्ञा माननी पडी। उन्होने अपने नेत्रो की पट्टी उतार ली और अपनी दृष्टि को प्रियाजी के स्वरूप पर जमा दिया। प्रियाजी विट्ठल विपुल को और विट्ठल विपुल केवल प्रियाजी को ही देख रहे थे कि उसी समय उनका शरीर निर्जीव होकर रासमंडल मे लुढक गया।

1 "अलि भगवान राम-सेवा सावधान मन, वृदावन आये कछु औरें रति भई है। देखे रास-मडल मे विहरत रस रासि वाढी, छवि प्यास दृग सुधि-बुधि सब गई है।"—भक्तमाल

इस भाति नाटक मे भाव, विभाव और अनुभावो की जो चर्चा की गई है उसका पूर्णोद्रिक रागमंच पर देखने को मिलता है। सात्विक अनुभावो के उदय की ऐसी अनेक घटनाए राम के इतिहास मे उपलब्ध है।

ग्वालियर नरेश महाराज माधोसिंह जी के मत्री खडगसेन के अनन्य रास प्रेम की चर्चा केवल 'भक्तमाल' और उसकी टीका मे प्रियादास जी ने ही नही की, हित ध्रुवदासजी और चाचा वृंदावनदास जी ने भी उनके रास प्रेम की सराहना की है। खडगसेन जी जाति के कायस्थ थे और रासलीला के दर्शन को ही उन्होने अपने जीवन के उत्तरार्ध मे भक्ति के अनन्य साधन के रूप मे अपना लिया था।[1] ग्वालियर मे खडगसेन जी रासो का आयोजन कराया करते थे और रासधारियो को उनसे अच्छा प्रोत्साहन मिलता था। रास के माध्यम से ही उन्होने अपनी प्रेमाभक्ति की साधना को दृढ किया और अत मे रास देखते-देखते ही रास मे मग्न होकर उन्होने अपना शरीर त्याग दिया था। इस संबंध मे प्रियादास जी का कथन है :

> ग्वालियर वास सदा रास की समाज करें,
> सरद उजारी अति रग बढ्यो भारी है।
> भाव की बढनि दृग रूप की चटनि,
> तत्ताथई की रटनि, जोरी सुदर निहारी है।
> खेलन मे जाइ मिले त्यागि सब भावना सो,
> झेलत अपार सुख रीझि देह वारी है।
> प्रेम की सचाई, ताकी रीति लै दिखाई,
> भई भावकनि सरसाई बात लागी पियारी है।

'भक्तमाल नामावली' मे हित ध्रुवदास जी ने भी इस घटना की पुष्टि की है।[2]

व्रजयात्रा और रास

वल्लभ सप्रदाय मे वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने जब वल्लभ सप्रदाय की सेवा प्रणाली को व्यापक रूप देकर उसे अधिक रागात्मक और लोकरंजक बनाया और पुष्टि सप्रदाय मे राधा भाव की प्रतिष्ठा बढी तब रास का भी वल्लभ सप्रदाय से घनिष्ठ सबंध जुड गया। रास की

१. सखी सखा गोपाल काल लीला मे बितयो।
कायथ कुल उद्धार, भक्ति दृढ अनत न चितयो।—भक्तमाल।

२. सिखत ललित लीला करत, गये प्रान तजि गात।—भक्तमाल नामावली।

गौरव वृद्धि और प्रचार तथा प्रसार मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गोसाई विट्ठलनाथ जी ने वल्लभ संप्रदाय के वैष्णवो के साथ व्रज चौरासी कोस की सामूहिक व्रजयात्रा की नियमित परपरा स्थापित की थी। विट्ठलनाथ जी की यह प्रथम व्रजयात्रा सोलहवी शताब्दी का मुख्य आकर्षण थी। संवत् १६२४ मे इस यात्रा का रूप पूर्णत विकसित हो गया था। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने मथुरा के उजागर चौवे को अपना पुरोहित बना कर इस यात्रा का श्रीगणेश किया था। इस यात्रा का रास के विकास से घनिष्ठ संवंध है। वल्लभ सप्रदायी यह यात्रा भगवान कृष्ण के जिस लीला-स्थल पर जाती है वहा रासमडली उसी लीला का प्रदर्शन करती है जो भगवान कृष्ण ने द्वापर मे उस स्थल पर की थी। इस प्रकार व्रज के किस स्थल का भगवान कृष्ण से क्या संवध है उसे दर्शको के नेत्रो के समक्ष साक्षात् उपस्थित करने का कार्य रासमंडलियो ने आरंभ किया। इसका फल यह हुआ कि रासलीलाओ मे कथाओ का रासमच पर स्वाभाविक रूप से विस्तार हुआ, साथ ही व्रजयात्रा मे आने वाले देश भर के भक्त यात्री इस प्रकार रास के सीधे सपर्क मे आये और रास का उन पर जो गहरा प्रभाव पडा उसने रास के क्षेत्र को व्रज मे ही सीमित न रहने देकर उसे देश व्यापी बनाया। गोसाई विट्ठलनाथ जी की इस सूझ से रास का बडा व्यापक हित हुआ और रास रगमच के प्रचार और प्रसार मे व्रजयात्रा का यह योगदान कभी भूला नही जा सकता। उस समय करहला रास का मुख्य केद्र था, अत व्रजयात्रा का यह रास भी करहला वाले ही करते थे। इस रास से उन्हे यथेष्ट अर्थलाभ होता था, जिससे कालातर मे करहला के यह रासधारी वल्लभ सप्रदाय के ही अनुयायी हो गये।

राधावल्लभीय गोस्वामी वृंद और रास

इस प्रकार व्रजयात्रा के कारण जहा पूरे क्षेत्र मे व्यापक रूप से रास के रसिक वढे और करहला के रासधारियो का प्रभाव वढ़ा वहा वृंदावन मे रास के विकास मे राधावल्लभीय गोस्वामियो ने वड़ी रुचि ली जिससे करहला के अतिरिक्त अन्य स्थलो पर भी रासमडलियो के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। सत्रहवी शताब्दी मे वृदावन को रास के केंद्र के रूप मे विकसित करने मे गोस्वामी श्री दामोदरवर जी (१६३४-१७१४) का वडा महत्वपूर्ण योग रहा। चाचा हित वृदावनदास जी ने इनके रासप्रेम की अपने ग्रथो मे विशेप रूप से चर्चा की है।[1] इन्होने कामवन निवासी अपने एक शिष्य मोहनदास से एक

१ थिर थाप्यौ रुचि रास हिये की लाग सो।
तन मन विपुल हुलास द्रवत अनुराग सो। —हित चरित्र वेली।
हित मारग उपदेश को, व्यास सुवन पुनि वपु धरयौ।
रस रासि थापि लीला रहसि, अभिलाषा पूरन करयौ। —रसिक अनन्य परचावली।

स्थायी रासमडली का सगठन कराया था जो नियमित रूप से इनके यहा रास करती थी। गोस्वामी जी की रास मे ऐसी दृढ आस्था थी कि उन्होने अपने वसीयतनामे मे भी यह व्यवस्था कर दी थी कि उनके उपरात भी रास की इस दैनिक व्यवस्था मे कोई विक्षेप नही हो। उन्होने अपने उत्तराधिकार पत्र मे लिखा था—"और रासलीला जिसे मैं करता हू मरजाद रसम के मुताबिक करते रहे।"—तहरीर मिती भादो सुदी १३ स० १७१४।।[1]

गोस्वामी दामोदरवरजी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी विलासदास जी ने अपने पिता की इस इच्छा को अपने पूरे जीवनकाल मे निबाहा। 'महत मंगल वेली' मे चाचा वृदावनदास जी ने यह तथ्य श्रद्धा सहित स्वीकार किया है। उनके एक पद की प्रथम और अतिम पक्ति है :

जै जै श्रीदामोदर सुवन विलास जू।
वृदावन हित रूपकुज विनोद अति रुचि रास जू।

यही नही, विलासदास जी ने राधा अष्टमी पर होने वाली वरसाने की रासलीला मे भी विशेष रुचि ली और उनका वरसाने के इस रासोत्सव के विकास मे भी भाग रहा यह राधावल्लभीय ग्रथ 'जै कृष्ण जी की वाणी' से ज्ञात होता है।[2] वरसाने की वूढी लीलाओ के विकास मे राधावल्लभीय सप्रदाय के गोस्वामी समय-समय पर विशेष रुचि लेते आये है और वरसाने मे विशेष रूप से रास के आयोजन कराते रहे हैं।

जयपुर नरेश द्वारा महल हवेली निर्माण

औरगजेव के शासनकाल मे जयपुर नरेश महाराज जयसिह भी करहला के रासधारियो पर विशेष रूप से प्रसन्न हो गये थे और उन्होने करहला के रासधारियो के लिए महल हवेलियो का निर्माण कराया था।[1] यह महल-हवेली यद्यपि पूरे नही वन सके और इसी बीच महाराज स्वर्ग सिधार गये परतु जयपुर नरेश के इस सरक्षण से रास के मंच को वहुत प्रोत्साहन मिला, क्योकि उस समय मथुरा का प्रदेश जयपुर के शासनाधिकार मे था।

चदा डाकू का हृदय-परिवर्तन

भक्ति-युग मे रास साधारण जनता व सामत वर्ग के साथ क्रूरकर्मा

१. श्री किशोरीशरण 'अलि' का लेख 'व्रजभारती' वर्ष १७, अक १०, ११, १२ पृष्ठ ५७
२. श्री प्रिया जनम दिन प्रेम समाज। गढ विलास गिरि गहवर रास ।।
३. वरसाने सरसाने चित्त। सपत्ति रास प्रकाशक नित।—रासलीला एक परिचय

अपराधियो के आकर्षण का भी केद्र वन गया। श्री लाडिलीशरण रासधारी ने उस युग के क्रूरकर्मा चदा डाकू के साथ घटी एक घटना का उल्लेख किया है। यह चदा डाकू जो ठाकुर जी के स्वर्ण मुकुट और रत्नाभूषणो को लेने आया था उदयकरण जी (करहला के रासधारी) के पुत्र विक्रम जी, जो उस समय रास मे कृष्ण वने हुए थे, के एक प्रहार से मूर्छित होकर भूमि पर जा पडा। जब होश आया तो उसकी प्रवृत्तिया एकदम बदल गईं और वह डाकू से एक कृष्ण-भक्त वैष्णव हो गया।'

रामराव का कन्यादान

रास रगमंच की पैठ कुटियो से राजमहल तक रही, यह इसकी एक वड़ी विशेषता है। इस मंच का गठन ऐसे लोकनायक को लेकर हुआ जो भारतीय जीवन मे सर्वत्र ही आकर्षण के केंद्रविंदु है। खेम्हाल के नरेश रामरावजी तो करहला के राधेलाल रूपराम रासधारी के रास को देखकर ऐसे विमुग्ध हुए कि उन्हे यह ही नही सूझा कि हम रास के इस दुर्लभ प्रदर्शन के लिए रासधारियो को क्या भेंट दें? मत्री से परामर्श करने पर मत्री ने राजा को अपनी सवसे प्रिय वस्तु रासधारियो को देने का परामर्श दिया। मत्री के ऐसा कहने पर रामराव जी ने अपनी प्रिय पुत्री को ही कृष्ण के स्वरूप को भेट कर दिया और उससे उसका विवाह करने की तैयारी कर दी, परतु जाति-वधन के कारण वह विवाह रासधारियो को मान्य नही था। अत रासधारियों ने केवल दहेज ही स्वीकार करके कन्या का लौकिक विवाह संपन्न करने के लिए राजा को राजी कर लिया।

दतिया नरेश की रास-भक्ति

दतिया नरेश भवानीसिंह रास के अनन्य उपासक थे। उन्होने अपने युग के सभी प्रसिद्ध रासधारियो को दतिया वुलाया था और वे उनसे वहा नियमित रासलीला कराते रहते थे। एक वार विहारीलाल की 'रासमडली के कृष्ण के कहने से उन्होने कई आजन्म कैदियो को वधन-मुक्त कर दिया था। स्वामी विहारीलाल जी तथा राधाकृष्ण रासधारी से वे प्रभावित थे। राधाकृष्ण रासधारी को तो दतिया नरेश ने अपना दीवान ही वना दिया था। वे वडी धज से राजसी ठाट से रहते थे।

आज भी रास पर अपने तन-मन-धन को न्यौछावर करने वाले रास रसिक पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। ऐसे रसिक लोग आज भी रास सवधी

१. रासलीला एक परिचय, पृष्ठ ७५

अनेक महोत्सवो व प्रदर्शनो का आयोजन करते रहते हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व वृदावन मे कई रासमडलियो के सहयोग से चाचा वृंदावनदास जी के 'लाड-सागर' के आधार पर वृंदावन मे कुछ रसिको ने राधा-कृष्ण के विवाह की लीला रचवाई थी जो निरंतर कई दिनो तक होती रही और विवाह के इस आयोजन मे सहस्रो रुपये व्यय हुए।

रासधारियों की परपरा

वर्तमान रास का भक्तियुग मे जो गठन हुआ उसकी एक विशेषता यह रही कि रास जहा पूर्वकाल मे नटो के हाथो मे था वहां भक्तियुग मे ब्रजवासी ब्राह्मण इस मच के कर्णधार बने। करहला के रासधारी लोगो का कहना है कि उनके गाव के घमंडदेव जी पहले व्यक्ति थे जो रास के आरंभकर्ता है। उनके अनुसार यह घमंडदेव जी के करहला के ही ब्रजवासी ब्राह्मण थे।

करहला के रासधारी

इस भाति करहला से रास की यह व्यावसायिक परंपरा उठी और धीरे-धीरे बाद मे अनेक ब्रजवासी ब्राह्मणो ने इसे अपना व्यवसाय बना लिया, कर-हला, कमई, मड़ोई कामा (कामवन), बरसाना आदि अनेक गाव इन रास-मंडली के संचालक रासधारियों के गढ रहे हैं।

रास सर्वस्व के अनुसार करहला के रासधारियो मे आरभिक नाम उदय-करन और खेमकरन का मिलता है जो घमंडदेव जी के उत्तराधिकारी थे। इन उदयकरन जी के पुत्र विक्रम जी ने रास के क्षेत्र मे अच्छी ख्याति पाई। वे कृष्ण के अभिनेता के रूप मे बड़े सफल रहे थे। इसी करहला की परंपरा मे गोस्वामी नारायण भट्ट जी के सहयोगी रामराय और कल्याणराय रासधारी का नाम सामने आता है। इन्होने रास के रूप निर्धारण और विकास मे नारायण भट्ट जी को सहयोग देकर महत्वपूर्ण कार्य किया। औरंगजेब के शासनकाल मे जयपुर नरेश को रास की ओर आकर्षित करने वाले रासधारी भी करहला के ही थे जिनके उक्त महाराज ने महल हवेली का निर्माण आरभ कराया था। करहला के राधेलाल रूपराम रासधारी भी बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं, जिनकी मंडली के कृष्ण के स्वरूप से राजा रामराव अपनी लड़की को व्याहने के लिए उत्सुक हो उठे थे।

करहला के रासधारियो की ज्ञात परपरा मे बिहारीलाल जी, तथा उनके बाद राधाकिशन जी रासधारी व उनके भाई गोवर्धन जी बड़े प्रसिद्ध हुए। राधाकृष्ण जी तो रास की ही कृपा से दतिया के दीवान तक हो गये थे। वे बडे ठाठ से रहते, रत्नो का कंठा गले मे धारण करते और धज की पगड़ी बाधे घोडा-

गाड़ी मे घर से निकलते थे। श्री लछमन स्वामीजी के अनुसार रासलीला मे होने वाली 'विदुषी लीला' का ढाचा सर्वप्रथम उन्ही ने बनाया और उसका प्रदर्शन किया। यही राधाकृष्णदास जी 'रास-सर्वस्व' के भी लेखक थे। राधाकृष्ण जी जहा रास-साहित्य के मर्मज्ञ थे वहा इनके भाई गोवर्धन जी गायन और सारगीवादन मे बेजोड थे। रास के प्रसिद्ध सारगी वादक श्री लछमन स्वामी जी का कहना था कि गोवर्धन जी जैसा कुशल सारगी वादक उनके बाद आज तक ब्रजक्षेत्र मे नही हुआ।

श्री केशवदेव जी भी करहला के रासधारियो मे बड़े प्रसिद्ध हो गये हैं। वे अपने साथ सदैव एक विशाल रासधारियो का समूह रखते थे जिनमे प्राय. तीस-चालीस कलाकार अवश्य होते थे। इतनी बड़ी रासमंडली शायद किसी दूसरे स्वामी ने नही बनाई। वे अपनी मंडली को बडे आकर्षक ढग से रखते थे। स्वरूपो को रास के अतिरिक्त समय मे भी वे सदा गद्दे-तकियो पर पर्दे के अंदर विराजमान रखते थे और उनकी ठाकुरो जैसी ही देखरेख की जाती थी। इन्होने कर्वी तथा चित्रकूट आदि क्षेत्रो में जो रामभक्ति के गढ थे, प्रथम वार जाकर रास के लिए आकर्षण उत्पन्न किया। इनकी 'नटवर लीला' देख कर उस क्षेत्र के निवासी अभिभूत हो गये थे।

करहला के चोथा स्वामी भी रास के क्षेत्र मे वहुत प्रसिद्ध थे। उनकी मंडली पंजाब मे बहुत लोकप्रिय थी। सगीत के वे आचार्य थे। किसी भी पद को अनायास किसी भी धुन मे गा उठना और किसी भी शब्द को कही से भी मोड कर उसे भावाभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्रदान करने मे वे सिद्ध थे। उन्होने रास मे एक ऐसी धुन प्रचलित कर दी जिसमे सभी पद गाये जा सकते है। यदि कोई पात्र किसी रास के पद को पूर्व निश्चित परंपरागत धुन मे ठीक प्रकार से न गा सके तो रासधारी उस पद को चोथा स्वामी की धुन मे गवाकर काम निकाल लेते है।

वर्तमान युग मे करहला के रासधारियो मे सबसे वयोवृद्ध श्री लाडिली-शरण रासधारी थे जो हाल मे ही दिवंगत हो गये है। उन्हे भी श्रीनाथ जी का मुकुट देकर सम्मानित किया गया था। लाडिलीशरण जी रास के प्राचीन पद-साहित्य के चलते-फिरते ज्ञान-कोश थे तथा सस्कृत श्लोको पर आधारित उन लीलाओ के प्रदर्शन के वे वर्तमान मे एकमात्र पडित थे जिन्हे अधिकाश रास-धारी भूल चुके है। रास-साहित्य की अनेक निधिया और प्राचीन बदिशे उनके साथ ही चली गई है।

वृंदावन की रासधारी परंपरा

वृदावन मे राधावल्लभीय सप्रदाय की प्रेरणा से वहा करहला से इतर

स्थानो के रासधारियो ने मडलिया स्थापित की। ऐसी मडलियो का उल्लेख राधा-वल्लभीय सप्रदाय के ग्रथो मे प्राप्त होता है। राधावल्लभीय ग्रथो से ज्ञात होता है कि हित हरिवश जी के नित्यरास के प्रति उनके कुछ समर्थ भक्तो की आस्था इतनी अधिक थी कि व्रज से वाहर बनारस तथा मेडते मे भी उस युग मे व्रज की रासमडलिया स्थायी रूप से रहने लगी थी। काशी के हरिदास तुलावार जी ने वनारस मे रास का वातावरण बनाया[1] और मेडते के अधिपति जयमल जी ने मेडते मे कथा-कीर्तन और रास की धूम मचा दी थी।[2]

राधावल्लभीय सप्रदाय की मडली का पहला उपलब्ध उल्लेख सत्तरहवी शताब्दी के उत्तरकाल का है। इस समय किन्ही सुलखान नामक व्यक्ति ने जो भैंगाव का निवासी था, रासमडली का गठन किया था। 'रसिक अनन्यपरिचावली' मे इस मडली का उल्लेख एक छप्पय मे इस प्रकार हुआ है :

विदित वास भैंगाँव सकल व्रजजन मन भावै।
महत सभा मे रंग चोज, चाइनु वरषावै।
नर-वाहन कुल उदित, भजन रस गुन कर भारी।
श्री हरिवंश प्रसाद भक्ति प्रेमा अधिकारी।
परिकर जुत हरि नृत्यपद, दिन दिन जाकी अधिक रति।
रास रचत को विपुल मति, गान गहर सुलखान अति।

कदाचित श्री सुलखान की यह मडली व्यावसायिक रासमंडली न थी। यह सज्जन राजा नरवाहन के वंशज थे जिन्होने भक्ति रस विस्तार के लिए स्वान्तः सुखाय मडली बनाई होगी। उक्त वर्णन किसी व्यावसायिक मंडली का नही प्रतीत होता।

राधावल्लभीय रासमंडलियां

राधावल्लभीय संप्रदाय की पहली जिस व्यावसायिक मंडली का उल्लेख उपलब्ध है वह मोहनदास की थी। चाचा वृदावनदास जी ने 'रसिक अनन्य-परचावली' मे मोहनदास व उनके पुत्र माधुरीदास की वडी प्रशसा की है। यहां तक कि उन्होने इन्हे 'राम विकास का प्रकाशक' तक कह दिया है :

मोहन सुत माधुरी फुरी, रस वानी गानी।
रास-विलास प्रकास, रसिक भक्तन सुखदानी॥

१ सील सुभाव उदार सदाई। रास विलास उपास सदाई॥—रसिक अनन्यमाल
२ कथा कीर्तन सुमिरन भाव। रास विलास महोत्सव चाव॥ —रसिक अनन्यमाल

इस प्रशंसा से ऐसा प्रतीत होता है कि वृदावन मे व्यावसायिक रूप से मडली बनाकर रास करने के सबध मे इन्ही महानुभाव ने पहल की होगी, तभी चाचा जी ने इन्हे इतना महत्व दिया है। यह मोहनदास माधुरीदास कामवन के निवासी थे जो रास के व्यवसाय को अपनाकर वृदावन मे आ बसे थे और नियमित रूप से गो० दामोदरवर जी के स्थान पर रास किया करते थे। गोविन्द अली जी ने अपनी 'भक्तगाथा' मे मोहनदास जी के पुत्र माधुरीदास जी की अभिनय कुशलता की बडी प्रशसा की है। रास मे यह प्रियाजी की भूमिका मे बहुत ही फबते थे।[1]

चाचा वृदावनदास जी ने हित सप्रदाय की दूसरी जिस मंडली का उल्लेख किया है वह किशोरीदास की थी। यह किशोरीदास जी कहा के निवासी थे इसका ठीक पता नही चलता, परतु इनके काव्य मे बरसाने का जो सरस वर्णन प्राप्त होता है उसके अनुसार हमे वह बरसाने के निवासी ही प्रतीत होते है। श्री किशोरीशरण 'अलि' के अनुसार यह मडली सवत् १७३० के आसपास विद्यमान थी। इस मडली ने केवल वृदावन मे ही नही पूरे व्रज क्षेत्र मे रास का प्रचार किया था। चाचा जी ने लिखा है :

ठौर ठौर व्रजभूमि विलास दृगन दरसाये।
श्री राधावल्लभ इष्ट भाव सो सदा लडाये।
श्री हरिवश गिरा प्रसश, गायन बहु भावन।
नित्य केलि वनराज, अखडित बरनी पावन।
श्री व्रजभूषण परसाद गुरु, लीला प्रगट प्रकाश कौं।
रास-रचन सुख सचन मति, कृपा किशोरीदास कौ।

इस मडली के प्रति व्रजवासी विशेष रूप से आकर्षित थे और होली की लीला यह मडली बडे रग और उमग से करती थी। चाचा जी ने यह बात 'बसत प्रबध' मे लिखी है

होरी के रग मन रँग्यौ जासु, अस कोविद रसिक किसोरीदास।
व्रज जनन भीर रहै सदा पास, रसिकन मिलि रचै बसत-रास ।।

यह किशोरीदास केवल रासधारी ही नही व्रजभाषा के एक सरस और भावुक कवि भी थे। व्रज के मदिरो और रास मे इनकी वाणी का पर्याप्त

१ श्री हित मोहनदास विप्र कामा के वासी।
सुत माधुर्य स्वरूप सकल गुन गन की रासी।
प्रिया वेष अति फबै, रास मडली बनाई।
मिटै त्रिगुण विस्तार, रटै हरिवश सदाई।

मात्रा मे प्रचार है। व्रज और राधा के चरणो मे आपकी अनन्य भक्ति थी। इनका राधा-जन्म वधाई का एक पद है :

राग मारु

हौं व्रजवासिन कौ मँगा।
वल्लभराज, गोप कुल मडल, इन द्वै घर को जगा।
नन्दराय एक दियौ पिछौरा वामे कनक तगा।
श्रीवृषभानु दियौ एक टोडर, तामे जटित नगा।
कीरति दई कुँमरि की झगुली, जसुमति अपने सुत को झँगा।
किसोरीदास को लै पहिरायौ नील पीत कौ पगा।

वहुत संभव है कि किशोरीदास जी ने कदाचित यह पदो की रचना आरंभ मे रासलीला के लिए ही प्रारंभ की हो। जव रासलीला मे राधा-जन्म की लीला का आरभ हुआ होगा तो स्वय किशोरीदास जी ने ही वृपभानु जी के ढाढी वनकर उक्त पद गाया होगा। रासमच पर कृष्ण-जन्म और राधा-जन्म लीलाओ मे ढाढी द्वारा नन्दराय जी तथा वृपभानु जी की वंशावली का जो वर्णन किया जाता है वह दोनो ही किशोरीदास जी की लिखी हैं। नन्दराय जी की वशावली का हम पहले उल्लेख कर चुके है। वृपभानु जी की वंशावली इस प्रकार है :

राम दोहा

वरसानो गिरिवर सुखद, तिहिं ढिग वास अवास।
कंचनमय रचना रुचिर, गोपुर गृह सुख रासि।
रमा उमा सव आदि लै, टहल करें नित आइ।
कोटि कोटि वैकुठ हू, तिहिं सम कहे न जांइ।
स्वच्छासन अरु सुहृद इक नाम दुहुँनि मन आँनि।
महाराज वृष्भानु की, प्रगट अथाँई जानि।
अब वशावलि भानु की, कहौं कछू विस्तार।
गन उद्देश जु दीपिका, ताको अर्थ विचार।
सूर्जवंश मे प्रगटियौ, सोमवश सुखसार।
तिन राजन को वरनते, होत बहुत विस्तार।
जासो मेरौ काज है, ताको वरनो वस।
जाको वरनत सब करें, देव आदि परसस।

महाराज भये नीव जू, जग मे तिनकी आनि ।
तिनके सुत भये जूप जू, सबकी राखत मान ।
नृप दयाधि तिनके भये, दया दीन सो लीन ।
धर्मवीर तिनके भये, कछु सतति करि हीन ।
कठिन तपस्या तिन करी, तेरह वर्ष प्रमान ।
गोवर्धन पर्वत विपे, शिव दीनौ बरदान ।
भुव भूषन तिनके भये, राजा श्री महीमान ।
सुखदा पत्नी जासु की, तासु कूषि वृपभान ।

चौपाई

महीमान दादे कौ नाम । सुखदा दादी अति अभिराम ।
श्री वृषभानु उदार गंभीर । पिता राधिका अति कुलधीर ।
कीरतदा माता विख्यात । कहत रतनगर्भा सुखदानि ।
नाना इदु नाम है जाकौ । मुखरा नानी कहियत ताकौ ।
वड़ौ भैया श्रीदामा नाम । अति सुकुमारि परम अभिराम ।
भादौं अष्टमी तिथि उजियारी । नक्षत्र विशाखा रुचिर महा री ।
जा छिन जन्म लियौ श्रीराधा । कीरति वेद पुरान अगाधा ।
शुभ नक्षत्र गुरुबार है आई । अरुनोदय प्रगटी सुखदाई ।
घर घर महा महोछौ होहि । नर नारिन के आनन्द जोहि ।
घर-घर तोरन वंदनवार । मगल गावति व्रज की नारि ।
पचशब्द बाजे नीसान । राखत सब काहू कौ मान ।
गयौ बधायौ नन्द की पौरि । सब नन्दीश्वर आयौ दौरि ।
जसुमति नन्द बधाई लाये । श्री वृषभानु अजिर मैं आये ।
मिलत परस्पर आनन्द वाढ्यौ । सो सुख हम पर परत न काढ्यौ ।
नाँचत नन्द और वृषभानु । जसुमति वारत अपने प्रान ।
पहिले वोल किये जे सारे । आज विधाता पूरन पारे ।
दुहूँ सजन मन आनन्द भावै । किसोरीदास यह मगल गावै ।[1]

किशोरीदास जी का परिवार कई पीढी तक रास को व्यवसाय के रूप मे अपनाये रहा। किशोरीदास जी के पुत्र हरिनाथ जी (स्थितिकाल स० १७६०) ने अपने पिता के उपरात बडी निष्ठा से रास मडली का सचालन किया। चाचा वृदावनदास ने राधा-जन्म लीला के इनके प्रदर्शन की वडी सराहना की है। रास मे वे राधा-जन्म के दृश्य को साकार उपस्थित कर देते थे। रास के स्वरूपो को यह साक्षात राधा-कृष्ण मान कर ही भावविभोर

१. वावा तुलसीदास कृत 'शृ गार-रस-सागर', तृतीय खड, पृ० १७५-१७७

होकर तन्मयता से रासलीला करते थे।[1]

हरिनाथ जी के चार पुत्र हुए : नवनीत राय, ब्रजदास, शोभाराम और कृष्णदास। हरिनाथ जी के बाद इन्होंने भी बडी कुशलता और सफलता से रासमडली का सचालन किया। ये चारो ही रास और ब्रज के अनन्य भक्त थे। आर्थिक लाभ के प्रलोभन मे भी ये कभी अपनी मडली को लेकर ब्रज से बाहर नहीं गये। इनके सबध मे चाचा जी ने अपने 'बसत प्रबध' मे लिखा है :

हरिनाथ सुवन गति कुसल रास। ब्रज मडल मे कीयौ प्रकास।
नवनीत राय ब्रजदास पास। पुनि शोभाराम जुत कृष्णदास।
मेपनि पर्‌यौ जान्यौ अनेक। ब्रज तजि न जाँय यह सुदृढ टेक।

इसी समय (सवत १८०० के आस-पास) राधावल्लभीय सप्रदाय के दो प्रसिद्ध रासधारियो का और उल्लेख मिला है। इनके नाम थे बालकृष्ण और तुलाराम। चाचा जी ने इन्हे गो० हरिलाल जी का शिष्य कहा है :

धर्‌यौ करदर श्री हरिलाल माथ। भये बालकृष्ण स्वामी सनाथ।
फिरे रास-मडली लिये साथ। फागुन सुखेल की सौंज हाथ। (५१)

चाचा जी ने इन्ही के साथी स्वामी तुलाराम रासधारी के गायन की बडी प्रसशा की है। तुलाराम की ताने हृदय को बींध देने वाली थीं जिन्हे सुनकर श्रोता मत्रमुग्ध हो उठते थे। चाचा जी कहते है

स्वामी तुलाराम उर फाग फूल। अनुराग रँगे हिय के दुकूल।
तेहिं राग तान देहिं मन को सूल। मनु बसीकरन यह मत्र मूल।

चाचा जी ने इन दोनो का 'बसत प्रबध' मे एकसाथ उल्लेख किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि ये दोनो एक ही गुरु के शिष्य थे, अथवा हो सकता है ये दोनो व्यक्ति सगे भाई ही हो। परतु चाहे ये गुरुभाई हो या भाई परतु लगता ऐसा है कि इन दोनो की रास-मडलिया पृथक-पृथक ही थीं जो रास के लिए ब्रज से बाहर दूर-दूर तक जाया करती थीं। एक बार तुलाराम जी ने रूपनगर जाकर जन्माष्टमी पर रास किया था। इसका उल्लेख कृष्णगढ नरेश भक्त नागरीदास जी ने 'पद प्रसग माला' मे किया है। नागरीदास जी के अनुसार तुलाराम जी ने 'बादरी सखी' के नाम से कविता भी

१ श्री वृषभानु उदार लली कौ भयौ जनम दिन।
बारिध प्रेम बहाय देत दरसाय वही छिन।
गुरु मारग रस-रीति, प्रीति सयुक्त विशेषे।
वेश जुगल पधराय, इष्ट सम तिनको देखें।
श्री हरिनाथ अनन्यपथ, औढौ पग रोप्यौ सु तिन।
प्रगट रासलीला करन, को दूजो हरिनाथ बिन।

लिखी है। उन्होने तुलाराम जी के साथ बालकृष्ण जी के होने का उल्लेख इस प्रसग मे नही किया।[1]

इस प्रकार व्रज मे करहला तथा अन्य स्थानो पर रास-मडली निर्माण करने की यह व्यावसायिक परपरा खूब फली-फूली। व्रज से बाहर भी रास की माग बराबर बढती गई। रास के रसिक अब विशेष अवसरो पर मडलियो को बुलाकर रास कराने लगे। चाचा वृदावनदास जी ने अपने गुरु हित रूपलाल जी के द्वारा एक बार कामवन से रास मडली बुलाकर उसका बरसाने मे रास देखा था। चाचा जी ने 'हित रूप चरित्र वेली' मे इसका उल्लेख किया है

ठारह से पुनि माघ की, वरनो कथा रसाल।
श्री हित रूप जो आइयौ, बरसाने तेंहि काल।
कामा ते सब वेश बुलाये, सहित समाज तहाँ सब आयें।
रजनी भई रास जब कियौ, सकल समाज परम सुख दियौ।
दरस्यौ रास अधिक रग रह्यौ, वहुरि आप मुख ऐसें कह्यौ।
प्रात: ब्याहुले की विधि कीजै, चलि गहबर वन मे सुख लीजै।

नही कहा जा सकता कि यह रास मडली पूर्वोक्त मोहनदास जी के वशजो की ही थी या कोई दूसरी मडली थी, परंतु इस समय तक व्रज मे अनेको रास मडलिया बन चुकी थी, और वे दूर-दूर जाकर रास के आकर्षण से भावुक हृदयो को विमोहित कर रही थी। दुर्भाग्य की बात यह रही कि चाचा वृदावनदास जी के वाद व्रज के काव्य क्षेत्र मे कोई दूसरा ऐसा समर्थ व्यक्तित्व उदित नही हुआ जिसने चाचा जी जैसे व्यापक सास्कृतिक दृष्टिकोण से व्रज को जाना और बखाना हो। इसलिए इस परपरा की परवर्ती रास-मडलियो का कोई लिखित विवरण आज उपलब्ध नही होता।

वर्तमान युग के रासधारी

इस समय रास मडली के सचालको मे जो वयोवृद्ध व्यक्ति अवशिष्ट है उनसे कुछ ऐसे पुराने रासधारियो का परिचय या जानकारी अवश्य मिलती है जो उन्होने अपने बाल्यकाल मे देखे थे। व्रज के वर्तमान स्वर्गीय रासधारियो मे हम श्री दामोदर स्वामी, श्री लछमन स्वामी, श्री लाडिलीशरण जी, रामधन जी, श्री गगोली स्वामी तथा चेतराम आदि के नाम ले सकते

१. "रूपनगर ठाकुर श्री गोवर्धननाथ जी जन्माष्टमी के दिवस एक व्रजवासी गुनी नाम तुलाराम ताकी छाप 'वावरी सखी' सो नृत्यगान प्रेम सहित श्री ठाकुर जी आगें करत भयौ।"

—पद प्रसग माला

हैं। इन सभी व्यक्तियों ने रास के क्षेत्र में प्रभूत यश अर्जित किया था। कृष्णानंद स्वामी नामक एक साधु ने लगभग साठ वर्ष पूर्व ब्रज में एक रास-मंडली बनाई थी जिसमें लछमन स्वामी और रामधन स्वामी दोनों ही सारंगी-वादन करते थे। रास में सारंगी-वादकों की यह जोड़ी विख्यात रही है। ये दोनों ही साथ-साथ रास में पहले राधा-कृष्ण बनते थे। रामधन जी और श्री लछमन जी की यह युगल जोड़ी हाल में ही उठ गई है। लछमन स्वामी बड़े ही कुशल सारंगीवादक थे और महादेव लीला में महादेव की भूमिका बड़ी भावुकता से करते थे। इसी परंपरा में हम मडोई गांव के धूरी स्वामी को भी स्मरण कर सकते हैं। कहते हैं, वे रास-संगीत के बेजोड़ गायक थे। उन जैसा गायक उनके समय में दूसरा न था। बाद में रास मंडली से विश्राम लेकर वे नाथद्वारा में श्रीनाथजी के कीर्तनिया हो गए थे। लगभग पच्चीस वर्ष हुए तब उनका भी स्वर्गवास हो गया।

रासधारियों की इस परंपरा में ब्रज के संगीत गुरु ग्वारिया बाबा का नाम भूलना भी एक भारी अपराध होगा। ग्वारिया बाबा सख्य-भक्ति के मूर्तिवान रूप, अनोखे गायक, अनेक साजों के वादक तथा रास मंडलियों के संगीत-शिक्षक के रूप में सर्वमान्य रहे हैं। उन्होंने वाद्यवादन तथा गायन में पारंगत बना-बना कर अनेक ब्रजवासियों को सफल रासधारी बनाया था और रास में संगीत के स्तर को उठाने में भारी योगदान किया था। यह मस्त और फक्कड़ साधु विगत युग में ब्रज के संगीत के लिए एक वरदान बनकर ही आये थे।

वर्तमान में विद्यमान पुरानी पीढ़ी के रासधारियों में आज भी अनेक विभूतियां हैं जिन्होंने अपनी कला से रास के क्षेत्र में यथेष्ट यश प्राप्त किया है। इन रासधारियों में हम स्वामी किशनलाल जी का नाम विशेष रूप से ले सकते हैं। स्वामी किशनलाल जी एक सरस गायक तो हैं ही, उनकी उद्धव की भूमिका रास में विख्यात रही है। यह आज भी प्राचीन वाणी साहित्य को ही अपने रास में प्रमुखता देते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रधान ठाकुर श्रीनाथजी का मुकुट आपकी मंडली को प्राप्त है। मंडली का संचालन अब उनके सुयोग्य पुत्र श्री मोहनलाल जी करते हैं।

चोखा स्वामी जी के पुत्र करहला के हरद्वारीलाल जी रास के समाज में हारमोनियम-वादन के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इसी प्रकार मुखराई के श्री कन्हैयालाल जी की सारंगी-वादन में विशेष ख्याति थी जिनका अभी सन् १९७८ में ही स्वर्गवास हो गया। वे ब्रज की ध्रुपद धमार परंपरा के रास-धारियों में प्रसिद्ध गायक और शिक्षक थे, और रास की शिक्षा देकर इस परंपरा को अंत समय तक आगे बढ़ाते रहे। जतीपुरा के श्री हरिवल्लभ जी

का सारगी-वादन और गायन भी रास मे विशिष्ट कोटि का माना जाता है परतु उन्होंने अब रास से विश्राम ले लिया है। रास के पुराने अभिनेताओ मे मडोई के रामचंद्र की और भिक्की की जोडी नामी थी। किसी समय कस-वध लीला मे धोबिन की भूमिका श्री गोकुलचंद वडी सफलता से करते थे, परंतु अब वे रास मंडली छोड़कर आकाशवाणी पर चले गये है।

रास के वर्तमान स्वामियो मे श्री मेघश्याम जी के सुपुत्र श्री रामस्वरूप जी शर्मा तथा जनूथर (भरतपुर राज्य) के श्री स्वामी हरिगोविन्द जी तथा छाता के श्री कुवरपाल जी ने रास के क्षेत्र मे पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। ये सभी महानुभाव ब्रज क्षेत्र के माने हुए मंडली सचालक है जो अपने-अपने ढंग से रास रगमंच के विकास मे सलग्न है।

इस समय ब्रज मे रास की अनेक मंडलिया विद्यमान हैं जिनमे सर्वश्री रूपलाल, श्री घनश्याम, वेदराम, फतेहराम (सेहर वाले), फतेहकृष्ण, देवकीनदन, चुन्नीलाल, चतुर्भुज, चेतराम व धर्मपाल, रामप्रसाद शर्मा, भारतभूषण गोस्वामी आदि की मडलियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

७

रास रंगमंच का साहित्य और ललित कलाओं पर प्रभाव

रास का आकर्पण

रास का सवसे वडा सौभाग्य यह रहा है कि उसे अपने मच के लिए कृष्ण जैसा आकर्पक लोक-नायक प्राप्त हुआ। भक्ति-भावना के अनुसार समस्त ससार को नचाने वाला जिस मंच पर स्वय नाचे उसके कलात्मक वैभव का क्या कहना ? भगवान कृष्ण के चचल, चपल, शोख व नटखट व्यक्तित्व ने जहा रास रगमच की कथावस्तु में इद्रधनुषी रग भरे है वहा उनके सुदरतम व्यक्तित्व ने इस मच को सौंदर्य सपन्न किया है और इसे श्रद्धा और भावुकता के दृढ आधार पर स्थिर किया है। कृष्ण को रासमच का नायक वनाने का फल रासमच को यह मिला कि भक्तियुग और रीतिकाल मे लिखा गया साहित्य का वह सरस और अथाह भडार जिसे हम हिंदी साहित्य का नवनीत कह सकते है विना किसी प्रयत्न के रासमच की कथावस्तु का चाकर वन गया और रासमच ने इस महान रस-रत्नाकर मे से भी सुदरतम रत्नो को छाट कर अपनी मचीय कथाओं का ताना-वाना तैयार किया। इसलिए कथासामग्री की दृष्टि से रासमच भारत के सभी नाट्य और लोक नाट्य मचो से अधिक समृद्धिशाली और वैभवसंपन्न है। सूर, तुलसी, मीरा, कवीर, रहीम रसखान सभी रासमच के आगे अपनी साहित्य सपदा खोले खडे है और रासमच उसकी सर्वश्रेष्ठ निधियो मे से भी छाटकर और कसौटी लगाकर अपनी कथावस्तु के लिए सामग्री स्वीकार करता रहा है। रासमंच पर प्रस्तुत यह चोटी का कृष्ण साहित्य जव कथा का ताना-वाना पहन-कर और भी दमक उठता है तव उसकी चकाचौध ही भावुक हृदयो को इतना विमुग्ध कर देती है और वह उसमे इतने अभिभूत हो जाते हैं कि उन्हे रास मे अभिनय की वारीकी, मच की सज्जा या ऐसी दूसरी वस्तुओ पर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नही रहता। एक भावुक दर्शक रासमच पर सुमधुर कठ से गाई

गई इन रस-सिक्त सिद्ध वाणियो को आख वद करके एकाग्र भाव से कानो से सुनना अधिक पसंद करता है, वह अपने नेत्रो को खोलकर उस समय अपनी दृष्टि को इधर-उधर भटकाना नही चाहता।

यह सब कहने का हमारा तात्पर्य यह है कि रासमच पर प्रयुक्त होने वाला साहित्य स्वय अपने आप मे इतना सशक्त और प्राणवान है कि उसने भारतीय जनजीवन को अपनी ओर आकृष्ट करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भक्ति-युग मे जब रास का उदय हुआ, राजदरबारो मे और जनजीवन मे दो ही भाषाओ को सास्कृतिक मान्यता उपलब्ध थी और वे भाषाए थी · (१) फारसी तथा (२) ब्रजभाषा। फारसी उस समय विजेताओ की और ब्रजभाषा विजित वर्ग की सास्कृतिक भाषा थी जिसके साथ जन-जीवन की आस्था और भावुकता जुडी थी। इसी कारण ब्रजभाषा का मच होते हुए भी राम रगमच अपने उदयकाल से ही एक क्षेत्रीय रगमच न रहकर अखिल भारतीय रगमच वन गया था और कृष्ण-भक्ति आदोलन के साथ-साथ वह उन सभी क्षेत्रो मे मान्यता प्राप्त कर गया जहा कृष्ण-भक्ति आदोलन की वाणी गूजी थी। उत्तर प्रदेश के साथ-साथ पजाव, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, वगाल, बिहार और मध्य भारत आदि दूरस्थ प्रदेशो तक मे भक्तियुग से आज तक रास के प्रति यह आकर्षण विशेष रूप से वना हुआ है।

भावुको का मच

रास ने विशेष रूप से इस देश मे कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया और ब्रज सस्कृति और ब्रज के लोक-जीवन की झाकी का पूरे देश मे चित्राकन किया, जिसने ब्रज के प्रति भारतीय जन के आकर्षण को बढाया। आज भी रास के प्रति सामान्य जन का कितना आकर्षण है यह स्वय श्रावण मास मे वृदावन मे देखा जा सकता है, जबकि पूरे देश से रास भक्तो का विशाल समूह वहा सर्वत्र छाया रहता है। श्रावण मास मे ब्रज की सभी प्रमुख मडलिया वृदावन मे एकत्रित हो जाती है और सुबह से रात्रि तक वृदावन के मदिरो, वागो, आश्रमो और सार्वजनिक स्थानो मे पग पग-पर घुघरुओ की झनन-झनन गूजती रहती है। कम से कम उस समय वृदावन मे पद्रह-वीस रास मडलिया अवश्य एकत्रित होती है जिनमे मे हर मडली कम से कम एक दिन मे दो रास तो करती ही हैं, और जिन मडलियो की अधिक माग होती है वह उन दिनो एक दिन मे चार-चार, पाच-पाच रास करने को भी वाध्य कर दी जाती है। इन रसो मे रास के भक्त सैकडो की सख्या मे छाये रहते है। एक-एक रास मे केवल भक्तो की न्यौछावर मे ही २०० या १०० रुपये आ जाना उन दिनो साधारण सी बात है। वृदावन मे श्रावण मास मे रास के प्रति दर्शको का उत्साह देख कर ही

यह समझा जा सकता है कि आज भी देश के जनसाधारण की रासमंच मे कितनी निष्ठा और भक्ति है ।

व्रजभापा के संवाद

रास के इन दर्शको मे भारत के सभी अचलो के जनता जर्नादन के प्रतिनिधि होते है और यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उन्हे रासमच पर प्रयुक्त व्रजभाषा के सवाद विशेप रूप से आर्कपित करते है । जिस युग मे रास का उदय हुआ उस समय तो व्रजभापा इस देश की सास्कृतिक अभिव्यक्ति की भाषा थी ही, परतु यह रासमच की परपरा और रूढिवादिता के प्रति गहरी आस्था का ही एक सुखद फल है कि उसने रास मे व्रजभापा के सास्कृतिक गौरव को आज भी अक्षुण्ण रखा है और रास के व्रजभाषा के सवाद आज व्रज क्षेत्र से इतर क्षेत्र के निवासी को इस युग मे भी रास की इस विशिष्टता के प्रति उसे विशेष रूप से आर्कषित करते है । व्रज की वोली का सहज सरस रस जिसने अतीत मे पूरे देश को प्रभावित किया, आज केवल रास के सवादो मे ही एक धरोहर के रूप मे रक्षित है । आज जव इस व्रज-माधुरी का चिर तृपित कोई पिपासु रास के रस मे अवगाहन करता है तो वह व्रजभापा के इस सरस रस मे वार-वार गोता लेकर अपनी आत्मा को शीतल और तृप्त करना चाहता है। इस प्रकार रास मे रक्षित व्रजभाषा की यह गद्य-सवाद परंपरा आज व्रजभाषा के भारतीय सास्कृतिक जन-जीवन से हट जाने के वाद भी रास की एक वहुत ही मूल्यवान थाती वन गई है । ऐसे अनेक रास के दर्शक हैं जो व्रजभाषा को सुन-सुन कर अपने को तृप्त करने की ललक में ही रास रगमंच के भक्त वने हुए है ।

उक्त सव कारणो से आज भी रास रगमंच अन्य क्षेत्रीय रगमचो से पृथक और विशिष्ट है । इसने आरभ से ही पूरे देश के जन-जीवन को आकर्षित किया है । हमारी भारतीय कलाओ पर रास रंगमच का जो प्रभाव दृष्टिगोचर होता है उस पर सक्षिप्त दृष्टिपात करने से यह तथ्य भली प्रकार सामने आ जाता है कि रास ने भारतीय जीवन और कला के क्षेत्र मे आरभ से ही अपनी विशिष्टता को वनाये रखा है । हमारे साहित्य, सगीत, मूर्तिकला और चित्रकला पर रास के प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा करना, इस दृष्टि से यहा अप्रासगिक न होगा ।

साहित्य और रास

भारत की उन सभी भाषा और वोलियो मे जहा कृष्ण की चर्चा है वहा रास का वर्णन अवश्य हुआ है । यह वर्णन अधिकतर भावनात्मक या काल्पनिक

है यह ठीक है, परंतु हमारे साहित्य मे ऐसे वर्णनो का भी अभाव नही जहां राधा-कृष्ण के माध्यम से रास रंगमच के भव्य वर्णन भी उपलब्ध हैं। हम इस प्रसंग का अधिक विस्तार न करके यहा उदाहरणस्वरूप चैतन्य सप्रदाय के प्रसिद्ध भक्त और श्रेष्ठ कवि कविराज कृष्णदास जी गोस्वामी के 'गोविन्द-लीलामृतम्' की चर्चा करना चाहते है। यद्यपि यह ग्रथ भी प्रकट मे राधा कृष्ण के रासोत्सव का ही वर्णन करता है परतु हमारे मत से राधा-कृष्ण का यह रास-वर्णन परोक्ष मे उसी रास रगमंच का वर्णन है जिसे आज हम व्रज का लोक रगमच कहते हैं परंतु भक्तियुग के आचार्यों ने रास की इस वर्तमान लोक परपरा का शास्त्रीय ढग से अलकरण किया था, यह 'गोविन्दलीलामृतम्' से भली प्रकार भासित होता है।

'गोविन्दलीलामृतम्' का रास-वर्णन

हमारे विचार से 'गोविन्दलीलामृतम्' रास के भक्तिकालीन स्वरूप को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इस दृष्टि से हम यहा रास परपरा के सदर्भ मे इस ग्रथ के रास-वर्णन का सक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक समझते हैं। परतु इस रास-वर्णन से पूर्व एक बार हम फिर यह और स्मरण दिला देना चाहते है कि लोकधर्मी परपरा नाट्यधर्मी और नाट्यधर्मी परपरा काल के प्रभाव से लोकधर्मी बनती रही है, हमारा रास-रगमच भी उसका अपवाद नही है।

लोकधर्मी और शास्त्रीय परपराए

प्राचीन काल मे रास एक लोकधर्मी सगीत नाट्य था, यह सर्वमान्य तथ्य है। कोई भी शास्त्रीय नाट्य परपरा जब लोक-जीवन मे घुल-मिल जाती है और लोक कलाकारो से प्रभावित होती है तब वह अपने शास्त्रीय रूप को अक्षुण्ण नही रख पाती। ठीक इसी प्रकार जब कोई लोक परपरा उच्च कोटि के कलाकारो द्वारा अपना ली जाती है और वे उसको सजा-सवार कर एक स्तर पर स्थापित कर देते हैं तो वह शास्त्रीय रूप धारण कर लेती है, उसी दशा मे वह लोक कला मात्र नही रह जाती। रास के लंबे जीवन काल मे उसे अपने रूप को सजाने और सवारने के ऐसे अनेक अवसर आये जिनके सूत्र प्राचीन वाङ्मय और लक्षण ग्रथो मे उपलब्ध रास के विवरणो मे खोजे जा सकते हैं, परतु हम यहा उनकी फिर चर्चा न करके केवल यह कहना चाहते हैं कि व्रज मे जब भक्तियुग मे रास का पुनर्गठन हुआ, तो उस समय रास की मूल परपरा जो नटो द्वारा सचालित थी यद्यपि रास रंगमच के निर्माताओ द्वारा आधार रूप मे गृहीत की गई, परतु उन्होने उस परपरा को सजा-सवार कर रास को

जिस रूप मे खडा किया उसका आधार भक्तिकालीन शास्त्रीय सगीत और शास्त्रीय नृत्य परपरा ही थी । स्वामी हरिदास जी जैसे अमर सगीतज्ञ और वल्लभ जैसे दरबारी नर्तक का इस सगीत परपरा और नृत्य परंपरा के निर्माण मे हाथ था । श्री नारायण भट्ट जी भी स्वय अपने युग के प्रसिद्ध सगीतज्ञ थे, यहा तक कि वे नारद जी के अवतार ही माने गये । ऐसी दशा मे उनके द्वारा सरक्षित मंच रास लोकमच न था ।

'गीतगोविन्द' के रास-वर्णन की विशेपता

भक्तियुग मे रास का जो शास्त्रीय रूप था हमारे विचार से 'गोविन्द-लीलामृतम्' के रास-वर्णन का वही आधार है । शृगार रस से परिपूर्ण यह प्राचीन ग्रथ गौडिया सप्रदाय की मान्यता के आधार पर रचा गया है जो अब तक सप्रदाय से इतर व्यक्तियो से गुप्त रखा जाता रहा था । उसे कुछ वर्ष हुए साहसपूर्वक बाबा कृष्णदास जी ने प्रकाशित कर दिया था। इस ग्रथ के प्रकाशन से जहा व्रज लोक जीवन की भक्ति-कालीन परपराओ पर प्रकाश पडा है वहा भक्तिकाल मे पुनर्गठित व्रज के रास का क्या रूप था उसकी एक सागोपाग झाकी भी सामने आई है। यद्यपि यह ग्रथ साप्रदायिक भावना के अनुरूप राधा-कृष्ण के क्रियाकलापो की एक दिन की एक काव्यात्मक दैनदिनी है, परन्तु इस ग्रथ के लेखक कृष्णदास कविराज गोस्वामी, व्रज के अणु-अणु और कण-कण मे ऐसे रमे हैं कि उन्होने इसमे व्रज-सस्कृति के जो चित्र यथास्थान उरेहे है, वे असाधारण हैं । यह ठीक है कि कविराज कृष्णदास जी के ये वर्णन अतिरजना-पूर्ण और काव्यगुणो मे ओतप्रोत है परन्तु हम पुन साग्रह कहना चाहते है कि उनका रास-वर्णन केवल कल्पना पर ही आधारित नही है वरन् वह तत्कालीन व्रज के रास रगमच के वास्तविक रूप का चित्राकन है । कविराज गोस्वामी को सगीत, रागो और तालो तथा नृत्य की पूरी परंपरा का ज्ञान था और इस ग्रथ के अतिम तीन अध्यायो मे उन्होने अपने उस ज्ञान के आधार पर राधा-कृष्ण के रास के मिस हमारे विचार से तत्कालीन व्रज की रास परपरा का ही विस्तृत वर्णन किया है ।

व्रज के वर्तमान नित्यरास के क्रम की इस 'गोविन्दलीलामृतम्' से तुलना करने पर यह 'गोविन्दलीलामृतम्' स्वय ही पुकार उठता है कि 'रास के असली रूप का मूल रहस्य मेरे मर्म मे छिपा है ।' यदि आज रास के मूल सास्कृतिक स्तर की खोज करनी हो अथवा रास का पुन प्राचीन भक्तियुग की परपरा के अनुसार पुनर्गठन करना हो तो इस सबके लिए हमारे मत से 'गोविन्द-लीलामृतम्' एक महत्वपूर्ण माध्यम है ।

'गोविन्दलीलामृतम्' के अनुसार रास

कविराज गोस्वामी का मत यह है कि भारत का प्राचीन हल्लीसक नृत्य व्रज के रास मे उसके एक अग के रूप मे गृहीत है। वे रास को हल्कीसक के अतिरिक्त भी अन्य कई तत्वो का सम्मिश्रण मानते है। उनके अनुसार रास का आरभ पहले प्रकृति के सुरम्य वातावरण मे वन विहार से होता है जिससे मन-स्थिति रास के वातावरण के अनुरूप हो जाय, उसके उपरात क्रमश: चक्रभ्रमण (मडलाकार) नृत्य, हल्लीसक नृत्य तथा इसके उपरात रास मे युग्म नृत्य होता है। युग्म नृत्य के उपरात ताडव, लास्य तथा इसके उपरात एकाकी नृत्य (कृष्ण का) होता है। सखियो द्वारा प्रवध गान, नृत्य, रति, परिहास और अत मे जलकेलि, ये रास के कृष्ण द्वारा निर्धारित अग है।[1] इस प्रकार रासमच हल्लीसक नृत्य को अपने मे एक अग के रूप मे ग्रहण करता है वहा साथ ही वह अपने साथ लास्य और ताडव की परपराओ तथा अन्य अनेक गायन-वादन की लोक परपराओ का भी समन्वय करता है।

इस रास के रूप की आज की रासमंचीय 'नित्यरास' परपरा से यदि तुलना की जाय तो मच पर पहले वृदावन की शोभा का वर्णन (वन-विहार) पुन. सखियो तथा राधा-कृष्ण की रासमत्रणा तदनतर मडल नृत्य तथा अन्य उन सभी नृत्य रूपो ही की, जो रास मे अपने भग्नावशेष रूप में प्राप्त होते है, विधिवत चर्चा 'गोविन्दलीलामृतम्' मे है। केवल जलक्रीडा वर्तमान रास मे उपेक्षित है क्योकि खुले मंच पर उसका आयोजन संभव था। ऐसी दशा मे रास का यह वर्णन वर्तमान रास रगमंच की नित्य-रास परपरा से अद्भुत साम्य रखता प्रतीत होता है।

कविराज ने इस ग्रथ के आरभ मे रास का स्वरूप वर्णन किया है इसके उपरात गोपियो की सम्मति लेकर कृष्ण के वन विहार का और व्रज की प्राकृतिक सुपमा का सुदर वर्णन है। इस वन विहार मे कृष्ण के वृदावन की प्रकृति से सूक्ष्म रागात्मक सवधो का सरस वर्णन है। यह वन विहार मे केवल विहार मात्र ही नही, इसमे सहगान का विशेप रूप से वर्णन है। श्रीकृष्ण वन भ्रमण मे प्रकृति (चन्द्रमा, लता आदि) को लक्ष्य करके जो पद, वर्ण, शब्द, स्वर, ताल लय, ग्राम, मूर्च्छना सहित गाते उसी गायन को ठीक उसी भाति सखिया शब्दो

१ सगणोऽरण्य विहृतिश्चक्रभ्रमण-नर्तनम्।
हल्लीसक युग्मनृत्य ताण्डव लास्यमेककम्। (६)
तत्प्रबन्धगानञ्च सनृत्य रतिनर्मणी।
जलखेले त्वमन्येष रासागानिव्यधात क्रमात् (७)
—गोविन्दलीलामृतम्, पृष्ठ ३३५

का थोडा हेरफेर करके इस प्रकार गा देती थी कि वह प्रिया-प्रियतम पर घटित होने लगता था। ऐसे अनेक काव्यात्मक उदाहरण कविराज ने श्लोको मे वर्णित किये हैं।[1]

कविराज ने इसके उपरात कृष्ण के वशीवट पर पहुच कर यमुना-दर्शन का तथा फिर गोपियो से छेडछाड करते यमुना पार जाने का और चक्र के आकार के एक तीन नेमियो पर घूमने वाले परिधि पर गोपियो के साथ खडे होकर नृत्यारभ का वर्णन किया है। इस चक्र पर गोपियो और कृष्ण के हल्लीसक नृत्य का रास के एक अग के रूप मे कविराज ने भव्य वर्णन किया है जो बडा चित्रमय है।[2]

इसके उपरात इस चक्र से उतर कर कृष्ण गोपियो सहित 'अनगोल्लास' पुलिन पर पहुंचते है। अध्याय २२ के श्लोक ७० से इस पुलिन पर रास का वर्णन है।

रास के इस वर्णन की विशेषता यह है कि एक ओर जहां वह रास के परपरागत रूप का वर्णन करता है वहा उसमे कवि प्रतिभा का पूर्णोत्कर्ष भी दर्शनीय है।

कृष्ण के गोपियो के साथ नृत्य और गायनो के वर्णन मे कवि ने अपने सगीत-शास्त्र के सूक्ष्म ज्ञान का स्थल-स्थल पर परिचय दिया है। इस वर्णन के अनुसार रास मे गाये जाने वाले मुख्य राग निम्न हैं :

रास के मुख्य राग

मल्हार, कर्णाटक, नट, सामकेदार, कामोद, भैरव, गान्धार, देशाग, वसंत और मालवराग जो कृष्ण और गोपियो ने गाये।

केवल गोपियो ने क्रमपूर्वक रास मे जो राग गाये वे थे गुज्जरी, रामकली, गौरी, आसावरी, गुणकली, तोडी, बिलावल, मंगल गुज्जरी, वराटिका, देशवराटिका, मागधी, कौशिकी, पाली, ललित, पटमजरी, सुभग व सिन्दुरा।[3]

रास के वाद्य

रास मे प्रयुक्त वाद्यो मे कविराज ने मृदग, डमरू, मडु, ममक, मुरली,

१. 'श्रीकृष्ण गोविन्दलीलामृतम्', श्लोक ३२ से ४५ तक, पृष्ठ ३४३-३४६

२ वही श्लोक, ५६ से ६८ तक, पृष्ठ ३४९-३५२

हमे श्री अनिल विश्वास जी ने बतलाया कि बगाल मे आज भी चक्र के ऊपर रास के प्रदर्शन की परपरा है। कविराज ने यह वर्णन शायद उसी प्रभाव से जोडा है।—लेखक

३. 'गोविन्दलीलामृतम्', अध्याय २२, श्लोक ८५-८७

पाविका, वंशी, मदिरा, करताल, विपची महती, वीणा, कच्छपी, करिनासिका स्वरमडलिका व रुद्र वीणा आदि का उल्लेख किया है।[1] हो सकता है कि स्वामी हरिदास जी जैसे गुणियो के समय मे उक्त वाद्यो मे से अधिकाश उस रास के प्रयोग मे आते हो, परतु अब यह स्थिति नही है। इनमे से कुछ वाद्य तो अब कदाचित अज्ञात भी हो गये हैं।

रास की नृत्य-मुद्राए

रास नृत्य मे प्रयुक्त मुद्राओ का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है कि नृत्य के समय सर्प के फन, हस की ग्रीवा, हस्तक (कच्छप आदि जंतुओ की भाति हस्तमुद्रा वनाना) आदि मुद्राओ का गोपियो ने प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त पताका (अगूठे को टेढा कर तर्जनी के मूल मे लगाना और अगुलियो को सीधा फैला देना), त्रिपताका (अगूठा व कनिष्ठा उगली के अग्रभाग को मिलाकर तथा शेष तीन उंगलियो को फैलाकर), हसास्य (हसमुख—यह मुद्रा तर्जनी, मध्या व अगूठे के अग्रभाग को मिलाकर बनाई जाती है), कर्तरी मुख (कैंची जैसी), शुकास्य (तोते के मुख जैसी), मृगशीर्ष (मृगशीश), सदश, खटकामुख, सूची मुख, अर्द्धचद्र, पद्मकोप, अहितुडक (नागफणि) आदि मुद्राओ का प्रयोग किया है।[2] आज भी रास नृत्यो मे हस्तमुद्राओ पर ही सर्वाधिक जोर है, परंतु उन मुद्राओ के रूप अब कुछ अस्पष्ट हो गये हैं। इस ग्रथ मे रास की मुद्राओ के नाम प्रथम वार ही हमारे देखने मे आये है।

रास नृत्य की ताले

नृत्यो मे साजो पर ३४ तालो का गोपियो ने प्रदर्शन किया। कुछ ने ध्रुवताल और मडताल और कुछ ने इनके ठीक विपरीत तालो का प्रयोग किया। रास मे इन तालो की नामावली कविराज ने यो गिनाई है—चचत्पुट चाचपुट, रूपक, सिहनदन, गजलीला, एकताल, नि:सारी, अडडक (आडताल) प्रतिमड, झम्प (झपताल) त्रिपुट, यदि नलकूबर, नुद्‌घट्ट, कुदृक, काकिलाख, उपाट्ट, दर्पण, राजकोलाहल, शचीप्रिय, रगविद्याधर, वादक, अनुकूल, ककण, श्रीरग, कन्दर्प, षट्‌पितापुत्रक, पार्वतीलोचन, राजचूडामणि, जयप्रिय, रतिलील त्रिभगी, चच्चरत, वारविक्रम।

लेखक का कहना है कि ये ताल भी अतीत, अनागत व सम भेद से विविध होते हैं। इन तालो को ग्रह सहित सभा, गोपुच्छिका व स्रोतोवहा नामक

१. 'गोविन्दलीलामृतम्', अध्याय २२, श्लोक ८६-९०
२. वही, श्लोक ९१-९२

तीन यतियो सहित एवं निश्शब्द व शब्दयुक्त दो भेदो सहित गोपियो ने वजाया। उन्होने इन तालो को वर्द्धमान और ह्रीयमान दोनो आवर्त एवम् मान सहित वजाया।[1]

रास के इस सामान्य वर्णन के उपरान्त २३वें अध्याय मे कविराज गोस्वामी ने रास के नृत्य गायन और उसके क्रम का सागोपाग वर्णन किया है, जिमकी विशेपता यह है कि वह लगभग व्रज मे विद्यमान रास रगमच के नित्यरास के क्रम मे एकदम मिलता-जुलता है। वर्तमान रास रगमच के अभिनेता और दर्शको की उपस्थिति का यदि वर्ग विभाजन किया जाय तो हम रास की उपस्थिति को तीन वर्गों मे वाटेंगे: (१) अभिनेता, (२) समाजी, (३) दर्शक। कविराज गोस्वामी ने भी अपने रास मे इन तीनो वर्गो की ही उपस्थिति की चर्चा की है। वे लिखते हैं:

"श्रीराधया नृत्यति कृष्णचन्द्रे, गायन्त्य आसन् ललितादयस्तदा।
चित्रादयोऽन्या किल तालधारिका, वृन्दादय. सम्यतया व्यवस्थिता॥

इस वर्णन मे राधा-कृष्ण के नृत्य के साथ गायन मे सलग्न गोपी अभिनेता वर्ग मे, तथा चित्रादि सखिया जो ताल देने वाली है समाजी वर्ग मे, तथा वृदा आदि सखिया जो दर्शक के रूप मे नृत्य-गान के गुण-दोषो की विवेचक हैं, प्रवुद्ध दर्शक वर्ग मे है।

श्लोक ४,५,६ मे कविराज ने रास के नृत्य का जो वर्णन किया है मानो वह ज्यो का त्यो व्रज के वर्तमान रास नृत्यो का ही वर्णन है। सर्वप्रथम सामूहिक मडलाकार नृत्य और गायन का लगभग वैसा ही वर्णन है जैसा आज के नित्यरास का क्रम है। इसमे साज भी वर्तमान रास जैसे ही है, जिनमे वीणा (अव सारगी या हारमोनियम) मृदंग (अव पखावज या तवला) झाझ और वशी वादन का ही उल्लेख है।

रास मे समूह नृत्य के वाद पक्तिवद्ध नृत्य का ठीक उसी रूप मे उल्लेख है जैसा आज भी रासमच पर मडलाकार नृत्य के उपरात होता है। वर्तमान रास मे प्रचलित 'पक्तिवद्ध नृत्य' के समान ही यहा भी 'पक्तिवद्ध' नृत्य का यह क्रम कृष्ण से ही आरभ होता है।[2] पक्ति से वाहर आते समय का परमलु है

१ 'गोविन्दलीलामृतम्', अध्याय २२, श्लोक ६३-१०१, पृ० ३५८-३५६
२. कृष्ण श्रीमान्मुहुरिट्ट समागत्य तासा म मध्या-
न्नानाताल क्रमवशतया चालयम् श्रीपदाब्जे।
धुन्वन् पाणी नटति निगदन्नित्थमानन्दयम्ता-
स्तता तत्थे दृगति दृगि त्थै दृक् तथै दृक तथै था।—वही, (६) अध्याय २३

त तत्ता तत्थै, द्रगति हक् तत्थै हक् तत्थै था

श्रीकृष्ण के पक्तिबद्ध नृत्य के परमलु का उल्लेख इस ग्रथ मे यो है :

थो दिक् दा दा किट किट कणझे थोक्कु थो दिक्कु आरे
झे द्रा झे द्रा किट किट धा झेंकु झे झेकु झें झेम्
थो दिक दा दा दृमि दृमि दृमि धाकाकु झें काकु झे दा
मागन्त्यैव नटति स हरिश्चारु-पाठ-प्रबन्धम् । (७)

कृष्ण के उपरात राधा के नूपुरो तथा आभूषणो के कलरव के साथ उनके पक्तिबद्ध नृत्य के लिए आगे बढने का वर्णन है .

राधा कृष्ण-द्युति धनचये चचलेव स्फुरन्ती ।
नृत्यन्तीत्थ गदति तथथै थै तथै थै तथै था। (८)

उनके नृत्य के परमलु का कथन इस प्रकार है :

धा धा दक् दक् चड चड निडन ण निडन ण निनं ना।
तृत्तक् तु तु गुड्ु गुड्ु गुड्ु धा द्रा गुड्ु द्रा गुड्ु द्राम् ।
थेक थेक धो धो किरिट किरिट द्रा दमि द्रा हमि द्रा
मामत्यैय महुरिह मुदा श्री मदाशा ननर्त (६)

इस पंक्तिबद्ध नृत्य मे राधा के उपरात ललिता और फिर विशाखा के नृत्य का वर्णन है। इसके उपरात अन्य गोपियो के नृत्य का उल्लेख है। उनके नृत्य के परमलु इस प्रकार है :

ललिता . थै थै थो थो तिगड तिगड थो तथै थो तथै ता ।
विशाखा : दृगिति दृगति दृक् थे थो तथो थो ।
अन्य गोपिया (१) थैया, तथैया ततथै तथैया
(२) थे, थे, थै, थे, थे, तथे, थे तथे था ।
(३) थैया थैया, तथ, तथ, थैया, थैया, थैया, तिगड तथैया ।

गोपियो के इस पक्तिबद्ध नृत्य के उपरात राधा कृष्ण के एक दूसरे की प्रशसा करते हुए युगल नृत्य का वर्णन है जिसका आवेग बढ जाने पर उसमे सब गोपियां सम्मिलित हो जाती है। इन गोपियो मे वे भी सम्मिलित है जो रास मे अब तक वाद्य बजा रही थी। अब आनदातिरेक मे वे हाथो मे साज उठाकर उन्हे बजाते हुए नृत्य करने लगी। इस प्रकार समूह नृत्य के साथ रास मे सामूहिक गायन के आरभ होने का वर्णन है।

इस नृत्य की उत्कृष्टता, उसमे ग्रीवा, हस्त, कठ और नयनो के सचा-

लन तथा मुद्राओ की सुकरता का तथा गायन की श्रेष्ठता का ग्रथकार ने वर्णन किया है। जो गोपिया रास के पद को ध्रुव नाल मे गाते हुए अतिम चरम सीमा तक ले गई, श्रीकृष्ण ने उन गोपियो का विशेष सम्मान किया।

हरिवंश पुराण की भाति इस रास मे भी राधा द्वारा छालिक्य नृत्य प्रगट करने का उल्लेख है। कभी चूक जाने पर कृष्ण के गायन की भूल को भी वह नयनो की सैन से सुधारती कही गई है। रास के अत मे इस ग्रथ मे राधा-कृष्ण और गोपियो के विभिन्न नृत्यो का उल्लेख करते हुए कविराज यहा तक कह देते हैं कि :

गीतं वाद्यञ्च नृत्य विधि शिव रचित यच्च वैकुण्ठलोके,
वल्लक्ष्मीकान्त लक्ष्मीचयनय-रचितं स्वेन यद्यत् प्रणीतम्।
अन्यागम्य यदाभिर्व्रजनवरललना—नृतकीभिश्च मृष्ट,
रासे कृष्णस्तदेतन्मुहुरिह कुतुकी सर्वमाभिर्प्यतानीत् ॥[1]

इस प्रकार कविराज गोस्वामी के इस रास-वर्णन से भक्तिकालीन रास की परपरा के उत्कर्ष विकास और निखार का सागोपाग रूप नेत्रो के समक्ष आता है। यदि हम वृदावन के इस रास-वर्णन को हरिवश पुराण के द्वारका क्षेत्र मे आयोजित छालिक्य गीत वाले यादवो के उत्सव से मिलायें तो काल-क्रम के इस लबे व्याघात के साथ-साथ वृदावन और द्वारका की सास्कृतिक दूरी भी इनमे नही दीखती। ये दोनो ही उत्सव एक ही सास्कृतिक और कलात्मक परंपरा की कडी प्रतीत होते है।

जहा भारतीय साहित्य की विभिन्न भाषाओ मे विभिन्न कवियो ने अनेक रूपो मे रास का वर्णन किया है वहा कविराज जैसे समर्थ व्यक्तित्व ने व्रज के भक्तिकालीन रास रगमच का सुदर चित्रण भी अपने ग्रथ मे कर दिया है।

सगीत

सगीत कला पर भी कृष्ण लीला का अक्षुण्ण प्रभाव है। उत्तर भारतीय सगीत तो पूरा व्रजभाषामय है ही, कर्नाटक सगीत मे भी कृष्ण की लीलाओ का गायन यथा समय होता है। जयदेव, चंडीदास, विद्यापति और सूरदास के गेय पद तो भावुको के कंठहार हैं ही, वगाल के कीर्तन, गुजरात के हवेली संगीत, तथा व्रज के समाज-सगीत जैसी सभी भक्ति सगीत परपराओ पर राधा-कृष्ण की अमिट छाप लगी हुई है। ध्रुपद, धमार, ख्याल और ठुमरी सभी मे

१ 'श्री गोविन्दलीलामृतम्', श्लोक २६, अध्याय २३

रासविहारी कृष्ण रमा हुआ है। राजदरबारो से लेकर कुटी तक रास वर्णन का गायन हमारे सगीतज्ञ और जनता समान रुचि से सदैव करते रहे है। रास का व्यापक प्रभाव हमारे लोक संगीत पर भी बहुत स्पष्ट है, अत इस सबध मे अधिक चर्चा अपेक्षित नही है।

मूर्तिकला

आक्राताओ के आक्रमणो से हमारी न जाने कितनी दुर्लभ कृतिया नष्ट हो गई हैं, कौन जानता है? लगता है भगवान कृष्ण की कृतियो पर आक्राताओ की अधिक वक्र दृष्टि रही, परतु प्राचीन कला के जो अवशेष खडित मूर्तियो के रूप मे उपलब्ध हैं वे परिमाण मे कम होते हुए भी यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि व्रज की रास लीलाओ से हमारे मूर्तिकार भी प्रेरणा लेते रहे हैं।

मथुरा के पुरातत्व सग्रहालय मे दूसरी शताब्दी का एक शिलापट्ट है जिसमे वसुदेव जी द्वारा कृष्ण को गोकुल ले जाने का दृश्य अकित है। यह सभवत. भगवान कृष्ण का सबसे प्राचीन चित्र है जो शिला पर चित्रित हुआ है और अभी भी उपलब्ध है। इसमे वसुदेव नवजात शिशु को एक सूप मे रखे हैं। जमुना का पूर्ण उभार टेढी रेखाओ द्वारा अकित किया गया है। बीच मे जलजतु भी चित्रित हुए हैं और पीछे नागराज कृष्ण की रक्षा करते हुए चलते दिखाये गये हैं।

इस शिलापट्ट के अतिरिक्त मथुरा सग्रहालय मे बाये हाथ पर गोवर्धन उठाये हुए भगवान कृष्ण की एक और मूर्ति है जिसके नीचे ग्वाल-बाल खडे हैं। कालियदमन की एक मूर्ति भी मथुरा के कस किले से प्राप्त हुई थी जो बहुत ही सुदर परतु अधिक टूटी हुई है। यह मूर्ति पाचवी शताब्दी की है। कालियदमन की मथुरा से प्राप्त एक गुप्तकालीन मूर्ति लखनऊ के सग्रहालय मे भी है। छठी शताब्दी की भी कई मूर्तिया मथुरा और उसके आस-पास मिली हैं। मथुरा से बाहर भी भगवान कृष्ण की मूर्तिया अनेक स्थलो पर प्राप्त हैं।

राजस्थान और मडोर नामक स्थान पर कई पुरानी कृष्णलीला की कलाकृतिया मिली हैं। आमेर सग्रहालय मे 'केशिवध' की मूर्ति है। बीकानेर के पास मिट्टी के सुदर खिलौनो मे भी कृष्ण-चरित का अकन हुआ मिला है। इनमे से एक पर दानलीला का सुदर चित्रण है। पूर्वी बगाल के पहाडपुर नामक स्थान पर भी मिट्टी की मूर्तिया मिली हैं। इनमे से एक मे कदम के नीचे कृष्ण बलराम धेनुक का बध करते दिखलाये गये है, दूसरी मे यमलार्जुन वृक्षो का उद्धार और तीसरी मे मुष्टक चारुण के साथ उनके युद्ध का दृश्य है। एक मूर्ति मे राधा और कृष्ण अत्यत आकर्षक मुद्रा मे खडे हैं। इस प्रकार की यहा और भी अनेक मूर्तिया मिली है जो चौथी-पाचवी शताब्दी की है। उडीसा

के भुवनेश्वर के लिंगराज मदिर मे दही बिलोती हुई जसोदा का माखन वाल-कृष्ण निकाल रहे हैं और नन्द विमुग्ध भाव से इस दृश्य को देख रहे है। यह मूर्ति ग्यारहवी शताब्दी की है। झासी के देवगढ मे भी गुप्तकालीन कृष्ण की व्रजलीलाओ की कई प्रतिमाएं हैं।

भगवान कृष्ण की लीलाओ का दक्षिण भारत मे भी पर्याप्त चित्रण हुआ है। वादामी के पहाडी किले पर पूतना-वध, शकट-भंजन, प्रलव, धेनुक, कस आदि के वध के अनेक चित्र उपलव्व हैं। ऐलोरा के कैलास मंदिर पर भी कृष्णलीला के कई दृश्य हैं।

भारत से वाहर भी जावा आदि द्वीपो मे कृष्णलीला का अकन उपलब्ध है। लगभग ये वही सव लीलाए है जो रास की लीलाओ की कथावस्तु का निर्माण करती हैं। ऐसी दशा मे यह मानना पडता है कि कृष्ण चरित को इस व्यापक प्रचार का माध्यम वनाने मे रास के मच ने अनोखी भूमिका सपादित की है, क्योकि द्वारकाधीश कृष्ण का अकन व्रजलीलाओ की तुलना मे नगण्य है।

चित्रकला

भारतीय कला मे ऐसे सहस्रो उल्लेखनीय चित्र है जिनमे रासलीलाओ की कथा अकित है। गुजराती, राजस्थानी, मुगल, कागड़ा, गुमेर, बसोली, गढवाली आदि सभी शैलियो मे ये चित्र पर्याप्त मात्रा मे अकित है। पुरी के जगन्नाथ मदिरो मे तथा व्रज के मदिरो मे तथा मथुरा के पोतराकुड की ढहती हुई दीवालो पर रास तथा राधा-कृष्ण की विविध रसभरी लीलाओ के अकन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं। कागड़ा शैली के कृष्णलीला के चित्र तो वेजोड ही हैं। प्राचीन कवियो के काव्य के आधार पर भी कृष्ण-लीला के चित्रो का काफी अंकन हुआ है। जयपुर मे कुवर सग्रामसिंह जी के सग्रहालय मे 'गीतगोविंदम्' की जो चित्रावली है उसमे रास के दो सुंदर चित्र है। राजपूत पेंटिंग्स मे रास समारोह का एक सुदर चित्र प्रकाशित है जिसमे समस्त वातावरण ही गोपीमय है। रास की भावना को साकार करने वाला यह एक अद्वितीय चित्र है जिसमे ऊपर से देवगण पुष्प-वर्षा कर रहे है। काशी के भारत कला भवन मे भी रास के सुदर चित्र मिलते हैं जिनमे से एक पर सखियो के नाम भी अकित है। राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली मे भगवान कृष्ण के रास से अंतर्धान होने का एक वहुत ही सुदर चित्र है, जिसमे शरद चद्र से देदीप्यमान यमुना के कूल पर हाथ फैलाये विह्वल गोपिया अपने कृष्ण को खोज रही है।

पर्दों और पिछवाइयो में

चित्रो के साथ-साथ पुराने पर्दों और पिछवाइयो मे भी कृष्णलीला और

रास के सुदर दृश्य उपलब्ध है। महाराज जयपुर के निजी सग्रह मे एक ऐसा ही अनोखा चित्र है। श्री जगन्नाथ अहिवासी के अनुसार यह प्राय दस हाथ लबा और छ.-सात हाथ ऊंचा अकन है। इसकी आकृतिया आदमकद है और दृश्य का सपुजन कुछ इस प्रकार हुआ है कि ऐसा लगता है मानो प्रत्यक्ष ही नयनो के समक्ष दृश्य उपस्थित है। इसमे बीच मे राधा-कृष्ण नृत्य कर रहे हैं और पार्श्वो मे सखिया गा रही है। नृत्य चित्र के रोम-रोम मे रम गया है।[1]

कपडे पर तूलिका द्वारा अकित और भी ऐसी अनेक पिछवाइया मिली हैं जो विविध रंगो से चित्रित है। इनमे रास नृत्य तथा दानलीला आदि के अंकन है।

एक सवा सौ वर्ष पुराने रूमाल पर आपस मे बाते करती हुई गोपिया जल भर कर लौटती चित्रित की गई हैं जिनके पास ही ग्वाल-बाल ऊधम कर रहे हैं। इसी रूमाल के दूसरी ओर काशीराम कवि का यह छद अकित है :

देखादेखी भई ते सकुचि सब छूटि गई,
मिटी कुल कानि कैसौ घूंघट कौ करिबौ।
लगी टकटकी जब मिटी धकधकी,
गति थकी मति छकी ऐसौ नेह कौ उधरिबौ।
चित्र के से काढे, दोऊ ठाडे रहे काशीराम,
नैक परवाह नही लोगन कौ लखिबौ।
वशी कौ बजैबौ, नटनागर कौ भूलि गयौ,
नागरि कौ भूलि गयौ गागरि कौ भरिबौ।

इस प्रकार रास के रगमच का ललित कलाओ पर व्यापक प्रभाव पडा है और उसने भारतीय सस्कृति के विकास मे महत्वपूर्ण भाग लिया है, यह इस मच की एक महत्वपूर्ण सास्कृतिक उपलब्धि है। भारतीय कला जगत और लोक-जीवन पर रास का व्यापक प्रभाव है।

१. रासलीला . एक परिचय, पृष्ठ ५६

८

रास रंगमंच की वर्तमान समस्याएं

ब्रज मंडल मे रास की गौरवपूर्ण परपरा रही है जिसके कारण रास को व्यवसाय के रूप मे भक्ति-युग से आज तक यहा के कुछ ब्राह्मण परिवार अपनाये हुए हैं। प्राचीन समय से (भक्ति-युग से) यह परपरा मुख्यत पैत्रिक है, परतु रासधारी परिवारो मे जब स्वरूप बनने लायक बालको का अभाव होता है तो वे दूसरे परिवारो के बालको को वेतन पर अपनी मंडलियो मे सम्मिलित करते आये हैं और जब ऐसे बालक रास के वातावरण मे बडे होते है तो उनमे से कुछ बाद मे अपनी भी रास मडली बना लेते हैं, क्योकि बड़े होने पर रास के वातावरण मे पले बालक प्रायः अन्य कामो मे कठिनाई से ही खप पाते है। इसीलिए ब्रज मे एक कहावत भी प्रचलित है कि "तागे कौ घोडा और रासधारी कौ छोरा, पीछे काऊ काम के नाय रहे।" बात यह है कि रास के वातावरण मे जो स्वतत्रता, श्रद्धा और यश बचपन से ही बालको को अनायास मिलता है वह बाद मे उन्हे श्रमसाध्य और परिश्रम के कार्यो के प्रति उदासीन बना देता है। इस भाति रास के वातावरण मे आरंभ से ही जो बालक परिस्थितिवश आ जाते है उनमे से अधिकाश फिर जीवन भर के लिए उसी से बध जाते हैं। यही क्रम रासधारियो की संख्या को भी बढाता रहता है।

इस समय भी रासधारियो की ब्रजक्षेत्र मे लगभग पचीस-तीस मंडलियां अवश्य है और इस व्यवसाय से लगभग पाच सौ व्यक्ति आज भी अपनी जीविका चलाते है, परतु रासधारियो के इस समूह मे केवल पाच-छ मडलिया ही ऐसी हैं जिन्हे हम आर्थिक दृष्टि से संपन्न कह सकते हैं और जिनकी ख्याति रास के क्षेत्र मे दूर-दूर तक है। शेष मडलिया केवल इसलिए चल रही है क्योकि उन्हे अपनी आजीविका के लिए रासमच के साथ सलग्न रहना आवश्यक होता है। ऐसी मडलिया आर्थिक कारण से विवश केवल परंपरा पालन करने के लिए ही रास करती हैं और किसी प्रकार अभावो मे भी अपने काम को चलाते रहने का उपक्रम करती रहती हैं। इन मडलियो का कला की दृष्टि से कोई *निर्धारित*

स्तर नही बन पाता, परतु रास के साथ जो धार्मिक भावना जुडी हुई है उसके फलस्वरूप धार्मिक व्यक्ति रास कराना भी एक पुण्य और धर्म का कार्य समझते है और धार्मिक व्यक्तियो की इसी भावना के बल पर जब ये मडलिया देशाटन को निकल जाती है तो अपना खर्च पूरा कर ही लेती हैं। कुछ रास मडलियो के साथ उनके स्वामी का व्यक्तिगत प्रभाव बहुत काम करता है। रासमच से बचपन से ही सलग्न रहने के कारण रासधारी अपनी कला से या व्यक्तित्व से कुछ व्यक्तियो पर अपना इतना प्रभाव स्थापित कर लेते हैं और ऐसे सबध बना लेते हैं कि वे उन्ही व्यक्ति विशेप के भक्त हो जाते है और ऐसे व्यक्ति जब उनकी कोई ऐसी परिचित मडली उनके नगर मे पहुच जाती है तो उनके रासो का आयोजन कराना और उन्हे अधिक लाभ कराना अपना कर्तव्य समझते है। ऐमी स्थिति मे उस मडली के रास का कलात्मक स्तर कैसा है यह प्रश्न गौण हो जाता है।

प्रसिद्ध मडलिया रास के क्षेत्र के प्रसिद्ध अभिनेता और गायको को अच्छा वेतन देकर अपने साथ सलग्न रखना पसद करती है। साधारण मडलिया भी अपने साथ कम से कम एक-दो ऐसे व्यक्तित्व अवश्य रखती है जो रास के कलात्मक स्तर को उभारने और लोक मानस को प्रभावित करने मे सिद्ध हो। प्राय. कृष्ण और राधा के स्वरूप प्रत्येक मडली अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार अच्छे से अच्छे रखने का यत्न करती हैं, और स्वामी लोग राधा-कृष्ण की भूमिका मे उतरने वाले बालको को अच्छे से अच्छा प्रशिक्षण देने का यत्न करते है। स्वामी लोगो की यह भी चेष्टा रहती है कि जहा तक संभव हो राधा-कृष्ण की भूमिका मे या तो अपने घर के बच्चो को ही उतारें या उन बच्चो को जिन पर उनका पूरा प्रभाव हो, परतु जब यह सभव नही होता तो उन्हे बाहर से भी स्वरूप लेने पडते है।

राम मंडलियो मे इसी कारण प्राय ऐसा होता रहता है कि एक स्वामी घोर परिश्रम करके जिन अभिनेताओ को प्रशिक्षित करता है वे ही जब बहुत अच्छा काम करने लगते है तो दूसरे स्वामी लोग उन अभिनेताओ के माता-पिता को अधिक आर्थिक प्रलोभन देकर उन्हे तोड लेते है। कभी-कभी तो अच्छे अभिनेताओ के माता-पिता हजारो रुपया अग्रिम लेकर अपने बच्चो को उन मंडलियो से हटा लेते है जहा वे तैयार होते है। जो व्यक्ति घोर श्रम करके बड़ी आशा से स्वरूपो को तैयार करता है उसे इससे घोर निराशा होती है और कभी-कभी तो जमी-जमाई प्रसिद्ध मडलिया भी इमी कारण से टूट जाती है। इसीलिए आजकल बहुत से स्वामी लोग अब उस तल्लीलता और मनोयोग से स्वरूपो को नही सिखाते जैसा श्रम वे पहले करते थे। उनका कहना है कि पहले लोग बात वाले होते थे। जो बच्चा जिस मडली मे होता था वह थोडे बहुत

प्रलोभन पर अपने गुरु को नही छोड़ता था, परतु अब आर्थिक विपमता का ऐसा युग आ गया है कि कोई भी व्यक्ति पैसे के लिए कभी भी आखो पर ठीकरी रख सकता है। अब किसी का विश्वास करना कठिन है। स्वभावत इसका प्रभाव रास के स्तर पर प्रतिकूल पड़ा है।

आज का युग धर्म प्रधान न रह कर अर्थ प्रधान हो गया है। उसने कला सस्कृति और साहित्य के क्षेत्र मे भारी उथल-पुथल कर दी है। रास रग-मंच भी इस परिवर्तित दृष्टिकोण से वहुत प्रभावित हुआ है। इन परिवर्तित परिस्थितियो ने वर्तमान रासमच के लिए अनेक समस्याए खड़ी कर दी हैं। आज की स्थिति रासारभ की पुरानी स्थिति से सर्वथा भिन्न है।

भक्ति-युग मे जब ब्रज के रास का पुनर्गठन हुआ था उस समय रास को सभी वर्गों से भारी प्रश्रय मिला। इसके कारण निम्नलिखित थे :

(१) उस समय पूरे देश मे सगुण-भक्ति के आदोलन के साथ रास वडी शीघ्रता से कृष्ण-भक्ति के प्रचार का माध्यम वनकर जन-जन तक आ पहुंचा था, क्योकि वह युग धार्मिकता का था। वड़े-बडे आचार्य रास के उदय से पूर्व एक भक्तिमय वातावरण का निर्माण कर चुके थे। आज वह वातावरण एकदम वदल गया है। आज की शिक्षा एक आस्थाहीन समाज की सृष्टि वड़े वेग से कर रही है।

(२) राम का कृष्णभक्ति के प्रचारक सभी संप्रदायो से निकट का संवंध था और रास के मच को खडा करने मे अपने युग के प्रमुख कृष्ण-भक्त आचार्यों और कलाकारो का सक्रिय योगदान था अत उन व्यक्तित्वो से प्रभा-वित सभी क्षेत्रो मे रास के प्रति स्वय श्रद्धा थी। आज रास के पीछे वह सक्रिय सवल नही है, रास को संचालित रखने का भार अब पूर्णत रासधारी समाज पर ही है। हा, वृदावन मे हरिवावा आदि एक-दो महात्मा ऐसे अवश्य थे जो रास रगमच मे रुचि रखते थे, परतु यह रुचि भी एक-दो मडलियो तक ही सीमित थी।

(३) भारत का जनमानस सदा से रागरग का प्रेमी रहा है। नृत्य और नाटको के प्रति यहा की जनता का मदा से झुकाव रहा है। जब रास का उदय हुआ उस समय सस्कृत नाटक लोप हो चुका था और जनता उसके विना अपने जीवन मे एक रिक्तता का अनुभव कर रही थी। उस रिक्तता को ब्रज के इस राम ने भर दिया था, परंतु आज सिनेमा इन लोकमचो को एक चुनौती वनकर आगे आ गया है और उसने प्राचीन सास्कृतिक आस्थाओ मे सस्ते रोमास का एक ऐसा विप घोल दिया है जिसने धीरे-धीरे प्राचीन सास्कृतिक मान्यताओ और परंपराओ को विगलित करने मे महत्वपूर्ण प्रभाव दिखलाया है।

(४) रास का रंगमच उस समय नये रूपरंग मे उभरा था। स्वामी

हरिदास, नारायण भट्ट गोस्वामी, वल्लभ नर्तक जैसे चोटी के व्यक्तियो ने इसको कलात्मक रूप दिया था और उस समय निश्चित रूप से इसका कलात्मक स्तर आज के परपरागत घिसे-पिटे लोक नाट्य रूप से बहुत उन्नत रहा होगा, जिससे कला के प्रेमियो का भी इसके प्रति आकर्षण रहा होगा। आज वह स्थिति बदल गई है। आज रास के दर्शको का भी एक वर्ग बन गया है जो भक्त या भावुक तो है परतु अधिकाशत. सास्कृतिक सुरुचि से सपन्न नही है।

(५) उस समय ब्रजभाषा जनता की सर्वमान्य काव्यभाषा थी। ब्रज के बाहर भी अधिकाश व्यक्ति ब्रजभाषा मे ही काव्य रचना करते थे। ब्रजभाषा उस समय राजदरबारो के साथ-साथ जनता की सर्वमान्य सास्कृतिक भाषा थी। ब्रजभाषा के भक्त-कवि उस समय धडाधड़ भक्ति-रस लिख रहे थे और उनमे से सामग्री चयन करके रास और रासलीलाओ को साहित्यिक रूप से विकसित और अलकृत करने की उस युग मे आज की अपेक्षा कही अधिक सुविधा थी, जिसका रासमच ने पूरा लाभ उठाया। आज ब्रजभाषा मे रचना का वह क्रम शिथिल है, जो रचना होती भी है उनका रास से सीधा सपर्क नही, अत· रासधारी आज स्वयं ही अपने लिए नवीन चीजे गढते है जिनमे से अधिकाश बडी हलकी होती हैं।

इसका फल यह हुआ कि पहले रास राजदरबारो, सेठ-साहूकारो, धर्म-पीठो, मदिरो और जनसाधारण मे सर्वत्र ही लोकप्रिय हो गया था परतु अब वह एक सीमित दर्शक समुदाय की वस्तु बनता जा रहा है। ज्यो-ज्यो समय बदला उसके साथ-साथ जन-मानस भी बदलता गया और रासधारियो का स्तर भी उसी के अनुसार बदलता गया। उस युग से आज तक के इस लबे समय मे रास के स्तर मे जो गिरावट आई है उसकी सकारण यहा सक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

रासमच के ह्रास के कारण

जिन लोगो ने प्रारभ काल मे रास को व्यवसाय के रूप मे अपनाया वे सब कलाकार थे। रास के निर्माताओ से उन्होने सीधा इसे ग्रहण किया, वे कलाकार उसमे पारंगत हो गये। रास के सस्थापको ने जिन कलाकारो को रास को व्यवसाय के रूप मे ग्रहण करने को प्रेरित किया उनकी कलात्मक क्षमताओ को भी परख कर ही उन्हे यह काम सौपा होगा जिसके फलस्वरूप निश्चय ही उस समय के रास को एक उच्चस्तरीय सास्कृतिक धरातल प्राप्त हुआ होगा परतु बाद मे जब रास वंश परपरागत रूप मे पिता से पुत्र को प्राप्त हुआ तो वह अपना स्तर बनाये नही रख सका, क्योकि यह आवश्यक नही कि एक कलाकार के पुत्र भी कलाकार ही हो। रासधारियो के वशजो मे जो योग्य व्यक्ति

थे, उन्होंने उसे उभारा परंतु जो अयोग्य थे वे उसकी गौरव-रक्षा नही कर सके। रास के इस स्तर की गिरावट के अनेक कारण है, उनमे से कुछ निम्न हैं :

(१) रास रंगमञ्च के अभिनेताओं को प्रशिक्षण देने की कभी कोई पक्की व्यवस्था नही हुई थी। रास का प्रशिक्षण पिता से पुत्र को या गुरु से शिष्य को प्राप्त होता रहा, परतु न तो यह आवश्यक था कि प्रत्येक पिता का पुत्र भी नृत्य, गायन और अभिनय मे अपने पिता जैसा ही प्रतिभासपन्न हो और न यही आवश्यक था कि कोई शिष्य अपने गुरु जैसा ही कुशल कलाकार हो। रास के क्षेत्र मे शिष्य का गुरु जैसा प्रवीण होना इसलिए भी आवश्यक नही था कि रास के लिए किसी व्यक्ति को अपना शिष्य बनाने के लिए कोई गुरु (रास मडली का स्वामी) केवल यही नही देखता कि उसका भावी शिष्य कितना प्रतिभा-सपन्न है या उसके कलात्मक विकास की क्या सभावना है। इन गुरु का सबसे पहला दृष्टिकोण यह रहता है कि जिस बालक को वे अपना शिष्य बनाकर रास मडली मे सम्मिलित कर रहे है वह पूर्ण रूप से उनके प्रभाव मे रह भी सकेगा या नही ? क्या वे उससे अधिक से अधिक आर्थिक लाभ ले सकेंगे ? रास के कोई भी संचालक उन बालको को मडली मे लेना पसद नही करते जो काम सीखने के बाद उनको छोड जाय। भला ऐसे किसी व्यक्ति पर निरर्थक श्रम करने को कौन तैयार होगा ? इसीलिए रास के लिए पात्रो का चुनाव न तो कभी केवल शुद्ध कलात्मक आधार पर हुआ और न उनका प्रशिक्षण ही वैज्ञानिक ढग से किया गया। फल यह हुआ कि शिष्य गुरुओ से उनका पूरा गुण कम अनुपात मे ही ग्रहण कर पाये। इसका फल क्या गायन, क्या नृत्य और क्या अभिनय, सभी पर धीरे-धीरे पडता गया और आज रास के नृत्य केवल नृत्याभास मात्र रह गये है। रास के गायक भी अधिकाशत. सगीत-शास्त्र से कोरे और साधारण कोटि के हैं। यदि धृष्टता के लिए हमे क्षमा किया जाय तो कहा जा सकता है कि उनमे से साठ प्रतिशत या तो बेसुरे हैं या बेताले हैं। जहा तक अभिनय की बात है अभिनय की कुछ परपरागत मुद्राओ को छोड़ कर भावाभि-व्यक्ति आदि गुण केवल कलाकारो की उनकी अपनी प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ के अनुसार ही रास मे विकसित होते देखे जाते हैं। रास मे आम तौर पर इस ओर अधिक ध्यान नही दिया जाता। आज रास के स्वामी भी अभिनय-शास्त्र के तत्त्वो से प्राय. अपरिचित ही है।

(२) रास रंगमंच की एक दूसरी व्यथा यह रही कि रास मे आरभ से ही अविवाहित छोटे बालको को स्वरूप बनाने की परंपरा रही है। इसका फल यह हुआ कि होश सभालने मे पूर्व ही रासधारी बच्चे अपने व्यवसाय के काम मे लग जाते हैं और उनकी उचित शिक्षा-दीक्षा प्राय नही हो पाती। ऐसी दशा मे इनका वह मानसिक विकास नही हो पाता जो कला के एक उच्च स्तर

को ग्रहण करने के लिए अपेक्षित भावभूमि का निर्माण कर सके। अधिकाश रासधारी या तो अपनी दौड़-धूप से थोड़ा बहुत अक्षर-ज्ञान मडली मे इसलिए कर लेते हैं कि लीलाएं याद करते-करते स्वयं उनकी एक सास्कृतिक पृष्ठभूमि बन जाती है परतु जो प्रतिभासंपन्न नही होते या सुस्त होते हैं वे बेचारे प्राय: अपढ भी रह जाते है। ऐसी दशा मे उनका वह सास्कृतिक विकास नही हो पाता जिसकी रासमंच को अपेक्षा है। अधिकाश मंडलियो के रास का एकमात्र आधार रूढिवाद ही रह जाता है। इस रूढिवाद का फल इस दृष्टि से रासमच के लिए बहुत हितकर हुआ है कि रासधारियो ने रास को एक पवित्र धरोहर मानकर उसके मूल स्वरूप को बाह्य प्रभावो से बचाने का स्तुत्य उपक्रम किया है, परतु इससे बडी हानि यह हुई है कि वे रास के कलात्मक व साम्कृतिक स्तर के ह्रास के माध्यम भी बने है। पीढ़ी दर पीढी चलने वाली रास की परंपरा मे इस कारण लगातार गिरावट आई है। बात यहा तक बढ गई है कि साहित्य का उच्चारण तक रास मे विकृत हो गया है। रासधारी कुछ शब्दो का तो एकदम ऐसे रूप में उच्चारण करने के अभ्यस्त हो गये हैं जो कानो को बहुत खलते है। उदाहरण के लिए सभी रासधारी 'सुकुमारी' शब्द को 'सकुमारी' या 'रसशेखर' को 'रसकेसर' बोलते है। प्राचीन वाणी साहित्य के शब्दो श्लोक और पक्तियो को भी कभी-कभी बडे विकृत रूप मे सुना जाता है। सस्कृत श्लोको के तो शुद्ध रूप कुछ इनी-गिनी मडलियो मे ही सुने जाते है।

रास को वर्तमान दशा

वर्तमान मे स्वयं रासधारियो ने भी यह अनुभव किया है कि रास का स्तर गिर गया है और उन्होन उसे अपने ढग से सुधारने के कुछ उपाय भी किये है जो निम्नलिखित हैं :

(१) रास के नृत्यो मे रासधारियो ने कथक नृत्य को महत्व देकर नित्यरास मे तथा लीलाओ मे यथास्थान कथक के टुकडे जोडे है। कुछ बड़ी मडलिया तो परपरागत नृत्यो को छोड़कर अब कथक नृत्यो पर ही जोर देने लगी है।

(२) मरे हुए पारसी रंगमच को अब रास मडलिया पुन जीवित करने मे लगी है। कंस के पात्र के अभिनय मे पारसी मच और उसकी वेशभूषा के साथ उसकी अभिनय पद्धति भी रास मडलियो ने अपना ली है। ब्रजभाषा छोड़ कर-कस का पात्र खडी बोली व उर्दू बोलने लगा है तथा कस के दरबार मे भी अब उर्दू की शेरोशायरी की धूम रहती है। कस का पुराना स्वरूप अब एकदम बदल गया है। उसका दरबार व दरबारी पारसी ढग अपनाने लगे है।

(३) नौटकी क्षेत्र के चौबोला, लंगडी लावनी जैसे छंद रास मे प्रमुखता

पाते जा रहे हैं। प्राचीन वाणियो की परपरागत वदिशें मूल मे पड़ती जा रही हैं। लोक-सगीत वढ रहा है।

(४) रास का खुला मच भी अब पारसी रंगमच का रूप ले गया है। वद आयताकार मच पर अब तरह-तरह के पर्दे लटकाये जा रहे है। बीच-बीच मे चमत्कार उत्पन्न करने के लिए झाकी बनाने पर विशेप ध्यान दिया जाने लगा है। रास मे विभिन्न पर्दे, प्लाईवोर्ड के कटिंग तथा पेंटिंग व सलमा-सितारे के द्वार सजाये जाने लगे है। तख्तो के द्वारा लबा-चौडा मंच बनाकर अब बड़ी मडलिया पुरानी नाटक कपनियो के समान रास तथा प्रदर्शन करती हैं और लबा काठ-कबाड व मचीय सामग्री लेकर यात्रा करती हैं।

(५) नायलोन, टेरीकॉट तथा स्टील के कपडो का प्रयोग रास की वेशभूषा मे प्रधान हो गया है। स्वरूपो की स्टील की चमकदार पोशाको के साथ स्टील के झमकदार पर्दे व झालरें रास की शोभा बनते जा रहे हैं। पुरानी सादगी समाप्त हो रही है।

इस प्रकार रास मे कला का जो ह्रास हुआ है उसे रासधारियो ने वाह्य तडक-भडक से ढकने का प्रयत्न किया है, जिसमे सामान्य वर्ग का दर्शक अवश्य सतुष्ट है परतु यह प्रवृत्ति रास को कहा ले जायेगी और उक्त परिवर्तन रास की स्थापना के मूल उद्देश्य की पूर्ति मे कहा तक साधक हैं यह एक चित-नीय और विचारणीय प्रश्न है ?

रास के वर्तमान दर्शक

इस समय मे रास के स्तर मे जो गिरावट आई है उसे सुधारने का प्रयत्न होना चाहिए, यह उस प्रवुद्ध दर्शक की माग है जो सुसस्कृत है और जिसकी कला और साहित्य मे अभिरुचि है तथा साथ ही उसकी धर्म या संस्कृति मे भी आस्था और निष्ठा है परतु यह वर्ग स्वय अपने मे इतना साधन-सपन्न नही है कि वह इस सास्कृतिक और कलात्मक पुनर्निर्माण मे सक्रिय रूप से अधिक कुछ कर सके। उसे रासधारियो का सहयोग प्राप्त नही क्योकि रास-धारियो ने आज अपने लिए जो दर्शक समाज बना रखा है वह उन दर्शको की रुचि और सीमाओ से बाहर आने की स्थिति मे नही है क्योकि आज वही वर्ग उनकी आर्थिक समस्याओ के हल करने और उन्हे चलते जाने की शक्ति प्रदान करता है।

जो वर्ग रासधारियो के साथ है उसमे वे लोग सम्मिलित है जो अतिशय भावुक धार्मिक आस्था और रूढियो के उपासक हैं। उनके मत से जिस समय स्वरूप, मुकुट धारण कर सिहासन पर विराज जाते हैं उनका प्रत्येक कार्य-कलाप चाहे वह कुछ भी हो, सब भगवान की लीला है। उसमे दोष या कमी का

दर्शन भी महान् पातक है। इस वर्ग में ब्रज भक्त साधु सन्यासी, मारवाडी सेठ-ग्रामीण जनता और नगर की स्त्रिया प्रमुख है। गुलामी के दिनो मे देश मे संस्कृति का जो ह्रास हुआ है उसने रास-दर्शको के इस वर्ग के निर्माण तथा रास के स्तर-ह्रास मे भी महत्वपूर्ण योग दिया है।

इधर आधुनिक शिक्षा प्राप्त जो नवीन पीढी तैयार हुई है, उसकी न भारतीय साहित्य मे रुचि है न सास्कृतिक परंपराओ मे। पढे-लिखे बाबुओ का यह अनास्थावादी सिनेमा प्रेमी दल रास से सर्वथा उदासीन है।

ऐसी दशा मे तीसरे वर्ग के उक्त दर्शको का तो आज रास से कोई लेना-देना नही है, अत रास फिलहाल उनसे कोई आशा नही कर सकता, परतु यह आज के युग की माग है कि यदि रास को जीवित और जागृत रखना है तो कोई ऐसे उपाय अवश्य करने पडेगे, जिससे रास के दर्शको के प्रथम और द्वितीय वर्ग की रुचियो का समन्वय हो। तभी रास का स्वरूप और दर्शको का क्षेत्र व्यापक बन सकता है और कालातर मे वह तीसरे वर्ग को भी अपने आकर्षण क्षेत्र मे लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर ले तो इसमे आश्चर्य की कोई बात न होगी, क्योकि रास की प्रेमलीलाए सिनेमा की कथावस्तु से बहुत आकर्षक है,। साथ ही उनमे जो गरिमा, भारतीयता और आस्था की भावना है वह सिनेमा से कही अधिक मूल्यवान है, परंतु उसकी गरिमा को समझने का अवसर अभी हमारे नई पीढी के युवको को नही मिला है। हो सकता है कि राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ हमारे युवको की रुचियो का रुझान भी दिशा परिवर्तन करे और तब रासमंच विकसित होकर उनके लिए भी आकर्षण केंद्र बन जाय, परतु यह सब आगे की बात है। इस समय तो समस्या यह है कि रास को प्रबुद्ध सास्कृतिक रुचि-सपन्न व्यक्तियो के आकर्षण का केन्द्र कैसे बनाया जाय ? यदि रास कोई ऐसा रूप ले सका तो उसका आकर्षण स्वाभाविक रूप से बढ जायेगा और तब राम को भगवान की लीला मानने वाला दर्शक भी उसके इस विकसित रूप के प्रति अवश्य आस्थावान हो सकेगा, परंतु अभी तो रास का दर्शक अपनी रूढि-वादिता के कारण रास के स्तर को उठाने मे एक बाधा का ही कार्य करेगा और ऐसी दशा मे अपने दर्शको को अप्रसन्न करके रासधारी सामूहिक रूप से रास के विकास के काम मे सहयोग करेंगे, ऐसी आशा नही की जा सकती। इस भाति मूल समस्या रास को उसके वर्तमान घेरे से निकालकर एक सास्कृतिक और कलात्मक स्तर प्रदान करने की है। इसी दृष्टि से अब तक कई बार रास के सास्कृतिक आधार पर पुनर्गठित करने के प्रयत्न हुए हैं परतु वे मूलतः उक्त कारणो या अर्थाभाव के कारण सफल नही हो सके। इस बात को पूरी तरह स्पष्ट करने के लिए हम, अब तक इस सबंध मे जो प्रयत्न हुए हैं उनकी संक्षिप्त चर्चा कर देना यहा उचित समझते है।

रासमच के पुनर्गठन के लिए किये गये प्रयत्न

अव से लगभग ७० वर्ष पूर्व की वात है सवसे पहले दतिया नरेश के हृदय मे एक सुसगठित उच्चकोटि की रासमडली गठित करने की इच्छा जाग्रत हुई थी। उन्होने कई प्रमुख रासधारियो को दतिया बुलाकर मासिक वृत्ति पर रखा कि वे राम के स्वरूपो को सुंदर ढग से प्रशिक्षित करके दतिया मे एक स्थायी रासमडली का सचालन करें। खेद है कि वडे-वडे रासधारी पारस्परिक प्रतिद्वद्विता के कारण साथ मिलकर यह काम नही कर सके। कुछ तो वहा गये ही नही, जो गये वे जल्दी ही लौट आये या वेतन लेने के अतिरिक्त उन्होने रचनात्मक काम मे रुचि नही ली और यह प्रयास असफल हो गया।

अपने हाथरस अधिवेशन (सन् १९५२-५३) मे व्रज साहित्य मडल ने रास के पुनर्गठन की समस्या पर विस्तार से विचार-विमर्श किया। हाथरस सम्मेलन मे मडल ने इसी उद्देश्य से एक नाट्य परिपद् की स्थापना भी की थी। इस नाट्य परिपद् ने रास के व्यावसायिक मच से इतर कलाकारो की सहायता से सूर जयती पर सूर के निधन-स्थल पारासौली मे एक 'उद्धव-गोपी सवाद' लीला भी एक वार वडी सफलतापूर्वक की, परतु इस नाट्य परिपद् के सचालक श्री गोपालदत्त जी शर्मा के मथुरा छोडकर वम्वई चले जाने के उपरात यह सस्था भी कोई उल्लेखनीय कार्य नही कर पाई और वह समाप्त हो गई।

इसके वाद सन् १९६० ई० मे सेठ गोविन्ददास जी का ध्यान पुन इस ओर आकर्पित हुआ। हमने उस समय एक सास्कृतिक व्रजयात्रा की योजना तैयार की और यह निश्चय हुआ कि इस सास्कृतिक यात्रा के साथ एक सुप्रशिक्षित रासमंडली भी तैयार की जाय। उसके लिए व्रज साहित्य मंडल के तत्वावधान मे सेठ जी द्वारा एकत्रित आर्थिक सहायता से यह काम पुन. प्रारभ हुआ। श्रीमती रत्नप्रभा जी के सहयोग से मथुरा के खडेलवाल विद्यालय की वालिकाएँ एकत्रित की गई और दो वालक मथुरा से लेकर एक रासमडली गठित की गई। श्री लाडिलीशरण जी रासधारी मडली के प्रशिक्षक नियुक्त किये गये। इस मंडली ने चार-पाच सुदर लीलाए तैयार भी की, परंतु वह काम तक भी स्थगित करना पडा। उसके कारण निम्न थे :

(१) जिस सास्कृतिक व्रजयात्रा के लिए यह मंडली तैयार की गई थी, वह यात्रा ही कुछ विशेप कारणो से स्थगित हो गई। ऐसी दशा मे मडली के कार्यकर्ताओ का उत्साह भंग हो गया और यात्रा के कोष से प्राप्त आर्थिक सुविधा भी मिलनी वद हो गई जिससे प्रशिक्षण का व्यय चल रहा था।

(२) व्रज के उन रासधारियो ने इस नवगठित मडली का विरोध करना आरभ कर दिया जो अव तक व्रजयात्रा करते रहे थे। उनके विरोध का मुख्य कारण यह था कि "रासमडली मे परपरा से वालक ही गोपियो का

अभिनय करते आये है, अतः बालको के स्थान पर बालिकाओ की भूमिका धर्म और मर्यादा के विरुद्ध है। हमारी ओर से जब यह तर्क दिया गया कि भागवत तथा अन्य सभी पुराणो मे ब्रजागना ही रास की अधिकारिणी हैं तब बालिकाओ के रास मे सम्मिलित हो जाने पर अनेक लौकिक समस्याओ और अपवादो की आशका व्यक्त की गई। फल यह हुआ कि यह प्रयत्न वही समाप्त हो गया।

इसके उपरात श्री जगदीशचन्द्र माथुर के यत्न से एक बार आकाशवाणी दिल्ली पर भी रासमच के लिए एक यूनिट की स्थापना का प्रयत्न हुआ। श्री लछमन स्वामी को आकाशवाणी में नियुक्त किया गया और कुछ रासधारी लोगो तथा दिल्ली की बालिकाओ के सहयोग से बडे उत्साह के साथ रास के पूर्वाभ्यासो और रिकार्डिंग का कार्यारंभ हुआ। सात-आठ लीलाए रेकार्ड भी हुई, परतु जैसा कि प्रायः सरकारी कार्यों मे होता है, इस यूनिट का सचालन ठीक हाथो मे न दिये जा सकने के कारण तथा श्री जगदीशचन्द्र माथुर के आकाशवाणी से स्थानातरित हो जाने के कारण यह कार्य भी बीच मे ही बद कर दिया गया और यह सरकारी योजना भी ठप्प हो गई। माथुर साहब की हार्दिक इच्छा थी कि दिल्ली आकाशवाणी पर वैतनिक कलाकारो की एक स्थायी रासमडली रहे जो रासलीलाओ का प्रसारण भी करे तथा समय-समय पर ग्रामीण विकास क्षेत्रो मे प्रदर्शन देकर वहा जनता का सास्कृतिक रजन भी करे। यदि यह योजना सफल हो जाती तो यह रासमच के लिए एक ऐतिहासिक कार्य होता, परतु दुर्भाग्य से यह नही हो पाया।

ब्रज कला केंद्र सन् १९६२ ई० मे स्थापित किया गया था। इस सस्था का मुख्य उद्देश्य ही विशेष रूप से ब्रज रगमच के लिए कार्य करना था। ऐसी दशा मे रास के सुसगठन और पुनर्गठन की ओर इस सस्था का ध्यान जाना आवश्यक था। ब्रज कला केंद्र की यह हार्दिक चेष्टा है कि रास को प्राचीन परपरा के अनुरूप सास्कृतिक स्तर पर पुनर्गठित किया जाय, परंतु जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह एक बहुत ही कठिन कार्य है। यह कार्य किस रूप मे किस स्तर पर किस पद्धति और किनके द्वारा प्रारभ किया जाय यह काफी पेचीदा मसला है।

समस्या को ऊपरी दृष्टि से देखने पर यही उचित लगता है कि जो रासधारी सैकडो वर्षो से इसी काम को करते चले आ रहे है उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति इस मच के विकास के लिए और कहा मिलेगे। इसमे कोई सदेह नही कि यदि रासधारी चाहे तो साधारण प्रयास से ही रास कही का कही पहुच सकता है, परतु यह हो नही पाता, क्योकि रासधारी यदि ऐसा करना भी चाहे तो कर नही पाते। इसके कारण कई हैं, जैसे :

(१) रासधारी स्वयं अपनी मंडली को चलाने तथा उनके और अपने आर्थिक पक्ष को सतुलित रखने मे ही इतना श्रम और शक्ति लगाने को वाध्य हैं कि उससे आगे वढ कर न तो वे कुछ और सोच ही पाते हैं और न उनमे ऐसा करने की सामर्थ्य ही जुट पाती है।

(२) रासधारी जितना जानते है उसके अनुसार तो वे काम करते ही हैं। इससे अधिक सिखाने के लिए उन्हे स्वय प्रशिक्षण की आवश्यकता है, परतु यह प्रशिक्षण भी वडा कठिन है, क्योकि :

(अ) सभी रास मडलिया प्राय: अपनी आजीविका की चिता मे (कोई कही और कोई कही) घूमती रहती है। ऐसी घुमक्कड स्थिति मे किसी एक स्थान पर नियमित ढग से उनका किसी प्रकार का नियमित प्रशिक्षण संभव नही है।

(आ) यदि रास मडली के कलाकारो को प्रशिक्षित करने के लिए रोका जाय तो उनके प्रशिक्षण व्यय के साथ उनके मासिक व्यय का प्रवध भी आवश्यक है। यह भारी व्यय वर्तमान स्थिति मे सरकारी स्तर पर ही संभव लगता है परतु ऐसा होने की भी वर्तमान स्थिति मे कोई सभावना नही प्रतीत होती।

(इ) यदि यह प्रशिक्षण आरभ किया भी जाय तो समस्या यह भी है कि प्रशिक्षक कहा से लाये जाय। रास नृत्य, रास के मचीय संगीत, अभिनय तथा व्रजभाषा साहित्य के ऐसे पडितो का भी तो अभाव है जो रासमच की पूरी परपरा के मर्म मे पैठे हुए हो। इस सवध मे पाठ्यक्रम भी निर्धारित करना कोई साधारण कार्य नही है।

(उ) रासधारी अधिकाश वहुत कम पढे-लिखे हैं। ऐसी दशा मे पहले उन्हे उस स्तर तक शिक्षा देना और विकसित करना आवश्यक होगा कि वह रास के कलात्मक स्वरूप को और प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम को ग्रहण करने मे समर्थ हो। साथ ही रासधारियो मे रूढियो के प्रति जो आग्रह है वह भी उन्हे उनकी सीमित परिधि से हटाने मे सहायक नही होगा।

(ए) इन सब कठिनाइयो को किसी प्रकार हल करके मान लीजिए कुछ लोग प्रशिक्षित भी कर दिये जायें तो क्या उन्हे परपरा से वधे रूढिवादी रासधारी आरभ मे अपनी मडलियो मे स्वीकार करने और अपने ढाचे मे परिवर्तन करने को तैयार होगे ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

(३) रास के साथ जो धार्मिकता जुडी है उसने आज संकीर्णता का रूप ले लिया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। हमने एक वहुत ही प्रतिष्ठित रासधारी से जिनकी मडली व्रज मे वडी नामी है, जव यह कहा कि आप लाइट, रूप-सज्जा आदि का प्रयोग रास मे करके इसमे अभी भी वहुत नाटकीयता ला सकते हैं, तो वे वोले, 'यह तो हम भी समझते हैं परतु कर नही सकते, क्योकि इससे वह साधु समाज असंतुष्ट हो जायेगा जो रासविहारी का भक्त

है । वे रास मे अधिक तडक-भडक बनाव-शृंगार तथा उछल-कूद के विरोधी है। उनके अनुसार इससे रास नाटक हो जायेगा और वह उनके भक्तिभाव के अनुकूल नही रहेगा ।'

ये सब ऐसी समस्याए है जो वर्तमान रास के कलाकारो के मार्ग की मुख्य बाधाए हैं और इनसे रास को सहज ही उबारा नही जा सकता । भक्ति-भाव ने जहा रास रंगमच को अब तक जीवित और जाग्रत रखा वहा वह आज उसके सास्कृतिक विकास मे एक बाधा भी है । रासधारी अपने दर्शक वर्ग को असतुष्ट करके किसी विकास का खतरा नही उठा सकते ।

ऐसी दशा मे उचित यही प्रतीत होता है कि अभी रास के रगमच को तो वह जिस रूप मे जैसे भी चल रहा है, वैसे ही चलने दिया जाय और स्वय कोई सस्था रास की इस परपरा पर कुछ ऐसे रासधारियो के सहयोग से, जो कुछ प्रगतिशील हो, रास की एक मडली खडी करे और बडी सावधानी से रास के सास्कृतिक स्वरूप को उभारे । यदि यह परीक्षण सफल हो गया तो वह रासधारियो के लिए एक नया आकर्षण प्रस्तुत करेगा और धीरे-धीरे स्वय रास-मच इस परपरा के साथ अपना समन्वय कर लेगा ।

अत ब्रज कला केंद्र चाहता है कि परीक्षण के रूप मे स्वय पहले एक रासमडली का गठन करे । यह मडली परपरागत शैली से रास के क्षेत्र मे परीक्षण करे और उनके प्रदर्शन करे, परतु इस योजना के कार्यान्वयन के सबध मे कुछ विचारणीय समस्याए और व्यावहारिक कठिनाइया हैं, जैसे :

(१) सबसे कठिन समस्या है रास की भूमिका मे उतरने वाली गोपिकाओ की । ब्रज क्षेत्र की बालिकाए जो अभिनय और संगीत का प्रारभिक ज्ञान रखती हो और जिनकी मचीय प्रदर्शनो मे रुचि हो, स्थायी रूप से रास को व्यवसाय के रूप मे ग्रहण करने को तैयार नही की जा सकी यद्यपि इस संबध मे काफी यत्न किये गये । जिन बालिकाओ की रास मे रुचि थी उन्हे भी उनके माता-पिताओ ने इस कार्य के लिए अनुमति नही दी । उनका विचार था कि ऐसा करने से बालिकाओ के विवाह मे व्यवधान खडा हो सकता है ।

(२) कुछ विचारको का यह भी मत है कि रासमच पर गोपियो की भूमिका मे लडकी उतरनी ही नही चाहिए । बगाल की यात्रा मे लडके इतनी सफलता से स्त्री पात्रो का अभिनय करते है कि उन्हे पहचानना भी कठिन होता है। उच्च प्रशिक्षण द्वारा हमे बालको को ही बालिकाओ की भूमिका के लिए तैयार करना चाहिए क्योकि :

(अ) पुरुष जितनी सफलता से और निस्सकोच रूप से नारी की भूमिका कर सकते है उतनी सफलता से नारी पुरुष की भूमिका नही कर सकती । नारी की भूमिका मे भी नारी संकोच और लज्जा के कारण उतनी सफल नही हो

पाती जितना कि पुरुप होता है।

(आ) वालिकाओ को रास मे रख लेने से हो सकता है कि इस समय काम चल जाय परतु कुछ समय वाद वडी हो जाने पर वे विवाहित होकर अपना नवीन जीवन आरंभ करने चली जायेंगी और तव उनका सव प्रशिक्षण व्यर्थ हो जायेगा। इस स्थिति मे मच के समक्ष सदैव ही नवीन वालिकाओ को प्रशिक्षित करने की समस्या वनी रहेगी और इससे मच की कठिनाइया वढ़ेंगी और रास का कलात्मक स्तर ऊचा नही उठ सकेगा।

(इ) स्त्री और पुरुषो को साथ-साथ मंच पर लाने के लिए और मडली मे नैतिकता के स्तर की रक्षा के लिए दुहरी आवास व्यवस्था आवश्यक होगी जिसमे व्यय वहुत अधिक होगा, आदि ।

(३) रास के पुनर्गठन की मुख्य समस्या यह है कि अव तक रास मे छोटे-छोटे वालक काम करते रहे हैं परंतु इतने छोटे वालको द्वारा रास को वह कलात्मक स्तर देना सभव नही, जिसकी आज अपेक्षा की जाती है। ऐसी दशा मे क्या रास मे किशोर अवस्था के कलाकारो को रखना ठीक होगा ? कुछ विचारको का मत है कि ऐसा करने से रास मे जो एक सहजता व स्वाभाविकता है वह नष्ट हो जायेगी।

(४) रास के नृत्यो का पुनर्गठन किस आधार पर हो यह भी विचारणीय है। रास के नृत्य वैसे कत्थक नृत्यो के अधिक निकट है, परंतु रासधारी रास के नृत्यो को कत्थक से भिन्न और स्वतंत्र मानते हैं। उनकी वात भी ठीक ही प्रतीत होती है, परतु रास के इन नृत्यो का शास्त्रीय आधार क्या है और वे किस नृत्य परंपरा के रूप हैं यह स्वय किसी रासधारी को भी पता नही है। रास नृत्तो की किस मुद्रा का वास्तविक अभिप्राय. क्या है यह भी रासधारी आज समझा सकने की स्थिति मे नही हैं। ऐसी दशा मे रास के इन नृत्यो को, जो केवल नृत्याभास रह गये है, किस आधार पर पुनर्गठित या विकसित किया जाय ?

(५) रास रगमच तीन ओर से खुला हो या चारो ओर से।

(६) रास के संगीत पर पिछले कुछ वर्षो मे जो लोक-सगीत, उर्दू गजलो तथा पारसी थियेटर का प्रभाव वढ गया है वह कहा तक ग्राह्य है ?

(७) रास ने अतीत मे व्रज के वाणी साहित्य को जनता के कानो मे निरतर गुजायमान रखकर उससे उसका सपर्क वनाये रखने मे महत्वपूर्ण कार्य किया है परतु अव व्रजभाषा का वातावरण न रहने से तथा सिनेमा के सस्ते और हल्के सगीत के प्रचार से तथा शिक्षा के स्तर के ह्रास के कारण आज व्रजभाषा का उक्त साहित्य जनता से दूर होता जा रहा है। साधारण स्तर का दर्शक अव इस वाणी-साहित्य के सौष्ठव को हृदयगम करने मे कठिनाई अनुभव

करता है। इसी कारण, अधिकांश मडलियो ने चलती लोकधुनो मे प्राचीन वाणी साहित्य का उल्था कर दिया है । दो-तीन ही मडलिया अब ऐसी हैं जो साहित्य की परंपरागत रचनाओ को अब भी रास मे पहले ही जितना महत्व देती है। अत समस्या यह हैं कि यदि रास का पुनर्गठन हो तो उसका साहित्यिक स्तर क्या हो ? यदि रास की प्राचीन परपरागत वाणियो को रास का आधार बनाया जाय तो उसका सास्कृतिक स्तर उभरेगा परतु वह आजकल के सामान्य दर्शको को कहा तक ग्राह्य होगा, यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या प्रबुद्ध समाज और जनसाधारण वर्ग की दृष्टि से रास के दो रूप खडे किये जाय ?

(८) रास की वेशभूषा मे मुसलमानी शासन और राजपूती पहनावे की छाप बहुत उभरी हुई है। वह कृष्णकालीन या प्राचीन वेशभूषा का प्रतिनिधित्व नही करती। क्या उसे इसी भाति रहने दिया जाय, अथवा उसमे परिवर्तन अपेक्षित है । यदि परिवर्तन हो तो किस प्रकार का हो ?

(९) आजकल माइक का प्रयोग तो रास मे रासधारी भी खुलकर करने लगे हैं परनु विजली ने वर्तमान युग मे खुले मच का जो आकर्षण बढाया है उससे रास अभी भी वचित है। क्या यह स्थिति ठीक है ?

ये सब ऐसी समस्याए है जिनका कदाचित कोई सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। इन समस्याओ या इन जैसी ही अन्य समस्याओ का वास्तविक हल तो बहुत विचारपूर्वक मचीय परीक्षणो से ही प्राप्त होगा। इन समस्याओ पर विचारपूर्वक परीक्षण हो और वे परीक्षण फिर प्रदर्शन के रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत किये जाय और उस पर जनमानस की प्रतिक्रिया का भली प्रकार अध्ययन और विश्लेषण करके इस मच को पुनर्गठित किया जाय यह एक महत्वपूर्ण सास्कृतिक आवश्यकता है।

परतु यह एक व्ययसाध्य और श्रमसाध्य कार्य हे जिसके साथ भारी कलात्मक साधनो की आवश्यकता होगी। लेकिन कुछ ऐसे भी काम है जिन्हे तत्काल करके रास के रूप को सभाला जा सकता है और यह कार्य रासधारी स्वय थोडी विशेष सावधानी और सास्कृतिक सुरुचि-सपन्नता से कर सकते हैं। ये कार्य निम्न है

(१) रास के वर्तमान नृत्यो मे यदि पात्र केवल इतना ही ध्यान रखे कि सवके हाथ, पावे, ग्रीवा आदि एकसाथ समवेत रूप मे गति लें तो उसका आकर्षण बहुत बढ सकता है।

(२) रास मे से बेसुरापन तथा बेतालापन दूर हो जाय। इसके लिए रास के पात्रो का अच्छा प्रशिक्षण आवश्यक है जो मडलियो मे ही हो सकता है।

(३) रास लीलाओ के शिथिल अश निकाल कर उन्हे अधिक गतिवान और प्राणवान बना दिया जाय तथा रास के बीच-बीच मे हास्य के नाम पर

कोई-कोई पात्र जो भोंडापन प्रगट कर देते है उसे सुधारा जाय।

(४) अभिनय और भावाभिव्यक्ति पर अधिक जोर दिया जाय और इस सबध मे मोटे-मोटे सिद्धात पात्रो को भली प्रकार वता दिए जाय।

(५) वेशभूषा के आकर्षण और उसकी स्वच्छता आदि पर अधिक ध्यान दिया जाय।

(६) शब्दो और पदो के शुद्ध उच्चारण पर विशेप ध्यान दिया जाय।

(७) रासलीलाओ मे देश-काल की मर्यादा का ध्यान रखा जाय और उसके संवादो को इस दृष्टि से सभाल दिया जाय।

ये सब ऐसे कार्य है जिन्हे रासमडलिया स्वय कर सकती हैं और इससे रास का आकर्षण काफी अशो मे बढ सकता है। बीच-बीच मे पात्र मच पर आने मे जब देरी करते है तब मंच सूना रहता है या समाजी अनावश्यक रूप से कीर्तन या गायन करने लगते हैं। यह क्रम भी बद होना चाहिए क्योकि इससे कथा की एकसूत्रता टूटती है। चलते कथानक मे कीर्तन उचित नही लगता।

ये सब तात्कालिक उपाय है जिनसे रास का रूप थोडा सभल सकता है, परतु मचीय विधा के रूप मे रास की इस प्राचीन परपरा को बिना क्षति पहुचाये आज के विकासमान थियेटर के साथ उसे खडा करने योग्य वनाना एक व्ययसाध्य, श्रमसाध्य और बुद्धिसाध्य कार्य है। यह तभी पूरा होगा जब कि रगकर्मी, ब्रज साहित्य के आचार्य, रासधारी समूह और कला के पारगत सभी मिलकर इस काम मे जुटें और भारत की इस प्राचीन परपरा को जीवित और जाग्रत वनायें। रास का स्तर उठ जाने पर रासधारियो की आर्थिक कठिनाई भी अवश्य सुलझेगी और तब रास नये ओज और तेज से पुनः भारतीय रगमंच पर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकेगा।

रास भारत के प्राचीनतम रगमचीय अवशेषो मे से है। ऐसी दशा मे रास का यह कार्य केवल ब्रज क्षेत्र का ही नही वरन् यह एक पुनीत राष्ट्रीय मंचीय कला की रक्षा और विकास का अनुष्ठान है जिसमे भारत सरकार, राज्य सरकारें और देश के कलाप्रेमी व श्री-सपन्न वर्ग का पूर्ण सहयोग होना परमावश्यक है।

□□□

अनुक्रमणिका

□□□